हिन्दी नाटकों की शिल्प-विधि

(सन् १९४७ तक, एकांकी को छोड़कर)

[इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फिल्० की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध]

लेखिका

(श्रीमती) गिरिजा सिंह, एम० ए०, एल० टी०

हिन्दी विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

(दिसम्बर) १९६७

भूमिका

'काव्येषु नाटकं रम्यम्' विद्वानों की इस उक्ति से नाट्य-रचना का महत्व स्वत: सिद्ध है। भारतवर्ष में ही नहीं संसार के अन्यान्य देशों में भी नाटक गौरवपूर्ण स्थान ग्रहण करते रहे हैं। भारतवर्ष में नाटक को दृश्य-काव्य के अन्तर्गत रखा गया है और उसमें काव्योपयुक्त सरसता की अपेक्षा की गई है। प्राचीन-काल में नाटक के इसी लक्ष्य को दृष्टिपथ में रखते हुए एक नाट्य-परम्परा स्थापित हो गई थी जो अत्यन्त समृद्ध एवं गौरवपूर्ण है। कालान्तर में नाट्य-रचना सम्बन्धी ग्रंथों का भी प्रणयन हुआ । इस दृष्टि से अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर भरतमुनि का स्थान अग्रगण्य है। प्राचीन भारत के जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल नाट्य-रचना सिद्धान्त निर्मित हुए और तदनुकूल रंगमंच की भी व्यवस्था हुई। प्राचीन नाटककारों ने रूपक के प्रमुख भेद नाटक की ही रचना नहीं की वरन् उसके (रूपक) अनेक भेदोपभेदों की रचना भी की। प्राचीन भारत का गौरव जबतक अक्षुण्ण बना रहा तब तक यह परम्परा भी पुष्ट होती रही। ऐतिहासिक गतिविधियों के अनुसार जब भारतीय जीवन ने नवीन परि-स्थितियों का सामना किया तो नाटक-रचना के क्षेत्र में भी ह्रास उत्पन्न हो गया और भारतीय इतिहास के मध्ययुग में इस्लामी सभ्यता और संस्कृति के साथ स्थापित हुए सम्पर्क के फलस्वरूप नाट्य-रचना को कोई प्रोत्साहन प्राप्त न हो सका। फलत: उसका विकास जैसा होना चाहिए वैसा न हो सका। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी में जब ऐतिहासिक गतिविधि ने फिर पलटा खाया और अंग्रेज़ी के माध्यम द्वारा योरोपीय सभ्यता और संस्कृति के साथ जो सम्पर्क स्थापित हुआ तो जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति नाट्य-रचना-क्षेत्र में भी प्रोत्साहन प्राप्त होना अनिवार्य हो गया। पश्चिम से जो नाट्य-परम्परा आई, वह प्रधानत:

इंगलैण्ड की एलिज़ाबेथ कालीन परम्परा थी । भारतवासियों ने उस नाट्य परम्परा का अध्ययन किया और फिर से नाट्य-रचना की ओर ध्यान दिया । समाज में नवशिक्षित भारतवासियों का प्राबल्य बढ़ता जा रहा था जिससे नाटक-रचना के प्राचीन-सिद्धान्तों का ही स्वीकार किया जाना सम्भव नहीं था । किन्तु साथही प्राचीन नाट्य-सिद्धान्तों की उपेक्षा भी न की जा सकती थी । फलत: प्राचीन और नवीन (अर्थात् पाश्चात्य) नाट्यरचना पद्धतियों का समन्वय आवश्यक हो गया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०—१८८५ ई०) ने अपने 'नाटक' (१८८३ ई०) नामक प्रबन्ध की रचना कर हिन्दी के नाटककारों का मार्ग प्रदर्शन किया । बहुत दिनों तक उनके दिखाए हुए मार्ग पर हिन्दी के नाटककार चलते रहे और नाटक रचना करते समय भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों पद्धतियों का अनुसरण करते रहे । धीरे धीरे पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति, अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन और पारसी कम्पनियों के अनुदिन बढ़ते हुए प्रभाव के कारण शिक्षित समुदाय की रुचि में परिवर्तन होता गया और भारतीय सिद्धान्त गौणस्थान प्राप्त करते गए । जयशंकर 'प्रसाद' (१८८९—१९३७ ई०) तक आते आते हिन्दी नाट्य साहित्य रचना पद्धति की दृष्टि से पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत काफी आ चुका था । यह कहना असंगत न होगा कि 'प्रसाद' के बाद पाश्चात्य पद्धति ही प्रमुख रूप में दृष्टिगोचर होती है । हिन्दी के अपने रंगमंच के अभाव ने भी हिन्दी नाट्य-रचना पद्धति को एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख करने में सहायता प्रदान की ।

ऐसी परिस्थिति में हिन्दी नाटकों की अपनी एक विशेष रचना पद्धति का विकास हुआ है जो भारतीय कम और पाश्चात्य अधिक है । इसलिए हिन्दी नाट्य साहित्य की अपनी शिल्प-विधि का अध्ययन करना आवश्यक समझा गया । अभी तक यह विषय विद्वानों का ध्यान आकर्षित न कर सका था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस प्रकार नाटक नामक प्रबन्ध की रचना कर हिन्दी को अपना स्वतंत्र लक्षण ग्रन्थ दिया था उस प्रकार का कोई दूसरा लक्षण ग्रन्थ भी देखने में नहीं आया । हिन्दी में नाट्य-रचना पद्धति सम्बन्धी जो लक्षण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, वे स्वल्पनीय हैं । वे या तो पाश्चात्य पद्धति का विवेचन

करते हैं अथवा केवल भारतीय पद्धति का ही । उदाहरण के लिए महावीरप्रसाद-द्विवेदी ने जो संक्षिप्त 'नाट्य शास्त्र' (१६२६ ई० चतुर्थ संस्करण) प्रकाशित किया वह प्राचीन रचना पद्धति पर ही प्रकाश डालता है । आगे चलकर डा० श्याम-सुन्दर दास तथा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने जो 'रूपक रहस्य' (१६३१ ई०) प्रकाशित किया उसमें भी प्राचीन नाट्य रचना पद्धति का ही विवेचन हुआ है । सेठ गोविन्ददास ने "नाट्यकला मीमांसा" (१६३५ ई०) में नाट्यकला से सम्बन्धित अपने मत व्यक्त किए हैं किन्तु वह पर्याप्त नहीं है । इस सम्बन्ध में और भी छोटे - छोटे ग्रन्थ देखने को मिलते हैं जिनमें केवल भारतीय अथवा केवल पाश्चात्य पद्धतियों का ही निरूपण हुआ है । पाश्चात्य आलोचना से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थों में अरस्तू तथा अन्य योरोपीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नाट्य-सिद्धान्तों का भी उल्लेख पाया जाता है किन्तु एक तो वह यथेष्ट नहीं है दूसरे उनसे हिन्दी की नाट्य रचना पद्धति पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता । सन् १६५१ ई० में प्रकाशित-प पण्डित सीताराम चतुर्वेदी कृत "अभिनवनाट्यशास्त्र' इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । उसमें भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है लेकिन इस ग्रन्थ से भी हिन्दी की नाट्य रचना पद्धति के सम्बन्ध में कोई विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं होता । कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद कोई ऐसा लक्षण ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जिसमें हिन्दी की अपनी नाट्य-रचना पद्धति पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया हो । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हिन्दी की अपनी इसी रचना-पद्धति का अध्ययन किया गया है और यह उसके विविध पक्षों पर प्रकाश डालने का सर्वप्रथम प्रयास है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के लिखते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर सन् १६५७ तक के नाटकों का अध्ययन किया गया है और नाटक रचना के भारतीय तथा पाश्चात्य — विविध सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए उनका विश्लेषण किया गया है । इस बात की भरसक चेष्टा भी की गई है कि हिन्दी नाटकों में नाटककारों ने जो भारतीय या पाश्चात्य सिद्धान्त या उनका समन्वित रूप सामने रखा है , उसे प्रकाश में लाया जाय । जहां तक हो सका है उसके सभी पक्षों का अध्ययन कर निष्कर्ष निकाले गए हैं और उपसंहार में अध्ययन का सार प्रस्तुत किया गया है । आशा है कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध से हिन्दी नाट्य-रचना-

पद्धति पर प्रकाश पड़ेगा ।

इस अनुसंधान-कार्य में मुझे जिन पुस्तकालयों से सामग्री-संचय में सहायता मिली है, वे निम्न हैं ——

१. इलाहाबाद युनिवर्सिटी पुस्तकालय

२. हिन्दी साहित्य सम्मेलन,संग्रहालय, प्रयाग

३. भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग

४. पब्लिक लाइब्रेरी, अल्फ्रेड पार्क,प्रयाग

५. नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

उपर्युक्त पुस्तकालयों से मैंने न केवल प्रधान मौलिक साहित्यिक नाटकों को ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया वरन् गौण मौलिक साहित्यिक नाटकों को भी प्रकाश में लाने से विरत नहीं हुई । हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि पर सूक्ष्म दृष्टि से अनुसंधान कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए प्रधान तथा अप्रधान मौलिक नाटकों का अध्ययन सहायक सिद्ध हुआ । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में तिथियाँ प्राय: ईसवी सन् के अनुसार हैं और जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है ।

जिन विद्वानों की कृतियों से मुझे सहायता प्राप्त हुई है उनके प्रति मैं अत्यन्त आभारी हूँ । साथ ही नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अधिकारिगण तथा कर्मचारियों को मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने मेरे अनुसंधान के निमित्त विशेष सुविधाएं प्रदान कीं । हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग, पब्लिक लाइब्रेरी,इलाहाबाद तथा इलाहाबाद युनिवर्सिटी एवं भारती भवन पुस्तकालय के अधिकारियों तथा कर्मचारियों के प्रति भी मैं उनके सहयोग के लिए सदा ऋणी रहूँगी ।

शोध-प्रबन्ध लिखते समय गुरुवर श्री डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम०ए०,डी०लि अध्यक्ष,हिन्दी विभाग इलाहाबाद युनिवर्सिटी के अमूल्य समय तथा परामर्श के लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिनके आदेश तथा निर्देश से यह साधना पूरी हुई । अन्त में मैं प्रस्तुत प्रबन्ध में सहयोग प्रदान करने वाले समस्त अग्रजों तथा अनुजों को शत-शत धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने इस कार्य के लिए अनुमति तथा अवकाश प्रदान कर सहयोग दिया है।

—— गिरिजा सिंह

विषय—तालिका

कथन (पाश्चात्य दृष्टि से) असाहस और नियत श्राव्य-संवादों के गुण-कथा को गतिदेने वाले कथोपकथन-चरित्र-चित्रण सम्बन्धी कथोपकथन-सामाजिक अवस्था सम्बन्धी कथोपकथन-विचारों और सिद्धान्तों से युक्त कथोपकथन-व्यंग्यपूर्ण संवाद-पद्यमय काव्यात्मक संवाद-आकाशभाषित-अश्राव्य कथोपकथन।

पृ० ३७४-४१३

अध्याय-१३ भाषा

भाषा-भारतीय आचार्यों के अनुसार नाटकों में भाषा प्रयोग-संबोधन शब्द-भारतीय शैली के आधार-भाषा के सम्बन्ध में पाश्चात्यदृष्टि भाषा के अंग-शब्द के प्रकार-भाषा कैसी हो-हिन्दी नाटकों की भाषा-ब्रजभाषा-संस्कृत भाषा का प्रयोग-तत्सम पदावली-देशज शब्दों का प्रयोग-अश्लील तथा भद्दे शब्द-खिचड़ी भाषा-भाषा दोष-यूरोपियन भाषाओं के तत्सम शब्द-उर्दू भाषा की तद्भव तथा तत्सम शब्दावली-अंग्रेजी भाषा के विकृत शब्द-सरलता-कथा के भावों को स्पष्ट करने की क्षमता-पात्रानुकूल भाषा-प्रवाहमयता-मुहावरेदार भाषा-परिष्कृत एवं प्रौढ़ भाषा-सूक्तियां और उद्धरण-सम्बोधन शब्द।

पृ० ४१४-४८४

अध्याय-१४ शैली

शैली के प्रकार-शब्द शक्तियां-शैली के गुण-पश्चिम में शैली का महत्त्व, शैली के प्रकार-भावात्मक शैली-दार्शनिक शैली-तर्क प्रधान शैली-कथात्मक शैली-भाषण शैली-शृंगारिक शैली-तुलनात्मक शैली आशीर्वादात्मक शैली-वर्णनात्मक शैली-कथात्मक शैली-हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली-लाक्षणिक शैली-प्रश्नोत्तर शैली-मिश्रित आदेशात्मक शैली-ओजपूर्ण शैली-आवेगपूर्ण शैली-व्याख्यात्मक शैली-विश्लेषणात्मक शैली-उपदेशात्मक शैली-सांकेतिक शैली-आलंकारिक शैली-[illegible] शैली-पारिभाषिक शब्दावली।
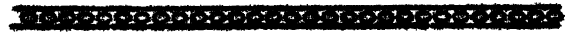
अध्याय — १

भारतीय नाट्य परंपरा
और
हिन्दी नाट्य साहित्य

अध्याय १

भारतीय नाट्य-परम्परा और हिन्दी नाट्य-साहित्य

भारतीय एवं योरोपीय विद्वानों ने भारतीय नाट्य-कला की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मत व्यक्त किये हैं। कुछ विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति में ग्रीक नाटकों के प्रभाव की ओर भी संकेत किया। उनकी धारणा है कि सिकन्दर महान् की भारत पर चढ़ाई (३२६ ई० पू०) के समय कुछ बड़े कलाकार भी साथ आए और भारत के सीमान्त देशों पर जहां ग्रीक शासन करते थे, उन्होंने ग्रीक थियेटर से हमारी सहायता की[१] किन्तु प्राचीन-तम भारतीय नाटकों का ग्रीक नाटकों से कोई मेल नहीं है। यद्यपि पर्दे के लिए `यवनिका` का प्रयोग `यवन` से समानता रखता है किन्तु संभावना इस बात की है कि पूरा भार-तीय रंगमंच उनके द्वारा अपना बना लिया गया हो।[२] मैकडानेल महोदय ने इस संबंध में अपनी सम्मति प्रकट की है कि ग्रीक सिद्धान्त मुख्यत: `मृच्छकटिक` पर आधारित है और भारतीय नाटकों से इसका कोई मेल नहीं।[३] यवनिका को लेकर कुछ विद्वानों ने भार-तीय नाट्यकला को यूनान से प्रेरित माना। इसका खण्डन स्वर्गीय प्रसाद ने अपने शब्दों में किया है -- कुछ लोगों का कहना है कि भारतवर्ष में `यवनिका` यवनों अर्थात् ग्रीकों से नाटकों में ली गई है, किन्तु मुझे यह शब्द शुद्ध रूप में व्यवहृत `जवनिका` भी मिला। अमरकोष में -- `प्रतिसीरास्यात तिरस्करिणी च सा` तथा हलायुध में ऊपरी काण्ड पर; स्याम प्रतिसीराजवनिका तिरस्करिणी` इसमें य से नहीं किन्तु `ज` से जवनिका का उल्लेख है। `जवनिका` से शीघ्रता का द्योतन होता है।`जव` का अर्थ वेग और

---

१. ए० ए० मैकडानेल : `इंडियाज् पास्ट` , १९५६, पृ० १००

२. वही, पृ० १०१-२

३. वही, पृ० १०१-२

त्वरा से है। तब जवनिका उस पट को कहते हैं जो शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके।" ....[१]

२. वास्तव में भारतीय नाट्य-परम्परा के सूत्रपात की निश्चित तिथि देना तो कठिन है किन्तु विभिन्न विद्वानों के मतों का अध्ययन करने के फलस्वरूप वह तीन हजार वर्ष से भी प्राचीन मानी जा सकती है। उसके जन्म के सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं। डा० दासगुप्त और डे महोदय ने वैदिक मंत्रों में नाटकीय तत्त्वों को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न किया किन्तु वे दूसरे ही क्षण यह अस्वीकार करते हुए पाये जाते हैं कि वैदिक काल में नाटक के तत्त्वों में पाये जाने पर भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है कि वास्तव में नाटक उस समय अपने मूल रूप में जाना जाता हो।[२] महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने नृत्य,संगीत और कविता को आदिकाल में एक दूसरे का पूरक कहा तथा नाटकीय कथावस्तु में संगीतात्मक अभिव्यक्ति से नाटक की सृष्टि बताई है किन्तु धीरे धीरे मनुष्य की अभिव्यक्ति की क्षमता के विकास के साथ ही तीनों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता विकसित कर ली तथा इसी विकास क्रम में नाटकों ने भी अपना स्वतंत्र रूप ग्रहण किया। राहुल जी ने आधुनिक नाटकों का आदिम रूप आज भी लोक नाटकों में देखा।[३] पिशेल ने भारतीय नाट्यकला का सम्बन्ध कठपुतलियों से जोड़ने का प्रयत्न किया तथा `सूत्रधार` और `स्थापक` शब्दों की उत्पत्ति कठपुतलियों के नृत्य से बताई[४]। पं०सीताराम चतुर्वेदी ने संगीत, कथा और अभिनय के संयोग से मनोविनोद और उपदेश के उद्देश्य से पर्वों और उत्सवों पर प्रयोग करने के लिए नाट्य की उत्पत्ति की बात कही[५]।

---

१. जयशंकर प्रसाद : `रंगमंच` हिन्दुस्तानी पत्रिका, १९३७, पृ० २४७

२. डा० एस०एन० दासगुप्त एण्ड एस०के० डे : `हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, खण्ड १, १९४७, यूनिवर्सिटी आफ कलकत्ता, पृ० ४६-४७

३. म० राहुल सांकृत्यायन :`हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास` षोडश भाग, प्र०सं०, ना०प्र०सभा, पृ० ४४८

४. पं० सीताराम चतुर्वेदी :` अभिनवनाट्यशास्त्र,` प्र०खण्ड, द्वि०सं०, १९६४, किताब महल,इलाहाबाद, पृ० ३८-४१

५. वही, १९६४, पृ० ४२

डा० श्यामसुन्दरदास ने मिस्रियों और यूनानियों की भांति भारतीय नाट्यकला का मूल भी धार्मिक माना तथा साहित्यिक विकास के अनुक्रम में पहले पद्य, तब गीतिकाव्य, तब महाकाव्य को बतलाया और बंगाल की यात्राओं, ब्रज की रासलीलाओं को प्राचीन नाटकों का अवशेष बताकर भारतीय नाट्यकला की प्राचीनता सिद्ध की। उन्होंने कहा कि ईसा से चार-पांच सौ वर्ष पहले यहां की नाट्यकला इतनी उन्नत हो चुकी थी कि इसके अनेक लक्षण ग्रन्थ भी बन गए।[१]

३. आचार्य भरत के अनुसार ब्रह्मा ने `ऋग्वेद` से पाठ्य अर्थात् संवाद, `सामवेद` से संगीत, `यजुर्वेद` से अभिनय, `अथर्ववेद` से रस के तत्त्वों को लेकर `नाट्य-वेद` का निर्माण किया।[२] नाटक की सृष्टि ब्रह्मा ने की और उसका पृथ्वी पर प्रचार आचार्य भरत द्वारा किया गया। संगीत, अभिनय, संवाद एवं नृत्य आदि नाटक के प्रमुख तत्त्व वेदों में अवश्य उपलब्ध होते हैं किन्तु यदि पूर्ण नाटक का अस्तित्व वेदों में पाया ही जाता तो पुन: पंचमवेद की रचना के लिए देवताओं का ब्रह्मा से इतना आग्रह क्यों होता। कुछ विद्वान् आलोचकों ने वैदिककाल की कला की उन्नति के सम्बन्ध में अपना दृढ़ विचार व्यक्त किया है।[३] कीथ के अनुसार महाकाव्यों के पठन-पाठन से नाटकों का सूत्रपात हुआ क्योंकि संस्कृत नाटक पद्य में हैं।[४] कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि वैदिक और पौराणिक काल के कवियों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए अपने संवाद में प्रश्नोत्तर शैली

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास : भारतेन्दु नाटकावली की प्रस्तावना, १९२७, प्र० सं०, पृ० ३९-४१

२. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। १७ ।।
—भरत : `नाट्यशास्त्र:`, प्रथम: अध्याय:, श्लोक १७

३. " A line in the Rig- Veda testifies to the fact that it was customary for girls to sing while engaged in the preparation of soma juices . So common was dancing among girls that in the vedic period even servant girls would attain a high stage of proficiency in the art."
—एच०एच० विल्सन, राघवन्, विद्याभूषण आदि : `दि थियेटर आफ द हिन्दूज़`, प्र० सं०, १९५५, पृ० २०६

४. ए०बी० कीथ: `संस्कृत ड्रामा,` रिप्रिन्ट १९५४, पृ० २७

का प्रयोग किया है। ऋग्वेद में कई संवाद सूक्त जैसे--पुरुरवा--उर्वशी संवाद, यम-यमी संवाद, इन्द्र-इन्द्राणी- वृषाकपि संवाद, सरमा-पणिस संवाद, अगस्त्य-लोपामुद्रा, इन्द्र-वामदेव संवाद आदि पाये जाते हैं।[१] निस्संदेह इन संवादसूक्तों में नाटकीय कथोपकथन के गुण प्राप्त होते हैं,।

४. वाल्मीकि रामायण में राम के राज्याभिषेक के अवसर पर अनेक प्रकार के उत्सव हुए थे, इसका वर्णन मिलता है। नटों, नर्तकों और गायकों के गानों और मनोहर वचनों की जहां वहां श्रुति मधुर वाणी सुनाई पड़ती थी, वहीं वहीं जनता सुन रही थी।[२] वाल्मीकि के इस कथन से रामायण-काल में नाटक मण्डलियों एवं नटों की कला की कल उन्नति का पता चलता है। `महाभारत` में प्रद्युम्न-विवाह का प्रकरण आया है,[३] जिसमें किस व्यक्ति ने किस पात्र का रूप बनाया, यह भी वर्णित है। वज्रनाभ नामक राक्षस को मारने की योजना में भद्रनट के साथ कई यादवों को भी नट के रूप में वज्रनाभ की नगरी में भेज दिया। नटमंडली में प्रद्युम्न नायक बने, गद पारिपार्श्वक और साम्ब नामक यादव विदूषक बना। वज्रनाभ के नगर वज्रपुर के उपनगर सुपुर में पहुंचकर नटों और नटियों ने रामायण नाटक रंगमंच पर अभिनीत किया। दानव मुग्ध हुए। वज्रनाभ ने अपने नगर में नटमंडली को आमंत्रित किया। `गंगावतरण` की कथा का अभिनय देवगान्धार राज्य में होने लगा। तत्पश्चात् `कौबेररम्भाभिसार` नाटक हुआ जिसमें शूर ने रावण का, साम्ब ने विदूषक का, और मनोवती ने रम्भा का अभिनय किया। दैत्यों ने प्रसन्न होकर द्रव्य लुटाये और उनकी स्त्रियों ने आभूषण। इसी घड़ी वज्रनाभ का वध किया गया और प्रद्युम्न का विवाह प्रभावती के साथ कर दिया गया।[४] इससे अनुमित होता है कि रामायण काल की अपेक्षा महाभारत काल में उन-

---

१. विल्सन्, राघवन आदि : `दि थियेटर आव द हिन्दूज्,` प्र० सं०, १९५५, पृ० २०८

२. नट नर्तक संघानां गायकानां च गायताम् ।
यतः कर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः ।।

पं० सीताराम चतुर्वेदी : `अभिनवनाट्यशास्त्र,` प्रथम खण्ड, द्वि० सं०, १९६४, किताब महल, लि०, इलाहाबाद, पृ० २०

३. `महाभारत`, ९१-९७ अध्याय, हरिवंश पर्व

४. वही।

रोत्तर नाटक विकास के पथ पर बहुत आगे बढ़ चुका था ।

५. दु:खवादी बौद्धों ने तो नाटक को प्रोत्साहन नहीं दिया, किन्तु बौद्ध-भिक्षुओं के लिए नाटक देखने का निषेध ही इस बात का प्रमाण है कि उस समय नाटकीय अभिनय वीतराग बौद्धभिक्षुओं को भी आकर्षित करने में समर्थ था । कालिदास के बहुत पहले महाभिक्षु अश्वघोष का सारिपुत्र प्रकरण जोगीमारा और सीताबैंगा की गुफाओं की नाट्यशाला में अभिनीत हुआ ।[१] जातक कथाओं में नट, नाटक, समाज और समाज-मण्डल का उल्लेख मिलता है । बौद्धनिकायों में भी हमें नट और नटगामिनी शब्द मिलते हैं ।[२] पं० सीताराम चतुर्वेदी ने बौद्धों के लिए नाटक को अपने धर्म-प्रचार का साधन बनाने तक की बात कही है । इसका प्रमाण अश्वघोष का `सारिपुत्रप्रकरण` नामक नौ अंकों का नाटक बताया है जिसमें बुद्ध के द्वारा मौदगल्यायन और सारिपुत्र के बौद्ध बनाने की कथा दी गई है । `ललित विस्तर`, `अवदान-जातक`, `सद्धर्म-पुण्डरीक` और `महावंश` आदि ग्रन्थों में भी विशेष पर्वों पर नाटकों के अभिनय होने का उल्लेख मिलता है ।[३]

६. तत्पश्चात् भास, कालिदास, भवभूति का समय आता है । भास के नाटक तो अनुपलब्ध थे किन्तु सन् १९१२ और १९१५ के मध्य टी० गनपत शास्त्री ने उक्त नाटककार के तेरह नाटकों को त्रिवेन्द्रम से खोज निकालने का कार्य किया ।[४] कालिदास और शूद्रक के भी अनेक प्रसिद्ध नाटकों का उल्लेख मिलता है । इन संस्कृत नाटककारों तक आकर नाट्यकला चरम उत्कर्ष को पहुंच गई । त्रोटक (उपरूपक), नाटिका, (उपरूपक) भाण, डिम, ईहामृग, प्रहसन, एकांकी आदि नाट्य-भेदों के उदाहरण संस्कृत नाट्य परम्परा में उपलब्ध हुए । अंकों की संख्या में विभिन्नता तथा नाटक की प्रवृत्ति के अनुसार विभिन्न

---

१. डा० थिओडोर ब्लाख की रिपोर्ट, आक्यालाजिकल सर्वे आफ इंडिया, १९०३-४

२. ब्वारा आर०सी० : `बुद्धिस्ट एविडेंस फार द अर्ली एग्जिस्टेंस आफ ड्रामा`, आई० एच०क्यू०, जून १९३१, खण्ड ७, सं० २, पृ० १९७

३. पं० सीताराम चतुर्वेदी :`अभिनवनाट्यशास्त्र`, पू० खण्ड, द्वि०सं०, १९६४, किताब महल,इलाहाबाद, पृ० ३०

४. एस०एन० दासगुप्त और एस०के० डे: `हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर`, प्रथम खण्ड, १९५७, यूनिवर्सिटी आव कलकत्ता, पृ० १०१

भेद किए गए । संस्कृत नाटकों में यथार्थ का अभाव तथा अतिमानवीय, अस्वाभाविक चरित्र-विधान पाया जाता है । प्राय: सभी नाटकों को दुखान्त होने से बचाने के लिए शाप आदि की कथा जोड़ दी गई तथा नायक का दु:खमय अन्त न होने देने के लिए कथा को तदनुरूप मोड़ देने का प्रयत्न हुआ । किन्तु अपवादस्वरूप भास के `कर्णभार` तथा `उरुभंग` के दुखान्त होने का उल्लेख भी दासगुप्त और डे महोदय ने अपनी पुस्तक में किया है ।[१] इसके अतिरिक्त हर्ष, विशाखदत्त,भट्टनारायण, राजशेखर, कृष्णमिश्र, क्षेमेश्वर, आदि अन्य अनेक संस्कृत के उल्लेखनीय नाटककारों के नाटक उपलब्ध हैं किन्तु अधिक विस्तार में जाना हमारा उद्देश्य नहीं है । संस्कृत के इन नाटककारों द्वारा प्राय: शृंगारपरक नाटक लिखे गए । किसी सत्कार्य को लेकर लिखे गए इन नाटकों में प्रत्यक्षत: युद्धों का अभाव है । वीरता का उल्लेख नायिका के योग्य नायक को सिद्ध करने मात्र के लिए हुआ । राजाओं और राजकुमारियों के प्रेम व्यवहार की चर्चा ही इनका प्रधान विषय रहा । नाटक का प्रौढ़ रूप भास के नाटकों से ही प्राप्त होने लगता है ।

अत: भारतीय नाट्य परम्परा की प्राचीनता पर किसी को संदेह का अवसर नहीं है क्योंकि रामायण-काल स्वयं बहुत प्राचीन है । यदि वेदों में नाटक के बिखरे तत्त्व उपलब्ध होते हैं तो रामायण काल में अभिनेता, अभिनेत्री, विदूषक आदि नाटक मंडलियों का एकत्रित रूप पूर्ण नाटक की स्मृति कराता है । ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व भरत का `नाट्यशास्त्र` प्रणीत होना स्वयं भारतीय नाटकों की प्राचीनता की पुष्टि करता है ।

दसवीं शताब्दी से देश पर विदेशी आक्रमण होने लगे । धीरे धीरे मुसलमानी शासन-काल की स्थापना हो गई । भारतीय इतिहास के मध्य-युग में नाटक रचना तो प्राय: बन्द सी हो गई थी क्योंकि इस्लाम ईश्वरीय सृष्टि के अनुकरण की अनुमति नहीं देता । वैसे भी अशान्त परिस्थितियों में नाट्यकला का ह्रास अवश्यम्भावी था । फलत: इस समय साहित्यिक नाटकों का अभाव रहा । इस्लाम धर्म से दूर भारतीय भूमि भाग में मध्ययुग (१३८१-१३८४) में भी नाटकों की रचना के संकेत पाये जाते हैं किन्तु उत्तरोत्तर नाट्यकला का ह्रास होता ही गया । उस समय कोई उल्लेखनीय नाटककार पैदा नहीं हुआ । लोक नाटकों के रूप में रूपक का केवल हीन रूप नाट्य परम्परा को बनाए हुए था । `रीति कवियों ने काव्यशास्त्रीय विवेचन तो किया किन्तु दृश्य-काव्य की ओर उनका ध्यान नहीं गया । नायक-नायिकाओं के भेद, रस आदि इनके प्रमुख विषय थे । फलस्वरूप मध्य युग में नाट्य परम्परा विशृंखल ही रही । सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम समय

---

१. एस०एन० दासगुप्त और एस० के० डे : `ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर` खण्ड १, १९४७ . यूनिवर्सिटी आव कलकत्ता, पृ० ११२ ।

में `नाटक` नाम से कुछ रचनाएं अवश्य मिलती हैं किन्तु कहां तक इनकी सार्थकता है, इसका विवेचन आगे किया गया है।

हिन्दी-नाट्य-परम्परा के विकास की दृष्टि से उसे तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है -- १. पूर्व भारतेन्दु युग, २. भारतेन्दु युग, ३. उत्तर भारतेन्दु युग।

पूर्व भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु से पूर्व नाटक नाम से प्राणचन्द चौहान का `रामायण महानाटक`, (१६१० ई०) हृदयराम का `हनुमन्नाटक` (१६२३ई०) बनारसीदास का `समयसार नाटक` (१६३६ ई०) नेवाज कवि कृत `शकुन्तला उपाख्यान` आदि रचनाएं मिलती हैं। इन रचनाओं में नाटकीयता का पर्याप्त अभाव है। इनके अतिरिक्त भागवत विचारधारा से प्रभावित कृष्णमिश्र के प्रतीकात्मक नाटक `प्रबोधचन्द्रोदय` का अनुवाद महाराज जसवन्त - सिंह द्वारा सत्रहवीं शताब्दी में किया गया।[१] मूलग्रन्थ के समान गद्य भाग गद्य में और पद्य भाग पद्य में अनूदित हुआ तथा गद्य और पद्य दोनों में ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया।[२] `प्रबोधचन्द्रोदय` का अनुवाद ब्रजवासीदास ने भी किया जिसका रचना-काल १८१६ वि० बताया जाता है।[३]

उन्नसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में लिखे गए महाराज विश्वनाथ कृत `आनन्द रघुनन्दन` की गणना पूर्णतया मौलिक नाटकों में हुई। इसका रचना-तिथि अनुपलब्ध है। अत: उनके जीवन-काल (१६६१-१७४०ई०) से रचनाकाल का अनुमान लगाया गया। इसमें नाटक

---

१. डा० सरोज अग्रवाल :`प्रबोध चन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा`, प्र०सं०, १६६२, हिन्दी साहित्य सम्मेलन,प्रयाग, पृ० २६८

२. वही, पृ० २२२

३. डा० दशरथ ओझा : `हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास` , द्वि०सं०, सन् ? , राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली - ६ , पृ० १४५

के सभी गुण पाये गए । गद्य तथा पद्य दोनों में बृजभाषा का प्रयोग हुआ । कहीं कहीं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अंग्रेजी, उर्दू आदि का समावेश भी किया गया । कथोपकथन में बृजभाषा गद्य का प्रांजल स्वरूप दिखाई पड़ा । अंग्रेजी का मिश्रण तो भाषा विधान में स्वच्छंद गति से हुआ —

ए किंग हितकारी, माई डियर ठहेरो आदि[1]

राजा लक्ष्मण सिंह कृत शकुन्तला (सन् १८६१) भाषा तथा नाटकीयता की दृष्टि से सफल नाटक है किन्तु यह अनुवाद है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने पिता बाबू गिरिधरदास (वास्तविक नाम गोपालचन्द्र) द्वारा लिखे गए `नहुष` (सन् १८४१) को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना ।[2] डा० वार्ष्णेय का मत है कि `नहुष` के साथ साथ `आनन्दरघुनन्दन` की गणना भी हिन्दी के प्रथम नाटकों में की जानी चाहिए । इसके लिए उन्होंने तर्क भी उपस्थित किए हैं। बात भी तर्कपूर्ण ही है क्योंकि बृजभाषा में लिखे गए `नहुष` को तो भारतेन्दु जी ने हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना किन्तु `आनन्द रघुनन्दन` जो पूर्णत: नाट्यकला के गुणों से समन्वित है, उसका प्रथम हिन्दी नाटक के रूप में उल्लेख तक नहीं किया । `नहुष` नाटक प्राय: बृजभाषा में है । `आनन्द रघुनन्दन` में अंक विभाजन संस्कृत प्रणाली के अनुसार हुआ । दृश्य परिवर्तन का समुचित संकेत नहीं है । अधिक अंश में नाट्यकला के गुणों से पूर्ण होते हुए भी `आनन्दरघुनन्दन` कई भाषाओं के मिश्रण से तैयार किया गया छन्दप्रधान ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। किन्तु यदि `नहुष` को हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक मानने की बात उठेगी तो यह ग्रन्थ कभी भी पीछे छूट जाने योग्य नहीं है ।

भारतेन्दु से पूर्व रंगमंचीय नाटक भी प्रचलित थे । पाश्चात्य ऑपेरा शैली में लिखा गया अमानत कृत `इन्दर सभा` (१८५३) गीति नाट्य है । लखनऊ के नवाब की

---

१. बृजरत्नदास : `भारतेन्दु नाटकावली` , द्वि०सं०, १९५६, रामनारायण लाल, इलाहाबाद,(भारतेन्दु के नाटक निबन्ध से) , पृ० ४१५

२. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :`आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका`, प्र०सं०, १९५२, पृ० ४१५-१६

वाजिदअलीशाह के दरबारी कवि अमानत ने नवाब की रुचि के अनुकूल इस नाटक में विलासी वातावरण का खूब प्रयोग किया । गजल और गानों से पूरा नाटक भर दिया । संगीत निर्देशक कार्यव्यापार की सूचना अथवा आने वाले पात्रों की सूचना देता चलता है। इसमें उर्दू की प्रधानता है। लखनऊ के कैसरबाग में रंगमंच पर इसका अभिनय हुआ था । भारतेन्दु से पूर्व रासलीलाओं से भी लोग अपना मनोरंजन कर रहे थे। हाथरस और राजपूताना के स्वांग, मथुरा और वृन्दावन की रासलीला तथा अवध की राम-लीला प्रसिद्ध है। इन लीलाओं का स्वतंत्र अस्तित्व आज भी है किन्तु आज के शिष्ट समाज की इसमें बिल्कुल रुचि नहीं दिखाई पड़ती ।

हिन्दी नाटक साहित्य की परम्परा के प्रवर्तन के विषय में विभिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं। एक वर्ग इसको बहुत प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है और दूसरा पूर्णतया इसका विरोध करते हुए साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही हिन्दी नाटकों का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी में बताता है। मिश्रबन्धुओं ने इसका संबंध विद्यापति से जोड़ रखा है[१] और डॉ० दशरथ ओझा ने भी इसकी प्राचीनता सिद्ध करने में सारी शक्ति लगा दी ।[२] डॉ० द्विवेदी ने अपना विशेष मत प्रकट किया कि जैन आचार्यों ने कुछ असाम्प्रदायिक नाटक लिखे ।[३] इसका विरोध करते हुए डा० राजबली पाण्डेय ने कहा कि 'नव्य हिन्दी में नाटकों का आविर्भाव पारंपरिक न होकर संस्कृत और पाश्चात्य नाटक साहित्य का प्रभाव है।'[४] डॉ० वार्ष्णेय ने भी हिन्दी नाट्य-साहित्य का उद्भव उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप माना ।[५] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तो गद्य साहित्य की परम्परा

---

१. मिश्रबन्धु : 'मिश्रबन्धु विनोद, पृ० १४१
२. डा० दशरथ ओझा :' हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास', द्वि०सं०, पृ० ६४
३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी :' हिन्दी साहित्य की भूमिका,' छठा सं०, १९५९, पृ० २३१-३२
४. डा० राजबली पाण्डेय :'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३१०
५. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :' आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०— १९०० ई०) तृतीय सं०, पृ० २०१

का प्रवर्तन ही नाटकों से माना है।[१] डा० श्यामसुन्दरदास,[२] विद्यावाचस्पति पं० रामदहिन मिश्र,[३] डा० सोमनाथ गुप्त[४] आदि द्वितीय मत के पोषक हैं।

वास्तव में उच्च कोटि के हिन्दी नाटक-साहित्य का उत्पत्तिकाल वह युग है जब अंग्रेजों ने भारतवर्ष का शासन सूत्र (१७५७ ई० के प्लासी-युद्ध के बाद) अपने हाथ में ले लिया। वैज्ञानिक आविष्कारों (जैसे रेल, तार, डाक, प्रेस आदि) और नवीन शिक्षा-प्रचार के फलस्वरूप भारतवासियों का पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से सम्पर्क स्थापित हुआ। उनमें विचार स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति बढ़ी, फलत: समाज में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ। हिन्दी के लिए नाट्य-साहित्य ऐसा ही एक नवीन रूप था। नवजागरण ने हमारा ध्यान प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक सम्पदा की ओर भी आकृष्ट किया जिसके फलस्वरूप संस्कृत नाटकों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। पाश्चात्य विद्वानों (विल्सन, कीथ आदि) द्वारा भी भारतीय नाट्य साहित्य का अध्ययन हुआ। विल्सन ने अंग्रेजी में और पिन्कॉट ने हिन्दी में `शकुन्तला` का अनुवाद कर डाला। सर्वप्रथम सर विलियम जोन्स द्वारा स्थापित बंगाल की एशियाटिक सोसायटी (१७८४) द्वारा एक ग्रंथमाला प्रकाशित करने की आयोजना बनाई गई जिससे लगभग छ: सौ संस्कृत और हिन्दी ग्रंथों का पता चला।[५] अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से भी भारतीयों को अंग्रेजी नाट्यसाहित्य से परिचित होने का अवसर प्राप्त हुआ। बंगाल में नाट्य-रचना का सर्वप्रथम प्रचार हुआ तत्पश्चात् अन्य स्थानों में भी उनका अनुकरण हुआ। अंग्रेजों ने रंगशालाओं की भी स्थापना की जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

अस्तु उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में नाटक की साहित्यिक चेतना का फिर से प्रादुर्भाव हुआ। साथ ही पुरानी नाट्यशास्त्रीय रूढ़ियों से मुक्त नवीन दृष्टि उत्पन्न

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल :`हिन्दी साहित्य का इतिहास` , संशोधित सं०, सं० २००२ का०ना०प्र० सभा, पृ० ३६३

२. डा० श्यामसुन्दरदास : भारतेन्दु नाटकावली की प्रस्तावना से , प्र० सं०, १९२७, पृ० ७०-७१

३. पं० रामदहिन मिश्र :`काव्यदर्पण`, द्वि०सं०, १९५१ ई०, पृ० २९८

४. डा० सोमनाथ गुप्त : `हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास,` तीसरा सं०,१९५१, पृ० ३७

५. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :`हिन्दी साहित्य का इतिहास`,छठा सं०,पृ० ५५

हुई जिसका सर्वप्रथम श्रेय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को ही प्राप्त होता है। उन्होंने नाटक के अतिरिक्त प्रहसन, भाण, नाटिका, गीतिरूपक, सट्टक आदि से हिन्दी नाट्य-साहित्य को समृद्ध किया। भारतेन्दु के अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में लाला श्रीनिवास दास (१८५१-१८८७ ई०), चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' (१८५२-१९२३) प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४ ई०), राधाकृष्ण दास (१८६५-१९०७ ई०) आदि ने नाटकों की रचना की। लाल खड्गबहादुर मल्ल, रत्नचन्द, लाला घनश्यामदास, राधाचरण गोस्वामी (१८५६-१९२५) आदि की रचनाओं से भी नाट्य साहित्य समृद्ध हुआ। उनकी नाट्यकला पर भारतेन्दु का पूर्ण प्रभाव था। भारतेन्दु युग में नाट्य रचना-पद्धति की दृष्टि से स्वयं भारतेन्दु कृत 'नाटक' (१८८३ ई०) नामक प्रबन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे न केवल तत्कालीन पूर्व-पश्चिम के समन्वय का परिचय प्राप्त होता है, वरन् आगे आने वाले नाट्य धर्म की ओर भी संकेत मिलता है। भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य शिल्प की जो विधियां भारतेन्दु को अनुकूल प्रतीत हुई, उन्होंने केवल उन्हें ही अपनाया। नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य के साथ दृश्य के अर्थ में गर्भांक का प्रयोग उनकी समन्वयवादी मनोवृत्ति की पुष्टि करता है। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप विषय तथा उद्देश्य नवीन हुए। पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राष्ट्रीय सभी के प्रकार रचे गए। भारतेन्दु का अनुकरण प्राय: सभी युगीन नाटककारों ने किया। सबने गद्य की भाषा खड़ी बोली तथा पद्य की ब्रज भाषा रखी। पात्रानुकूल भाषा-विधान के कारण नाटकों में बोलियों का समावेश हुआ। पाश्चात्य कामेडी के अनुकरण पर नाटकों में यथार्थवादी व्यंग्य तथा परिहास का आलोचनात्मक रूप दिखाई पड़ा। उस समय पारसी थियेटर से सामान्य जनता अपना मनोरंजन कर रही थी किन्तु परिष्कृत रुचि वाले विशिष्ट लोगों को वे नितान्त अरुचिकर हुए। काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में 'शकुन्तला' नाटक के अभिनय में धीरोदात्त नायक दुष्यन्त को खेमटेवालियों के समान कमर पर हाथ रखकर 'पतरी कमर बलखाय' गाते हुए नृत्य करने को प्रेरित किया जिसे देख कर डाक्टर थिबो और प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कह कर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।[१]

---

१. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु नाटकावली', द्वि० भाग, द्वि०सं०, सन् १९५६, रामनारायण लाल, इलाहाबाद ('नाटक' प्रबन्ध से) पृ० ४१६

मौलिक नाटकों की रचना के साथ-साथ भारतेन्दु-युग में अनेक अनूदित नाटक भी प्रकाशित हुए । राजा लक्ष्मण सिंह ने उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में विशुद्ध हिन्दी में अनूदित नाटक `शकुन्तला` (१८६३ ई०) हमारे समक्ष रखा । प्रचलित संस्कृत शब्दों के प्रयोग से इसकी भाषा में गाम्भीर्य दिखाई पड़ा । तत्पश्चात् भारतेन्दु का `विद्यासुन्दर` नामक छायानुवाद सन् १८६८ में प्रकाशित हुआ ।[1] उनके `भारत जननी` को रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु के एक मित्र का किया हुआ बंगभाषा में लिखित `भारत-माता` का अनुवाद बताया है जिसे उन्होंने सुधारते सुधारते फिर से लिख डाला ।` डा० सोमनाथ गुप्त इसे भारतेन्दु की पूर्णतः मौलिक कृति मानते हैं । दोनों आलोचकों के भ्रम का निवारण डा० श्यामसुन्दर दास ने भारतेन्दु के कथन को प्रकाशित करके किया — `भारत-जननी रूपक जो गत नवम्बर सन् १८७८ ई० से छपता है उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है । वह रूपक मेरा बनाया नहीं है । बंग भाषा में भारतमाता नामक जो रूपक है, वह उसी का अनुवाद है जो मेरे एक मित्र का किया हुआ है जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है । मैंने उसको शोधा है और जो अंश कुछ भी अयोग्य था, उसको बदल दिया है । कवि की कीर्ति का कुछ भी लोभ नहीं करना । अतएव यह प्रकाश करना मुझ पर आवश्यक हुआ है ।`[2] इनके अतिरिक्त भारतेन्दु ने अन्य कई रचनाओं का अनुवाद किया ।[3] भारतेन्दु द्वारा प्रतिपादित अनुवाद की परम्परा को चलाने में उनके समकालीन नाटककारों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया । लाला सीताराम बी०ए०, उपनाम `भूपकवि`[4] लाला शालिग्राम[5], देवदत्त तिवारी,[6] बिहार

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :`विद्यासुन्दर`, सं० १६३६, पृ० १ (भारतेन्दु ने उपक्रम में इसे छायानुवाद कहा है)

२. संपा०—डा० श्यामसुन्दरदास:`भारतेन्दु नाटकावली`, प्र० सं०, १६२७ ई०, इंडियन प्रेस, प्रयाग (भूमिका पृ० २)

३. पाखण्ड विडम्बना (१८७२, कृष्णमिश्र के `प्रबोध चन्द्रोदय` का तृतीय अंक), धनंजय-विजय `(१८७३, कवि कांचन कृत ), `कर्पूरमंजरी` (१८७५, राजशेखर कृत), मुद्राराक्षस (१८७८, विशाखदत्त कृत ), `रत्नावली` (१८६८, श्री हर्ष कृत)

४. महावीरचरित (१८६७), `उत्तररामचरित (१८६७), मालती माधव (१८६८) मालविकाग्निमित्र (१८६८) , `मृच्छकटिक` (१८६६), नागानन्द (१६००)

५. मालतीमाधव (१८८१)

६. उत्तररामचरित (१८७१)

में सम्बलपुर के दुबे नन्दलाल विश्वनाथ,[१] बालमुकुन्द गुप्त,[२] आदि उल्लेखनीय नाटककार हैं जिन्होंने अनुवादों के माध्यम से संस्कृत नाट्य-कला का परिचय प्राप्त किया तथा संस्कृत नाट्य-साहित्य की अमूल्य विधियाँ हिन्दी-पाठकों के सामने रखीं। इन नाटककारों ने भवभूति और कालिदास को विशेष रूप से अनुवाद के लिए चुना। इस प्रकार इन नाटककारों ने अनुवादों के द्वारा प्राचीन धन-धान्य गौरव तथा तत्कालीन संस्कृति और सभ्यता से हम लोगों का परिचय कराया ही, स्वयं भी नाट्य कला से परिचित हुए।

संस्कृत नाटकों के अनुवादों के अतिरिक्त बंगला नाटकों के हिन्दी अनुवाद भी कुछ नाटककारों द्वारा प्रस्तुत किये गए। क्योंकि तब तक बंगला में नाट्य रचना में विशेष उन्नति हो गई। बालकृष्ण भट्ट,[३] उदितनारायण लाल,[४] रामकृष्ण-वर्मा,[५] ब्रजनाथ शर्मा[६] आदि ने बंगला से अनूदित हिन्दी नाटक प्रकाशित किए।

इधर शैक्सपियर के नाटकों की चर्चा भारतेन्दु युग (१८५०-१९००) में खूब चल पड़ी थी क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा के साथ स्कूलों, कालेजों में शैक्सपियर के नाटक पढ़ाए जाते थे। शैक्सपियर के नाटकों से प्राचीन भारतीय नाटकों की समानता के कारण शिक्षित लोगों में उनका प्रचार होते भी देर न लगी।[७] सर्वप्रथम तोताराम वर्मा द्वारा एडिसन कृत कैटो (Cato) का अनुवाद प्रकाशित हुआ[८] किन्तु शैक्सपियर

---

१. उत्तररामचरित (१८८६), शकुन्तला (१८८८)

२. रत्नावली (१८९८)

३. पद्मावती (१८७८), शर्मिष्ठा (१८८०)

४. सती नाटक (१८८१), अनुमती (१८९५), १०. पद्मावती (१८८१)

५. पद्मावती (१८८१), वीरनारी (१८८१), कृष्णाकुमारी (१८९१)

६. क्या इसी को सभ्यता कहते हैं? (१८८४)

७. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', तृ० सं०, १९५४, हिन्दी-परिषद्, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, पृ० २३४

८. 'कैटो कृतान्त' (१८७९)

के नाटकों का सबसे अधिक प्रयोग अनुवाद के लिए इस युग में हुआ । भारतेन्दु[१], आ रत्नचंद,[२] पुरोहित गोपीनाथ,[३] 'प्रेमघन के भाई मथुराप्रसाद उपाध्याय[४] आदि ने द्रुत गति से अनुवाद कार्य किया । इससे नाटककार शेक्सपियर की नाट्य-कला के निकट तो पहुंचे ही, हिन्दी-पाठकों को भी उसकी रचनाओं के समीप पहुंचने का अवसर मिला । इन रचनाओं को भारतीय आवरण में देखकर लोगों की रुचि इस ओर बढ़ी । जबलपुर निवासिनी आर्या नामक महिला ने 'मर्चेण्ट आव वेनिस' का अविकल अनुवाद प्रस्तुत किया । उनके अनुवाद की भूमिका सर एडविन आर्नल्ड, सी०एस०आई० ने लिखी ।

भारतेन्दु-युग में पारसी रंगमंच का भी प्रचार हो चला था । पारसी थियेट्रिकल कम्पनी व्यवसायी रंगमंचीय कम्पनी कही गई । नारायणप्रसाद बेताब[५], कथावाचक[६] आगा हश्र 'काश्मीरी'[७], किशनचंद 'जेबा',[८] श्रीकृष्ण हसरत[९] आदि ने अनेक नाटक लिखे जिनका इन कम्पनियों ने बड़ी सजधज के साथ अभिनय किया । इनका आरंभ कोरस से होता था । कविता तथा गीतों की अनावश्यक भरमार तथा अनुप्रासमयी भाषा की प्रधानता थी । संवादों में आवेश के आधिक्य से स्वाभाविकता का अभाव पाया गया । ऊंची आवाज़ में बोले गए लंबे लंबे स्वगत-कथन रखे गए । शेक्सपियर के अनुकरण पर

---

१. 'दुर्लभबंधु' (१८८०, 'मर्चेण्ट आव वेनिस' का अनुवाद)

२. 'भ्रमजालक' (१८८७, 'कामेडी आव एरर्स' का अनुवाद)

३. 'मनभावन' (१८९६, 'ऐज़ यू लाइक इट' का अनुवाद), 'प्रेमलीला' (१८९७ 'रोमियो एण्ड जूलियट')

४. 'साहसेन्द्र साहस' (१८९३, 'मैकबेथ' का अनुवाद)

५. 'गोरखधंधा' (१९१२)

६. 'वीर अभिमन्यु' (१९१४), 'परिवर्तन' (१९२५), 'मशरिकी हूर' (१९२६) 'कृष्णावतार' (१९२६) आदि

७. 'शहीदेनस्म्रकी नाज' (१९०६) 'सफेद खून' (१९०६) आदि

८. 'शहीदसन्यासी' (१९२७) आदि

९. 'गंगावतरण' (१९२५ वि०सं०)

दोहरे कथानक की योजना की गई । अंक के लिए `ऐक्ट` का प्रयोग हुआ । सुधार-पक्ष निर्बल रहा । सिनेमा के बढ़ते हुए प्रभाव ने धीरे धीरे इनका अंत कर दिया । इनके अतिरिक्त कुछ अव्यवसायी कंपनियां भी पाई जाती हैं जिन्होंने अपेक्षाकृत सुरुचि के साथ नाट्य साहित्य के प्रसार में योग दिया । डॉ० सोमनाथ गुप्त ने १५ अगस्त १८८८ के ब्राह्मण पत्रिका से प्रताप नारायण मिश्र की टिप्पणी उद्धृत कर रखी है जिसमें प्रथम अव्यवसायी नाटक मंडली का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। राधाकृष्णदास के 'महाराणाप्रताप' नाटक अभिनीत होने की चर्चा भी इसमें हुई है।[१] दूसरी नागरी नाट्य कला मंडली सन् १९०९ में स्थापित हुई तथा स्कूलों विश्वविद्यालयों के रंगमंच पर भी साहित्यिक नाटक अभिनीत होते थे। माखनलाल चतुर्वेदी का `कृष्णार्जुन युद्ध` (१९१८) ऐसा ही अव्यवसायी नाटक है।

भारतेन्दु-युग में हिन्दी नाटकों का पतन—

भारतेन्दु से पूर्व नाटकों के अभाव का कारण तो प्रौढ़ गद्य का अभाव कहा जा सकता है किन्तु उस समय धूमधाम से चलने वाली नाट्य-परम्परा के आगे चलकर शिथिल पड़ जाने का कारण अभिनयशालाओं का अभाव और उपन्यासों की ओर बढ़ती हुई रुचि कहा जा सकता है। व्यवसायी नाटक कंपनियां हिन्दी के साहित्यिक नाटक खेलने को तैयार नहीं थीं अतः हिन्दी नाटक लिखने का उत्साह भी नहीं रहा।[२] अव्यवसायी नाटक मण्डलियों को किसी ओर से प्रोत्साहन नहीं मिला। भारतेन्दु के पश्चात् तथा प्रसाद (१८८९-१९३७) से पूर्व नाटकों की उल्लेखनीय प्रगतिनहीं हुई। मौलिक नाटक नहीं लिखे गए। अनुवादों की संख्या अवश्य बढ़ी। ~~पुनरुत्थान-काल (१९०७—३३)~~

---

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त : `हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास`, चौथा सं०, १९५८, हिन्दी भवन, इलाहाबाद, पृ० ११९—२०

२. पं० रामचन्द्र शुक्ल :` हिन्दी साहित्य का इतिहास,` परिवर्द्धित संस्करण, सं०२००२ पृ० ३६४।

पुनरुत्थान-काल (१९०१-'३३)

भारतेन्दु-युग के पश्चात् नाटकों के पतन काल की चर्चा पीछे हो चुकी है। इस समय ऐसे नाटककार की अपेक्षा थी जो अपने नाटकों द्वारा नाटक साहित्य को जीवन प्रदान करता तथा टूटी शृंखला को पुन: जोड़ देने का कार्य करता। ऐसे ही स समय में प्रसाद (१८८६-१९३७) का आविर्भाव हुआ। उन्होंने काव्य-जगत को कविता और नाट्य-जगत को नाटक देना आरम्भ कर दिया। प्रसाद-युग में ही प्रसाद के नाटकों द्वारा सर्वप्रथम नाटक को स्वस्थ, कलापूर्ण, साहित्यिक और स्वाभाविक रूप प्राप्त हुआ।[१] अत: इस युग के निर्माता का श्रेय इसी नाटककार को मिला। भारतेन्दु ने हिन्दी नाटक को जन्म दिया तथा प्रसाद ने नाट्य-कला, शैली, शिल्प आदि की दृष्टि से इसे विकसित किया। प्रसाद ने अपने नाटकों में नवीन भारत की नवीन आकांक्षाओं के अनुरूप प्राचीन भारतीय इतिहास से सामग्री लेकर विषय और रचना-पद्धति दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी नाट्य-साहित्य को समृद्ध बनाया। उनके नाटकों में रंगमंचीय परिस्थितियों की ओर ध्यान कम और साहित्यिक सौष्ठव की ओर ध्यान अधिक पाया जाता है। रचना पद्धति की दृष्टि से यद्यपि उन्होंने भारतीय तत्त्व बनाए रखा, तो भी उन्होंने पाश्चात्य पद्धति का अनुसरण ही अधिक किया। प्रसाद के सभी नाटक देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं के प्रति सजग हैं। चरित्रचित्रण में पाश्चात्य तथा भारतीय पद्धतियों का सुन्दर सामंजस्य दिखाई पड़ा। नाटकों में रस का परिपाक होते हुए भी उद्देश्य-पक्ष निर्बल नहीं है।

प्रसाद युग में ही बेचन शर्मा 'उग्र',[२] गोविन्दवल्लभ पन्त,[३] मैथिलीशरण गुप्त,[४]

---

१. देखिए जयशंकर प्रसाद : 'राज्यश्री' (१९१५) 'विशाख' (१९२१), 'अजातशत्रु' (१९२२), 'जनमेजय का नागयज्ञ' (१९२६), 'चन्द्रगुप्त' (१९३१), 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३), 'स्कंदगुप्त' (१९२८) आदि प्रसिद्ध रचनाएं।

२. 'महात्मा ईसा' (१९२२)

३. 'वरमाला' (१९२५), 'राजमुकुट' (१९३५)

४. 'तिलोत्तमा' (१९१६), 'चन्द्रहास' (१९१६), 'अनघ' (१९२५)

कामताप्रसाद गुरु,[१] ब्रजनन्दन सहाय,[२] गंगाप्रसाद श्रीवास्तव[३] आदि प्रसाद शैली का अनुकरण करनेवाले प्रमुख नाटककार हैं। इन नाटककारों ने भारतेन्दुकालीन नाट्य-शिल्प की त्रुटियों को अधिक अंश में दूर किया तथा नाटकों को नई दिशा दी। भाषा में उल्लेखनीय परिपक्वता आई। गंगाप्रसाद श्रीवास्तव के प्रहसनों में शिष्ट हास्य का अभाव रहा किन्तु सुदर्शन के प्रहसन में स्थिति-हास्य (humour of situation) पाया जाता है[४] जिससे शिष्ट तथा गंभीर व्यंग्य की सृष्टि हुई।

प्रसाद-युग में भी अनुवाद तथा रूपान्तर हुए। पं० सत्यनारायण,[५] मैथिलीशरण गुप्त,[६] हरदयालु सिंह,[७] प्रेमचन्द,[८] पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी[९] आदि ने भवभूति, कालिदास, हर्ष, शेक्सपियर, गाल्सवर्दी, मेटरलिंक आदि के नाटकों का हिन्दी रूपान्तर तथा अनुवाद प्रकाशित किए। इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओं का पोषण दिखाई पड़ा। पाश्चात्य नाट्य पद्धति पूर्णत: अपना लेने के कारण संघर्ष तथा चरित्र-चित्रण आदि की दृष्टि से नाटक अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए। शिवरामदास गुप्त,[१०] रूपनारायण पाण्डेय[११] आदि ने बंगला नाटकों का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

---

१. 'सुदर्शन' (१९३१)

२. 'उषांगिनी' (१९२५)

३. 'उलटफेर' (१९१८), 'दुमदार आदमी' (१९१९), 'मरदानी औरत' (१९२०) आदि।

४. 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' (१९२९)

५. 'मालती माधव' (१९१८)

६. 'स्वप्नवासवदत्ता' (१९२९ भास कृत)

७. 'नागानन्द' (१९३५ हर्ष कृत)

८. 'हड़ताल' (१९३०) 'न्याय' (१९३१), चांदी की डिबिया' (१९३१), क्रमश: गाल्सवर्दी कृत 'स्ट्राइक', 'जस्टिस', 'सिल्वर बौक्स' के अनुवाद।

९. 'प्रायश्चित' (१९१६), 'सिस्टर बीट्राइस' (मैटरलिंक कृत) का अनुवाद।

१०. 'मेरी आशा' (१९२८ 'परपारे' का छायानुवाद)

११. 'ताराबाई' (१९२९ ई० द्वितीय सं०), 'पाषाणी' (१९२० ई०), 'आहुति अथवा जयपाल' (१९२९)

प्रसादोत्तर काल (१६३३-४७)

प्रसाद-युग में प्राचीन को नवीन दृष्टि देने का प्रयत्न होने लगा था। प्रसादोत्तर काल के अधिकांश नाटकों में फिर एक नूतन दृष्टि दिखाई पड़ी। इस समय प्राचीन नाट्य-कला का प्रभाव प्राय: लुप्त हो गया। अब शेक्सपियर भी ओझल हो गए। उनके स्थान पर हेनरिक इब्सन तथा जार्ज बर्नार्ड शॉ आदि पाश्चात्य नाटककारों के अनुकरण नाट्य-विधान में चल पड़े। फलस्वरूप नाटकों में यथार्थता को स्थान मिला और पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की ओर रुचि कम हुई। नाटककार सामाजिक तथा सामयिक विषयों में अधिक रस लेने लगे। उन्होंने विभिन्न सामाजिक समस्याएं उठाईं। इन समस्या नाटकों में समाज की आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं का समाधान बौद्धिक आधार पर विशेष रूप से ढूंढने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। सेठ गोविन्ददास[१] तथा हरिकृष्ण 'प्रेमी'[२] ने शिल्प की दृष्टि से नवीन ऐतिहासिक नाटकों का प्रणयन किया। 'प्रेमी' ने हिन्दू-मुस्लिम-एकता, सामन्ती वातावरण का चित्रण तथा राजपूतों के स्वाभिमान, वीरता और आपसी ईर्ष्या, द्वेष को कथावस्तु का विषय चुना तथा उनके शौर्य पराक्रम, देशभक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया, साथ ही हिन्दू-मुस्लिम पात्रों की आपसी सद्भावना की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। उस समय देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा छटपटा रहा था। इस बेड़ी को विशृंखल करने के लिए साम्प्रदायिक एकता सबसे अधिक अनिवार्य थी। नाटककारों ने अपने नाटकों द्वारा योग दिया। उदयशंकर भट्ट[३] तथा पन्त जी[४] के ऐतिहासिक धारा के अच्छे नाटक हैं। प्रसादोत्तर-काल में प्राचीन की पृष्ठभूमि में नवीन उद्भावनाओं सहित पौराणिक नाटक भी लिखे गए। पौराणिक धारा के प्रमुख हिन्दी-नाटककारों में उदयशंकर भट्ट,[५] सेठ गोविन्ददास[६] आदि के नाटक उल्लेखनीय हैं। इन पौराणिक

---

१. 'हर्ष' (१६३५)

२. 'शिवा-साधना' (१६३६), 'स्वप्नभंग' (१६४६ वि०सं०), 'आहुति' (१६४०), 'रक्षाबंधन' (१६३४) आदि।

३. 'विक्रमादित्य' (१६३८)

४. 'अन्त:पुर का छिद्र' (१६४०)

५. 'अंबा' (१६३५), 'सगर-विजय' (१६३७), 'मत्स्यगन्धा' (१६३७), 'विश्वामित्र' (१६३८) आदि।

६. 'कर्तव्य' (१६३५), 'कर्ण' (१६४६) आदि।

नाटकों में बड़ी कुशलता से पात्रों के चरित्र का चित्रण हुआ जिनका आधार पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है। जाति-भेद तथा अन्य सामाजिक समस्याओं को लेकर प्राचीनता में नवीनता का कलापूर्ण प्रवाह दिखाई पड़ा।

इनके अतिरिक्त गोविन्दवल्लभ पन्त,[१] लक्ष्मीनारायण मिश्र,[२] हरिकृष्णप्रेमी[३] के कुछ नाटकों में बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से नारी की समस्या का समाधान ढूंढने का प्रयास हुआ। सेठ गोविन्ददास[४] तथा पृथ्वीनाथ शर्मा[५] के नाटकों में राजनीतिक समस्या को भी उठाया गया। नारी जाति के उत्थान की कामना भारतेन्दु जी के `नीलदेवी` के प्राक्कथन से ही प्रकट होती है। इस युग में आकर नाटककारों ने नारी जाति की अवस्था पर दृढ़ता से विचार करना प्रारम्भ किया क्योंकि उन्हें इसके उत्थान में सम्पूर्ण समाज की प्रगति दिखाई पड़ी। कुछ नाटककारों ने स्वप्न-नाटकों की रचना की।[६] पं० सुमित्रानन्दन पन्त का प्रतीक-नाटक मेटरलिंक के `ब्लू बर्ड` की टैकनीक से पूर्णतया प्रभावित है।[७] सम्पूर्ण नाटक संगीतात्मक है। लम्बे सम्वादों और पात्रों का आधिक्य है। अभिनय की दृष्टि से नितान्त त्रुटिपूर्ण है। मैथिलीशरण गुप्त तथा उदयशंकर भट्ट के गीतिनाट्य की शैली में लिखे गए नाटकों में पद्य के माध्यम से भावना को प्रधानता मिली। इस युग के नाटकों में तीन अंक रहे तथा दृश्यों का पूर्णतः अभाव दिखाई पड़ा। इनके अतिरिक्त सेठ गोविन्ददास ने सिनेमा की टैकनीक से प्रभावित होकर दो अंकों का नाटक नाट्य-जगत को अर्पित किया।[८]

प्रसादोत्तर-काल में एकांकी भी अधिक लिखे गए। भुवनेश्वर प्रसाद,[९]

---

१. `अंगूर की बेटी` (१९३७)
२. `राजयोग` (१९३४), `सिन्दूर की होली` (१९३४), `आधी रात` (१९३६)
३. `छाया` (१९४१)
४. प्रकाश (१९३५), विकास (१९४१), सेवापथ (१९३५) आदि
५. अपराधी
६. उपेन्द्रनाथ`अश्क` `छठा बेटा` (१९५० ?)
७. `ज्योत्स्ना` (१९३४)
८. `सिद्धान्त-स्वातंत्र्य` (१९३८)
९. `कारवां` (१९३५)

डॉ० रामकुमार वर्मा,[१] उपेन्द्रनाथ अश्क,[२] उदयशंकर भट्ट,[३] सेठ गोविन्ददास [४] इस युग के प्रमुख एकांकीकार हैं जिन्होंने एक विशेष भावना, स्थिति के द्वारा द्वन्द्व, उत्कर्ष, चरमसीमा की सृष्टि करके एकांकी को सफल तथा प्रभावोत्पादक बनाया। संक्षिप्त गतिपूर्ण, प्रभावोत्पादक, सप्रयोजन होने के कारण इस युग में एकांकी सर्वग्राह्य हुई। थोड़े समय में समाप्त होने वाले एकांकी अभिनयात्मकता की दृष्टि से भी उपयोगी हुए। इस काल में नाटकों का बहुमुखी विकास पाया जाता है। सन् १९४७ से लेकर अबतक अनेक नाटक लिखे गए किन्तु अनुपात एकांकी तथा एकांकी का दूसरा नाट्य रूप रेडियो-नाटक का अधिक है। रंगमंच के विकास की स्थिति अभी तक क्यनीय होने से रेडियो-नाटक से ही लोग अपना मनोरंजन कर लिया करते हैं।

हिन्दी नाटक साहित्य के उपर्युक्त ऐतिहासिक विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नवयुग की अवतारणा के साथ हिन्दी गद्य में उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों का प्रणयन भारतेन्दु द्वारा ही हुआ। नाट्य-शिल्प में अनेक नवीन परिवर्तन हुए। एक अंक में अनेक गर्भांकों एवं दृश्यों का समावेश हुआ। पश्चिम के प्रभाव से व्यंग्य-शैली में प्रहसन लिखने की प्रेरणा मिली। सामाजिक, राष्ट्रीय नाटकों द्वारा नवीन उद्देश्य लेकर नाटक रचना प्रारम्भ हुई। इस काल में केवल प्रेम-प्रधान नाटकों द्वारा शृंगारिकता की रक्षा करना ध्येय उद्देश्य समझा जाने लगा। यह सब भारतीय नवोत्थान की भावना और पाश्चात्य नाट्य-कला का प्रभाव था, किन्तु भारतेन्दु ने नांदी, प्रस्तावना, भरत-वाक्य का महत्व भी स्वीकार किया। भारतेन्दु के पश्चात् कोई उच्चकोटि का उल्लेखनीय नाटककार नहीं मिलता। `प्रसाद` के आगमन से नाट्य-जगत में उल्लास की दूसरी लहर आई। भाषा का प्रौढ़ रूप सामने आया। भाषा, शैली और कला की दृष्टि से नाटक-साहित्य ने प्रगति की। आज एकांकी तथा उसका दूसरा रूप रेडियो-नाटक सर्वप्रिय हो रहा है। नाट्य-कला की दृष्टि से अब

---

१. `पृथ्वीराज की आँखें` (१९३६), `चारुमित्रा` (१९४२) आदि।

२. `देवताओं की छाया में` (१९४०) आदि

३. `स्त्री का हृदय` (१९४२) आदि

४. `सप्तरश्मि` (१९४१) आदि

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का प्रभाव और भी अधिक दृष्टिगोचर हो रहा है। किन्तु स-शीर्षस्थ नाटककारों ने अन्धानुकरण को अपना लक्ष्य न बनाकर अपनी मौलिक प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है।

हिन्दी नाट्य-शास्त्र : जन्म और विकास-

मूल साहित्य की रचना हो जाने पर ही लक्षण या शास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण होता है। कालान्तर में ये लक्षण या शास्त्रीय ग्रन्थ ही साहित्य को परखने की कसौटी बन जाते हैं। संस्कृत में नाटकों की रचना हो जाने के बाद ही शास्त्रीय ग्रन्थ रचे गए जिनमें ईसा से कई शताब्दी पूर्व भरत का 'नाट्य-शास्त्र' जैसा नाट्य-कला के सूक्ष्म नियमों से पूर्ण ग्रन्थ सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। नाट्य-शास्त्र की टीका या भाष्य भी लिखे गए। धनिक धनंजय कृत 'दशरूपकम्' (दसवीं शताब्दी का अन्तिम भाग), रामचन्द्र गुणचन्द्र का 'नाट्य दर्पण (बारहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग) आदि ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' से सामग्री लेकर लिखे गए। संस्कृत नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में हिन्दी नाटकों के जन्म के समय हिन्दी नाट्य-शास्त्र की अपनी निजी कोई परम्परा नहीं थी। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, मध्ययुग में इस्लाम ने नाटक-प्रणयन को प्रोत्साहन प्रदान न किया था और रीति कवियों ने भी दृश्य-काव्य के अन्तर्गत आनेवाले 'नाटक' के लक्षणों पर विचार न किया। अंग्रेजों ने भारत में अपने पैर स्थिर कर लेने के पश्चात् अपने मनोरंजन का प्रबन्ध नाट्यशालाओं में नाट्य-प्रदर्शन के द्वारा आरम्भ किया। भारतीय भी उनसे प्रभावित होकर नाट्य-रचना के लिए प्रेरित हुए। भारतवासियों के पास प्राचीन संस्कृत नाट्य-शास्त्र अवश्य था किन्तु अब वह देश की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल न रह गया था। नव-शिक्षित भारतीयों की रुचि में परिवर्तन होने लग गया था। भारतीय नवोत्थान प्राचीन संस्कृत नाट्य-साहित्य के अध्ययन आदि के कारण प्राचीन नाट्य साहित्य की ओर ध्यान तो गया ही, साथ ही नवीन पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप उनका ध्यान अंग्रेजी नाट्य-साहित्य की ओर भी गया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार का पूरा

इतिहास देने की यहाँ आवश्यकता नहीं है,[१] किन्तु अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप पाश्चात्य नाट्य साहित्य से भारतवासी परिचित हुए तथा उनमें नवीन भावों एवं विचारों का जन्म हुआ ।

संस्कृत शास्त्रीय परम्परा का प्रभाव —

जब अंग्रेजी की शिक्षा ग्रहण करके पाश्चात्य नाट्य कला से भारतीय परिचित हो चुके तब उनका ध्यान अपने समृद्ध संस्कृत नाट्य-साहित्य तथा नाट्य-शास्त्र की ओर भी गया । यूरोप तक में संस्कृत नाटकों का मूल्यांकन किया जाने लगा तथा लोगों ने इन्हें प्रशंसा की दृष्टि से देखा । सर विलियम जौन्स द्वारा स्थापित बंगाल की एशिआटिक सोसायटी (१७८४) द्वारा एक ग्रन्थमाला प्रकाशित करने की आयोजना बनाई गई थी जिससे लगभग छः सौ संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थों का पता चलता है ।[२] पिन्कॉट (१८३६- ७ फरवरी १८९६) के `शकुन्तला नाटक` के हिन्दी अनुवाद का सफल अभिनय रंगमंच पर होने से तथा सर्वत्र उसकी चर्चा फैलने से संस्कृत नाटकों के प्रति भारतीयों श्रद्धा और भी बढ़ी । संस्कृत के नाटक अब उन्हें आकर्षित करने लगे फलस्वरूप अपनी वस्तु को पहचानने का प्रयत्न दिखाई पड़ा । बंगाल में रामनारायण तर्करत्न ने संस्कृत शैली पर बंगला में नाटक रचना प्रारम्भ कर दी थी । उस नवोत्थान के युग में प्राचीन नाट्यशास्त्र के नियमों को लेकर नाटक लिखने की प्रेरणा मिली । मैकाले जैसे अदूरदर्शी व्यक्ति ने संस्कृत साहित्य को बहुत निम्नकोटि में रखा[३]।३

---

१. (क) दे० जे०सी० पावेल प्राइस :`ए हिस्ट्री ऑव इंडिया`, सी०आई०ई०एम०ए०(कैन्टब) एफ०आर०हिस्ट्री एस०, १९५५, प्र०सं०, पृ ० ५१५-१६

१. (ख) सैय्यद अब्दुल लतीफ: `कल्चरल हिस्ट्री ऑव इंडिया, १९५८, दि इंस्टीट्यूट ऑव इन्डो मिडिल ईस्ट कल्चरल स्टडीज, हैदराबाद,इंडिया,पृ०२४१-२४४

(ग) रामधारी सिंह दिनकर:`संस्कृति के चार अध्याय`१९५६, प्र०सं०,राज०ए०,काश्मीरी गेट,नयी दिल्ली, पृ० ४१६-१७

२. डॉ०लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :`हिन्दी साहित्य का इतिहास` छठा सं०, १९६४, महाजना प्रका०मं०,इलाहाबाद, पृ० ५४

३. टामसन एण्ड गैरेट:`राइज ऐण्ड फुलफिलमेन्ट आव ब्रिटिशरूल इन इंडिया` ,सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १९५८, पृ० ५६३-५६४

स्वाभिमानी भारतीयों पर इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था । नाटककारों ने संस्कृत नाटकों के अनुवादों द्वारा संस्कृत नाट्यकला से प्रत्यक्ष रूप में घनिष्टता बढ़ाई । भारतेन्दु ने 'पाखण्ड विडम्बना', 'मुद्राराक्षस', 'धनंजय विजय व्यायोग' और 'कर्पूर मंजरी' का सफल हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जिनमें मूल की हत्या नहीं होने पाई । नाटिका, प्रहसन, भाण आदि रूपक भेदों के उदाहरण भारतेन्दु ने प्रस्तुत किए । अनुवादों तथा नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा संस्कृत टैकनीक का ज्ञानार्जन नाटककारों द्वारा किया गया । भारतेन्दु-युग में नांदी, प्रस्तावना तथा भरत-वाक्य और विष्कंभक प्राचीन प्रभाव के फलस्वरूप नाटकों में दिखाई पड़े ।

पाश्चात्य प्रभाव—

सन् १७८४ में विलियम जोन्स ने वारेन हेस्टिंग्जकी सहायता से बंगाल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की । उसने अपने साहित्यिक संग्रह और प्रकाशनों के द्वारा प्राचीन भारतीय विचार को यूरोप के समक्ष रखा तथा यूरोपीय वैज्ञानिक, साहित्यिक विद्वता को भारतवर्ष में उपलब्ध बनाया ।[१] धीरे धीरे साहित्य की अन्य विधाओं के साथ साथ नवीन शिक्षा द्वारा पाश्चात्य नाट्य साहित्य और शास्त्र से भी देश का परिचय प्रारम्भ हो गया । शिक्षा संस्थाओं में अंग्रेजी नाटकों का अध्ययन कराया जाने लगा तथा कुछ लोगों ने शैक्सपियर से प्रभावित होकर उनके सभी नाटकों का अध्ययन तथा उनके नाट्य-रचना विधान पर मनन किया । अंग्रेजी शिक्षा के बढ़ते हुए प्रचार ने जिन भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा के बढ़ते हुए प्रचार ने जिन भारतीयों को अंग्रेजी समझने योग्य बना दिया था, वे अधिक तो क्लर्क बने किन्तु साहित्यिक रुचि विशेष वाले लोगों ने साहित्य की ओर ध्यान दिया । हिन्दी भाषी व्यक्तियों को पाश्चात्य-नाट्य-शास्त्र से परिचय प्राप्त कराने का बहुत अधिक श्रेय अंग्रेजी शिक्षा-प्रसार को दिया जा सकता है ।

---

१. डॉ० एस०सी० सरकार : 'आधुनिक भारतवर्ष का इतिहास', भाग २, १९५१, इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग, पृ० ५२०—२१

अंग्रेजी नाटकों के अनुवादों द्वारा पाश्चात्य टेकनीक से परिचय—

शेक्सपियर की नाट्यकला को विशेष महत्त्व भारतेन्दु युग के नाटककारों ने प्रदान किया। 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का हिन्दी अनुवाद 'दुर्लभ बन्धु' नामांकन करके भारतेन्दु जी ने शेक्सपियर की नाट्यकला से परिचय प्राप्त किया। एडिसन के 'केटो' का भारतबन्धु संपादक तोताराम जी ने केटो कृतान्त (१८७६) नाम से अनुवाद किया। शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद बालेश्वर प्रसाद और दयालसिंह ठाकुर ने किया। १८८८ ई० में जबलपुर की आर्या नामक महिला ने 'वेनिस नगर का व्यापारी' नाम से इसका अविकल अनुवाद किया।[१] शेक्सपियर के 'कामेडी आफ एरर्स' को रतनचन्द जी ने 'भ्रमजालक' (सन् १८८७) नाम दिया। ऐज़ यू लाइक इट का पुरोहित गोपीनाथ, ने मनभावन (१८९६) तथा — 'रोमियो एंड जूलियट' का 'प्रेमलीला' (१८९७) नाम से अनुवाद किया। मथुराप्रसाद उपाध्याय ने शेक्सपियर के मैकबेथ को 'साहसेन्द्र साहस' (१८९३) नाम से अभिहित किया। इस प्रकार पाश्चात्य नाट्यकला से हिन्दी नाटककारों ने अपनी घनिष्ठता बढ़ाई। साहित्य के इतिहास में अनुवाद के बाद ही मौलिकता आई है अत: हिन्दी नाट्य साहित्य ने भी कोई नवीन कार्य नहीं किया।

अंग्रेजी नाट्य साहित्य का अध्ययन—

हिन्दी भाषी लोगों में अंग्रेजी भाषा का ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, अंग्रेजी साहित्य की ओर उनकी रुचि बढ़ने लगी। भारतेन्दु के पिता ने आधुनिक काल की आवश्यकतानुसार अपनी लड़की तथा को अंग्रेजी की शिक्षा दिलाई थी जिसकी चर्चा भारतेन्दु जी ने स्वयं की है।[२] तत्कालीन पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण

---

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त—'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास', चौथा सं०, १९५८, हिन्दी भवन, जालंधर और इलाहाबाद, पृ० ७८

२. बाबू ब्रजरत्नदास—'भारतेन्दु नाटकावली', द्वि०भाग, द्वि०सं०, सं० २०१३, रामना० पब्लि०,इलाहाबाद (भारतेन्दु के नाटक निबन्ध से परिशिष्ट में) ,पृ०५१५

करने वाले नाटक प्रेमी व्यक्तियों ने अंग्रेजी नाट्य साहित्य तथा नाट्यशास्त्र का भी विशेष रुचि से अध्ययन किया तथा हिन्दी नाटकों की रचना में उनके सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया । इसे हम यों कह सकते हैं कि पाश्चात्य शिक्षा स्वतंत्र रूप से अंग्रेजी साहित्य (नाट्य-साहित्य) के अध्ययन के अतिरिक्त यह पाश्चात्य प्रभाव बंगला के माध्यम द्वारा भी आया । संवत् १६२२ में भारतेन्दु जी परिवार सहित जगन्नाथ जी गए । उसी यात्रा में बंग देश की नवीन साहित्यिक प्रगति से उनका परिचय हुआ । उन्होंने बंगला में नए ढंग के सामाजिक,ऐतिहासिक, पौराणिक नाटक देखे तथा हिन्दी में ऐसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया[१]। बंगाल यात्रा से लौटने के पश्चात् उन्होंने संवत् १६२५ में यतीन्द्र मोहन ठाकुर कृत बंगला के `विद्यासुन्दर` नाटक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया । `विद्यासुन्दर` नाटक ~~का हिन्दी~~ पर शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी नाटकों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । प्राचीन रूढ़िवादी सूक्ष्म नियमों का भी उसमें उल्लंघन किया जा चुका था । बंगला नाटकों के अनुवाद का क्रम भारतेन्दु युग (१८५०—१६००) में बड़े वेग से चला । `भारत जननी` पाश्चात्य ऑपेरा की संगीतात्मक शैली में लिखा गया है । इसके रचयिता का निर्णय संदिग्ध है क्योंकि भारतेन्दु जी ने स्वयं स्वीकार किया है — " भारतजननी रूपक जो गत नवम्बर सन् १८८० ई० से छपता है, उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है । वह रूपक मेरा बनाया नहीं है । बंगभाषा में भारतमाता नामक जो रूपक है वह उसी का अनुवाद है जो मेरे एक मित्र का किया है जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है । मैंने उसको शोधा है और जो अंश कुछ भी अयोग्य था उसको बदल दिया है ।"[२]

बंग देश के नाटकों में पाश्चात्य नाट्यकला के सर्वप्रथम विकास का कारण यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में अंगरेजी राज्य के साथ साथ सबसे पहले बंगाल में इस कला का जन्म हुआ । बंगला नाटककारों ने प्राचीन नियमों का पूर्णतः उल्लंघन किया किन्तु हिन्दी नाटककारों ने अपने नाटकों में आवश्यकतानुसार भारतीय पद्धति

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल-`हिन्दी साहित्य का इतिहास` सं० २००२, संशोधित; संस्करण काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ३६८

२. संपादक श्यामसुन्दरदास बी०ए०-`भारतेन्दु नाटकावली` (भूमिका पृ० २ से) सन् १६२ प्र०सं०, प्रकाशक—इंडियन प्रेस,प्रयाग

का भी अनुसरण किया । बंगला नाटकों के माध्यम से पाश्चात्य नाट्यशास्त्रीय प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

अंग्रेजों द्वारा स्थापित रंगशालाएं एवं उनमें अभिनय

व्यापारी अंग्रेज जाति ने जब धीरे धीरे भारतवर्ष पर पूर्णतः अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और इस बात का उन्हें निश्चयात्मक विश्वास हो गया कि अब भारत छोड़कर उन्हें इंगलैण्ड वापस नहीं जाना है तो ईस्ट इंडिया कम्पनी के काल में ही उन्होंने बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, पटना आदि नगरों में अपने मनोविनोद के साधन यहीं जुटाए ।[1] अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध १७९५ ई० में प्रथम अंग्रेजी ढंग पर बंगला नाट्यशाला हैरासिम लैबेडेफ नामक एक रूसी द्वारा कलकत्ता में स्थापित किया गया तथा अंग्रेजी नाटक 'दि डिसगाइज' और 'लव इज द बैस्ट डाक्टर' का बंगला अनुवाद प्रस्तुत किया गया । इन्होंने स्वयं लिखा है कि बंगाली पंडितों के सामने यह अनुवाद पेश किया गया और उनकी मुखाकृति से पढ़ते समय यह अनुमान लगाया कि मेरे ये अनुवादित नाटक सफल हुए हैं । १७९५ के ५ नवम्बर के कलकत्ता गजट में निम्नलिखित बातें प्रकाशित हुई थीं[2]।

By permission of the Honourable the Governor General
Mr Lebedeff's

New Threatre in the Doomtullah

Decorated in the Bengaly style will be opened very

shortly with a play called

THE DISGUISE

The characters to be supported by Performers of both sexes.

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', तृ०सं०, १९५४, हिन्दी परिषद, विश्वविद्यालय, प्रयाग, पृ० २०१

२. हैरासिम लैबेडफ : 'अ ग्रामर आफ द प्योर ऐण्ड मिक्स्ड ईस्ट इंडियन डायलेक्ट्स', १८०१, भूमिका, पृ० ६-७

पाश्चात्य देशों में श्रम के पश्चात् श्रम परिहार के भी अनेक उपाय किये गए हैं। भारत के समान उन्होंने केवल श्रम करना ही नहीं सीखा। अतः अपने मनोरंजन के लिए धड़ाधड़ नाट्यशालाओं की स्थापना कर अंग्रेजों ने भारतीयों का ध्यान नाट्यकला की ओर आकृष्ट किया। हिन्दी नाटक रंगमंच तब हमारे यहां था नहीं और न वस्तुतः अब भी है। रंगमंच की सुविधा और विकास के कारण सोलहवीं शताब्दी में ही शेक्सपियर के नाटकों द्वारा आंग्ल नाट्यकला उन्नति की चरमसीमा पर पहुंच गई थी और हमारी भारतीय परम्परा प्राचीनतम होने पर भी रंगमंच के अभाव में आजतक अविकसित रही। अंग्रेजों द्वारा स्थापित अभिनयशालाओं में अंगरेजी नाटकों या कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक के प्रायः अभिनय हुआ करते थे। सर विलियम जोन्स (१७४६ – १७६४) द्वारा तथा फोर्ट विलियम कालेज में 'शकुन्तला' के दो तीन अनुवाद प्रस्तुत हो ही चुके थे।[१] प्राचीन नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों में रंगशाला का विस्तृत विवेचन देखने से संस्कृत रंगमंच की प्राचीनता का बोध होता है किन्तु व्यावहारिक रूप में संस्कृत रंगमंच के ह्रास हो जाने पर अब उसका अवशेष भी देखने को नहीं मिला। अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय रंगमंच को ही हमने अपना आदर्श माना और उससे प्रभावित होकर साहित्यिकों में नाट्य-रचना के लिए रुचि उत्पन्न हुई। ब्रिटिश म्यूजियम में 'शकुन्तला' नाटक की हस्तलिखित प्रति फारसी लिपि में है। गिल क्राइस्ट ने अपने 'हिन्दी रोमन ऑर थीपीग्रैफिकल अल्टीमेटम' में शकुन्तला नाटक का पाठ रोमन लिपि में दिया है।[२]

पारसी थियेट्रिकल कम्पनियां—

पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का इतिहास प्राचीन नहीं है। अंग्रेजी

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' तृ० सं०, १९५४, हिन्दी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग, पृ० २०१

२. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' द्वि०सं०, १९५६, लोक भारती प्रकाशन, पृ० ३६०

सत्ता की स्थापना के पश्चात् अंग्रेजी नाट्यशालाओं में नाटकों का अभिनय देखकर सर्व-प्रथम धन सम्पन्न पारसी जाति के कुछ व्यक्तियों ने बम्बई में 'ओरीजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' खोली जिसके मालिक सेठ पेस्टनजी फ्रेमजी थे। तत्पश्चात् सन् १८७७ में 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी', 'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' (१८७७) आदि अनेक व्यवसायी कम्पनियां स्थापित हुई जिन्होंने अंग्रेजी नाटकों को भारतीय रुचि के अनुकूल बनाकर रंगमंच पर प्रस्तुत किया। भारतेन्दु के समय में ये रंगमंचीय कंपनियां स्थापित हो चुकी थीं और इनके रंगमंच पर खूब तेजी और रुचि के साथ नाटक खेले जा रहे थे। शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद और रूपान्तर विशेष रूप से प्रकाशित हुए। उनका आधार लेकर कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गए। कोरस से इन नाटकों का आरम्भ हुआ। उनमें वस्तु, भाषा, चरित्र-चित्रण आदि को महत्त्व दिया गया। महत्त्व था चमत्कारी दृश्य-दृश्यांतर, ऊपरी चटक मटक, वेश भूषा तथा कुरुचिपूर्ण गीतों आदि का। इनके नाटकों में अस्वाभाविकता का प्राचुर्य था क्योंकि स्वाभा-विकता की आहुति देकर भी किसी प्रकार नाटक को चमत्कारी बनाकर अशिक्षित जनता को प्रसन्न करके धनोपार्जन करना + इनका उद्देश्य था। भारतेन्दु ने स्वयं इन नाटकों को भ्रष्ट की संज्ञा दी है।[१] पारसी थियेटर के अश्लील प्रेमपूर्ण दृश्यों, भद्दे-अभिनयों के प्रभाव का वर्णन बालकृष्ण भट्ट ने 'पारसी थियेटर' शीर्षक सन् १६०३ के एक लेख में इस प्रकार करते हैं[२]—

" हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका यह पारसी थियेटर है जो दर्शकों को आशिकी, माशूकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा जरिया है। क्या मजाल कि जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुआनी की झलक मन में आने पावे। इतना पीर पैगम्बर, परी, हूर का जहूर कहीं न पाओगे। तीसरे शायस्तगी की नाक उर्दू का जौहर मुफ्त में दस्तयाब

---

१. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु नाटकावली' द्वि०सं०, सं० २०१३, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, पृ० ३६६ ('नाटक' निबन्ध से)

२. हिन्दी प्रदीप, भाग २५, संख्या ६-१२

होता है। सच कहो तो यही तीन बड़े बड़े फायदे नाटकों के अभिनय के हैं -- पहला धर्म संबंधी, समाज सम्बन्धी या राजकीय संबंधी उत्तम उपदेशों का मिलना, दूसरा देश की पुरानी रीति नीति को किसी पुराने इतिहास या घटनाओं का अभिनय कर दरसाना अथवा प्रचलित कुरीति की बुराइयों को दिखाना, तीसरा भाषा प्रचार । थोड़े से भव्य लोग यही समझ, जब यहां कोई जानता भी न था कि नाटक क्या वस्तु है, इसके अभिनय में प्रवृत्त हुए और हिन्दी के कई एक नाटकों का उन्होंने अभिनय कर लोगों को इसका शौक दिलाया । पीछे बम्बई के पारसियों का एक दल बम्बई से चला और वे बड़े बड़े शहरों में इस ढंग का अभिनय करने लगे । अस्तु यहां तक बुरा न था क्योंकि उनके अभिनय में भी किसी किसी तमाशे में पुरानी रीति नीति और हिन्दी का विरोध न था । पीछे दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि कई शहरों के बिगड़े नौजवानों की गिरोह जमा हो, अभिनय को जो सभ्यता का प्रधान अंग था और भलाई के प्रचार तथा सदुपदेश प्राप्त करने का उत्तम द्वार था, इस दुर्गति को पहुंचाय हमारी पुरानी हिन्दुआनी का सत्यानाश कर डाला और नई उभार के तरुण जनों को उनकी नई उमंग के लिए बड़ा सहारा मिल गया । भविष्य में इसका परिणाम यही होने वाला है कि हमारी नई सृष्टि में आर्यता और हिन्दुपन का चिह्न भी न बचा रहेगा । बोलचाल, रहन-सहन में अर्ध यवन तो हुई हैं अब पूरे आशिक़तन यवन बन बैठेंगे ।"

परिष्कृत रुचिवालों के लिए पारसी थियेटर जितने ही अरुचिकर सिद्ध हुए, उतने ही अधिक रुचिकर सिद्ध हुए भद्दी रुचिवालों के लिए । दूसरे प्रकार की रुचि वालों से ही पारसी नाटकों को प्रोत्साहन मिला । इनका चलता फिरता रंगमंच जहां कहीं पहुंचा कि लोगों की भीड़ भी दौड़ पड़ी । इन नाटकों का हिन्दी रंगमंच पर बहुत विनाशकारी प्रभाव पड़ा । भट्टजी के उपर्युक्त कथन में यह संकेत मिलता है कि नाटक के प्रति रुचि जाग्रत करने में इन रंगमंचीय नाटकों का भी हाथ है । इन रंगमंचीय नाटकों द्वारा भी पाश्चात्य रचना-पद्धति ने हिन्दी के नाटककारों को प्रभावित किया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, लाला श्रीनिवासदास आदि के बाद हिन्दी के अनेक नाटककारों ने पारसी रचना-पद्धति ग्रहण कर अपनी अपनी रचनाएं प्रस्तुत कीं । उन्होंने पारसी नाटकों के प्रेमपूर्ण और अश्लील एवं भ्रष्ट कथानकों के स्थान पर

धार्मिक और पौराणिक विषय चुने ।[१]

हिन्दी का सर्वप्रथम नाट्य-शास्त्र-

हिन्दी नाट्यशास्त्र का सर्वप्रथम सिद्धान्त-ग्रन्थ भारतेन्दु जी का 'नाटक' है जिससे यह सिद्ध होता है कि संस्कृत नाट्यशास्त्र से पृथक हिन्दी के अपने नाट्यशास्त्र का इतिहास १६ वीं शताब्दी से पूर्व का नहीं है । भारतेन्दु जी ने इसके उपक्रम में उल्लेख किया है कि " इसके लिखित विषय दशरूप, भारतीय नाट्यशास्त्र, साहित्य दर्पण, काव्यप्रकाश, विल्सन्स हिन्दू थियेटर्स, लाइफ आव दि एमिनेन्ट परसन्स, ड्रामेटिस्ट ऐन्ड नावेलिस्ट्स, हिस्ट्री डि इटालिक, थियेटर्स और आर्य आर्य दर्शन से लिये गए हैं ।"[२] उन्होंने अपने 'नाटक' में प्राचीन और नवीन भेद करके संस्कृत तथा पाश्चात्य टैकनीक का समन्वय प्रस्तुत किया है तथा हिन्दी में कहां तक उनका पालन हुआ है उसके संबंध में भी यथाशक्ति प्रकाश डालने का प्रयास किया है । भारतीय तथा पाश्चात्य टैकनीक से पूर्णतया परिचय प्राप्त करके भारतेन्दु ने दोनों के समन्वय से हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का निर्माण किया । उन्होंने न तो संस्कृत के रूढ़िग्रस्त सिद्धान्तों का ही अन्धानुकरण किया और न पाश्चात्य नाट्यकला को ही पूर्णतया ग्रहण किया । उन्होंने भारतीय परिस्थिति एवं वातावरण के अनुकूल सिद्धान्त अपनाए और निरर्थक बातों का सर्वथा परित्याग किया ।

' नाटक' के उपक्रम में भारतेन्दु जी ने आशा व्यक्त की है कि हिन्दी भाषा में नाटक बनाने वालों को यह ग्रंथ बहुत ही उपयोगी होगा । इस प्रबन्ध में उन्होंने अपने समय में पाये जाने वाले प्राचीन तथा नवीन रूपक के भेदों का हिन्दी

---

१. दे०-डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :'आधुनिक हिन्दी साहित्य' , तृ० सं०, १९५४ई० हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, पृ० २१५

२. ब्रजरत्नदास-'भारतेन्दु नाटकावली', द्वि० भाग, द्वि०सं०, सं० २०१३, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, नाटक निबन्ध के उपक्रम से ।

उदाहरण द्वारा ज्ञान प्राप्त कराने का प्रयास किया है। युग के अनुकूल दृश्य काव्य में कैसी सामग्री का समावेश होना अपेक्षित है, इसका विवेचन निम्नलिखित वक्तव्य में पाया जाता है — "अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्य गण की हृदयग्राहिणी है। इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है।"[१]

भारतेन्दु जी ने नाटक रचना के अन्य प्रसंगों की समुचित व्याख्या भी की तथा उस पर अपना स्वतंत्र मत व्यक्त किया। नवीन भेद के अनुसार उद्देश्य पक्ष पर उन्होंने विशेष बल दिया। उन्होंने इसको इतना महत्व प्रदान किया कि इसके अभाव में नाटक को नाटक नहीं माना।[२] इसमें अभिनय, अंक विभाजन विदूषक आदि की युग के अनुकूल व्याख्या हुई है जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों का यथोचित समन्वय किया गया है। पात्र स्वभावानुसार भाषण रखने के संबंध में उनकी बातें इस बात की द्योतक हैं कि वे प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों का भी कितना आदर करते हैं — "महामुनि भरताचार्य पात्र स्वभावानुकूल भाषणा रखने का वर्णन अत्यन्त सविस्तर कर गये हैं। यद्यपि उनके नांदीरचनादि विषय के नियम हिन्दी में प्रयोजनीय नहीं किन्तु पात्र-स्वभाव-विषयक नियम तो सर्वथा शिरोधार्य हैं।"[३] भारतेन्दु कृत 'नाटक' नामक निबन्ध में अन्य अनेक तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया। उन सब का उल्लेख करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। किन्तु इस रचना के आधार पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी का भरत मुनि कहा जा सकता है।

---

१. ब्रजरत्नदास—'भारतेन्दु नाटकावली' (द्वि० भाग) द्वि०सं०, सं० २०१३, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, पृ० ३७४ ('नाटक' निबन्ध से)

२. वही, पृ० ३८५

३. वही, पृ० ३९६—९७

नाट्यशास्त्र सम्बन्धी परवर्ती ग्रन्थ-

हिन्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'नाट्यशास्त्र' (च०सं० १६२६ ई०) नामक पुस्तिका में भारतीय नाट्यशास्त्र का विवेचन संक्षेप में मिलता है। तत्पश्चात् डा० श्यामसुन्दरदास तथा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का 'रूपक रहस्य' (१६३१ ई०) प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र पर लिखी गई विस्तृत पुस्तक है। परम्परागत भेदोपभेदों का वर्णन ही इसका विषय है। आपकी दूसरी आलोचनात्मक पुस्तक 'साहित्यालोचन' में भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यकला का विवेचन एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया गया किन्तु इन रचनाओं में केवल भारतीय सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डाला गया।

सेठ गोविन्ददास जी की 'नाट्यकला मीमांसा (१६६१ ई०) अधिक अंश में हिन्दी नाट्यशास्त्र संबंधी बातों को अपने में समेटे हुए है। सेठजी ने हिन्दी नाटक की टैकनीक को निखारने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भारतीय तथा पाश्चात्य शास्त्रीय ग्रन्थों का अनुशीलन करके उन्होंने इस पुस्तक में नाट्यकला सम्बन्धी अपना विशेष मत प्रदान किया। उपक्रम तथा उपसंहार की व्यवस्था उनकी अपनी विशेषता है। नाट्यकला के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन सेठ जी ने किया, वे अधिकतर पाश्चात्य टैकनीक से प्रभावित प्रतीत होते हैं। उपक्रम पाश्चात्य 'प्रोलोग' का तथा उपसंहार 'एपिलोग' का हिन्दी रूप है फिर भी मौलिकता का समन्वय हुआ है अन्धानुकरण नहीं। इब्सन आदि यथार्थवादी नाटककारों ने गीतों का पूर्णतः बहिष्कार किया है और सेठ जी ने अवसर के अनुकूल गायन तथा कविता का समर्थन किया है।[१] संकलनत्रय के सम्बन्ध में उन्होंने अपना स्वतंत्र मत व्यक्त किया कि वे इसमें विश्वास नहीं करते। कथानक की एकता के निर्वाह के अतिरिक्त काल और स्थल संकलन के पालन को वे अनावश्यक बताते हैं। स्वाभाविकता की रक्षा के लिए उन्होंने राय दी कि एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना यथेष्ट समय के पश्चात् प्रारम्भ हो तो पात्र द्वारा कौशलपूर्वक दर्शकों को इसकी सूचना मिल जानी चाहिए।[२] पात्रों

---

१. सेठ गोविन्ददास 'नाट्यकला मीमांसा', वि० १६६७, प्र०सं०, महाकोशल साहित्य-मंदिर, गोपालबाग, जबलपुर, पृ० २२

२. वही, पृ० २३

की भाषा आदि नाटक की टैकनीक पर भी उन्होंने थोड़ा बहुत विचार किया ।

सीताराम चतुर्वेदी कृत अभिनव नाट्यशास्त्र (१९५१) नाटक-रचना के सिद्धान्तों को लेकर लिखा गया विस्तृत ग्रंथ है । इसकी रचना संस्कृत की सूत्र प्रणाली पर हुई । पहले एक सूत्र दे दिया गया है फिर उसका प्राय: पद्य बद्ध नागरी रूपान्तर देकर तत्पश्चात् नागरी भाषा में उसकी व्याख्या दी गई है । अपने वक्तव्य के समर्थन में उन्होंने संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के उद्धरणों का नागरी अनुवाद प्रस्तुत किया है । संस्कृत तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का आधार ग्रहण करके चतुर्वेदी जी ने विवेचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक रूप देकर नाटक-रचना के सिद्धान्त स्थिर किए हैं । किन्तु सीताराम चतुर्वेदी इतना ही कहकर रह जाते हैं कि नाटक रचना में क्या होना चाहिए ? हिन्दी नाटकों में क्या हुआ है तथा कैसा हुआ है, इसकी कोई चर्चा भी नहीं पाई जाती । उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र को बहुत व्यापक तथा विस्तृत रूप दिया है । उसमें उन्होंने नाट्यकला का सामान्य तथा व्यापक रूप प्रस्तुत किया । उसे हिन्दी तक की सीमा में बांधने का प्रयास नहीं हुआ है । हिन्दी नाटककारों की कला पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है । फिर भी हिन्दी नाटककारों को इस ग्रन्थ से नाटक रचना की रीतियों का ज्ञान प्राप्त करने में बहुत सहायता प्राप्त होगी । चतुर्वेदी जी की सूत्र प्रणाली को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है । संवाद के सम्बन्ध में उनका मत उदाहरणस्वरूप ले लें —

"सर्वं श्राव्याश्च संवादा :"[१]

(सर्व श्रव्य संवाद सदा हों) इसके पश्चात् नागरी भाषा में प्राचीन भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों पर तर्क उपस्थित करते हुए अपना दृढ़ विचार व्यक्त किया है । उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि संसार के विभिन्न देशों के ज्ञान से लोक को वंचित करके केवल अपने देश के नाटकीय विज्ञान तक ही परिमित रहना उचित नहीं है ।[२] उन्होंने अपनी विवेचना की परिधि में विश्वनाट्यशास्त्र को भी

---

१. अभिनव भरत आ० सीताराम चतुर्वेदी —'अभिनवनाट्य-शास्त्र', द्वि०सं०, १९६४, किताब महल, प्रा०लिमिटेड, इलाहाबाद, पृ० ६६, सूत्र ५८

२. वही, पृ० १५

अपना लिया है और प्राचीन तथा नवीन नाट्यशास्त्र का भारतीय दृष्टि से समन्वय करने का प्रयत्न किया है। और इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम केवल नाट्यशास्त्र न रखकर अभिनव नाट्यशास्त्र रखा गया है।

श्रीरामचन्द्र महेन्द्र की `हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार` (१९५५) तथा श्री रामगोपाल चौहान की `हिन्दी नाटक सिद्धान्त और समीक्षा` (१९३९) नामक पुस्तकें कुछ अंश में हिन्दी नाटकों में प्रयुक्त नाट्य सिद्धान्त पर प्रकाश डालती हैं किन्तु इनमें हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि के सम्बन्ध में पर्याप्त रुचि दिखाने की असमर्थता पाई जाती है। हिन्दी-नाट्य-रचना की विधियों पर प्रकाश डालने में नाटक का विश्लेषण कर देना अनिवार्य हो जाता है जिसका इनमें पर्याप्त अभाव है। रामशंकर शुक्ल `रसाल` का `नाट्य निर्णय` (१९३०) भी नाट्यकला की उत्पत्ति, भारतीय नाटक विधान , नाटक पर भारतीय किंवदंतियाँ, भारतीय नाटकों पर यूनानी प्रभाव, इंगलैण्ड के नाटक, चीन के नाटक आदि पर विवेचन प्रस्तुत करके समाप्त हो जाता है। उसमें हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि , पर ध्यान नहीं दिया गया। डॉ० दशरथ ओझा की `नाट्य समीक्षा` (१९५९) में लोक नाट्य शैली, शिल्प समस्यात्मक नाटक का उत्स और रूप, प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता, यक्ष-गान का इतिहास आदि की चर्चा की है। इससे पूर्व डॉ० नगेन्द्र का `आधुनिक हिन्दी नाटक` (१९४७) प्रकाशित हुआ था जिसमें आधुनिक हिन्दी नाटक की पृष्ठभूमि, प्रसाद के नाटक, समस्या नाटक आदि पर विचार हुआ किन्तु हिन्दी नाट्य-शिल्प पर प्रकाश नहीं डाला गया है । नाट्य-कला सम्बन्धी कुछ और भी ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें अधिकांशत: भारतीय सिद्धान्तों पर ही किया गया है।

हिन्दी नाट्यशास्त्र के जन्म और विकास के इतिहास पर विचार कर लेने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि एक तो हिन्दी में नाट्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत कम हैं , जो हैं भी वे या तो प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं अथवा भारतीय और पाश्चात्य दोनों पर। भारतीय सिद्धान्तों पर विचार करने वाले ग्रन्थों के संबंध में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्राचीन नाट्य-शास्त्र तो अपने में पूर्ण है। किन्तु भारतीय और पाश्चात्य दोनों प्रकार रचना पद्धतियों पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथों में समन्वय का अभाव पाया जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने `नाटक` नामक निबन्ध में जो समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया

था, वह अर्धविकसित रह गया । परवर्ती लेखकों ने हिन्दी-नाट्य-साहित्य को दृष्टि-पथ में रखते हुए प्राचीन और नवीन का समन्वय उपस्थित करने वाले नाट्यशास्त्र की रचना आज तक नहीं की । चतुर्वेदी जी का `अभिनव-नाट्य-शास्त्र` अपने में पूर्ण है किन्तु उसमें भी हिन्दी नाटकों की रचना पद्धति पर प्रकाश डालने का प्रयास नहीं पाया जाता । एक कारण तो इसका यह है कि आधुनिक हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव ही प्रमुख है। हिन्दी के नाटककार पश्चिमी पद्धति के अनुसार अपनी रचनाएं प्रस्तुत करते हैं। फलत: ऐसे नाटकों पर विचार के लिए पाश्चात्य नाट्यशास्त्र हैं ही । नाटक की आलोचना करने वाले आलोचक उस नाट्यशास्त्र को अपनी कसौटी बनाकर अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। हिन्दी के अपने शिष्ट रंगमंच का अभाव दूसरा कारण है। रंगमंच के कारण हिन्दी के अपने नियम बन सकते थे । किन्तु ऐसा नहीं हो सका । इन दो कारणों से हिन्दी के अपने स्वतंत्र नाट्य-शास्त्र का विकास न हो सका और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रारंभ किया गया कार्य अधूरा रह गया । पश्चिमी प्रभाव की प्रमुखता तो निर्विवाद है, किन्तु भारतीय प्रभाव एकदम शून्य हो, ऐसा भी नहीं है। इसलिए इन दोनों के समन्वित रूप पर आधारित हिन्दी के स्वतंत्र नाट्यशास्त्र की अत्यन्त आवश्यकता है।

< <   < <   < <

आचार्य भरत ने नाटक के रचना-कौशल के संबंध में कहा है :—

`मृदु ललित पदार्थं गूढ़ शब्दार्थ हीनम्
बुधजनसुख योग्यं बुद्धिमन्नृत योग्यम्
बहुरस कृत मार्गं सन्धि सन्धानयुक्तम्
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।।[१]

इस पद के अनुसार नाटक में मृदु ललित पद और अर्थ हो, गूढ़ शब्दार्थ का अभाव हो, विद्वानों को सुख देने वाला हो, अनेक रसों की सृष्टि हो सके तथा

---

१. भरत कृत `नाट्य-शास्त्र` , सत्रहवां अध्याय ,श्लोक १२३

सन्धियों का योग ठीक हो । आचार्य भरत के बाद अन्य अनेक आचार्यों ने भारतीय नाट्य-कौशल पर प्रकाश डाला ।[१] इन सभी ग्रन्थों के आधार पर भारतीय नाट्य-रचना-कौशल के तीन प्रमुख तत्त्व माने जाते हैं :— वस्तु, नेता और रस जिनके अन्तर्गत नाटक रचना के विभिन्न अंग आ जाते हैं । इसी प्रकार पाश्चात्य आचार्यों ने अपने यहां की नाट्य-रचना-पद्धति पर विचार किया है ।[२] उनके मतानुसार नाटक में कथानक, पात्रयोजना, द्वन्द्व आदि को महत्त्व प्रदान किया गया है । हिन्दी नाट्य-साहित्य का जिन परिस्थितियों में जन्म और विकास हुआ (जिनका उल्लेख इस अध्याय में किया जा चुका है) उनके अन्तर्गत हिन्दी नाटकों पर भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों नाट्य पद्धतियों का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था । आगे के अध्यायों में दोनों प्रकार की नाट्य रचना पद्धतियों पर विचार करते हुए उनके प्रकाश में हिन्दी नाटकों की रचना-पद्धति का अध्ययन किया गया है ।

---

१. दे० (क) धनिक धनंजय :`दशरूपकम्` (१९५५)
(ख) विश्वनाथ : `साहित्यदर्पण` (१९५६)
(ग) अभिनवनाट्याचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी :`अभिनवनाट्यशास्त्रम्`,(१९६४)
(घ) डी०आर० मनकद :`टाइप्स आव संस्कृत ड्रामा`(१९३६) आदि

२. दे० (क) अरस्तू : पोएटिक्स` (१९५३)
(ख) ए० निकाल :` दि थ्योरी ऑव ड्रामा`(१९३१)
(ग) एफ०एल० ल्यूकस :` ट्रैजेडी` (१९५७)
(घ) जी०पी० बेकर :`ड्रैमेटिक टेकनीक`(१९५७)
(ङ०) ए० निकाल : `ब्रिटिश ड्रामा`, पांचवां सं०, १९६२
(च) रौनाल्ड पीकाक :`दि आर्ट ऑव ड्रामा`(१९५७)
(छ) आर्चर विलियम्स : `प्लेमेकिंग` १९१२ , लन्दन आदि ।

अध्याय — २

रूपक के विविध रूप

अध्याय २

रूपक के विविध रूप

भारतीय दृष्टि से रूपक की व्याख्या—

भारतीय नाट्यशास्त्र के आचार्यों ने रूपक की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की। यहाँ उतने विस्तार की कोई आवश्यकता नहीं है अतः संदर्भ ग्रन्थों के नाम नीचे दे दिये गए हैं। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि प्रायः सभी आचार्यों ने वस्तु, नेता, रस के समन्वय से घटित अघटित घटनाओं को अभिनय के माध्यम से दिखाने को रूपक की संज्ञा दी। अनुकरण रूपक का अत्यन्त आवश्यक तत्त्व माना गया।[१] वस्तुतः नाटक मनुष्य प्रकृति का दर्पण है।

प्रसिद्ध यूनानी काव्यशास्त्री अरस्तू ने चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि को अनुकर्ता बताया।[२] ए·निकाल ने भी नाटक में दर्शक और अभिनेता की स्थिति को अनिवार्य बताया।[३] वर्तमान काल के प्रसिद्ध नाटककार तथा नाट्यशास्त्री बर्नार्ड शा रंगमंच की आवश्यकता का विरोध करते हुए हर बात के लिए नाटककार की मौलिकता एवं बुद्धिमत्ता पर छोड़ देते हैं। उनके मत से नाटक सिद्धान्तों

---

१. (क) भरत : `नाट्यशास्त्र`, प्रथम अध्याय, श्लोक ११६
   (ख) धनिक धनंजय : दशरूपक, प्रथम-प्रकाशः, कारिका ७
   (ग) अभिनव गुप्त : `अभिनवभारती : प्रथमो ध्यायः, कारिका १७

२. डा० नगेन्द्र : `अरस्तू का काव्यशास्त्र` , प्र०सं०, १९५७, भारतीभंडार, इलाहाबाद, पृ०६६

३. "A drama is never really a story told to an audience, it is a story interpreted before an audience by a body of actors"

ए० निकल : `थ्योरी आव ड्रामा` १९३१, पृ०३१

के द्वारा निर्देशित नहीं होते ।[१] ग्रैनविले बार्करका मत भी शॉ के पक्ष में है । उनका मत है कि जब नाटक बुद्धि संबंधी गंभीर होने लगे । अत: उनका प्रदर्शन भ्रष्ट प्रतीत होने लगा ।[२] बर्नार्ड शा का 'मेटाबायलाजिकल पेन्टाटाक', 'बैक टु मेथुसिला' में राजनीतिक तथा दार्शनिक वादविवाद को पढ़कर नाटक के सामान्य सिद्धान्त में महान् परिवर्तन को हम पसंद करेंगे । साथ ही अनुभव करेंगे ।[३]

रूपक के भेद —

भारतीय आचार्यों ने रूपकों की संख्या दस मानी । ये हैं — नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, अंक, समवकार, वीथी प्रहसन, डिम और ईहामृग । इन्होंने वस्तु, नेता और रस को रूपकों का भेदक तत्त्व माना तथा दस रूपकों के अतिरिक्त अठारह उपरूपकों की भी स्थिति बताई ।[४] विभिन्न रूपकों में वस्तु, नेता तथा रस का विधान विभिन्न प्रकार से किया गया । प्राय: सभी रूपक भेदों का मूल नाटक है । सम्पूर्ण रूपकों के लक्षण केवल इसी में घटित होते हैं । एक नाटक के अन्तर्गत सभी प्रकार के रूपक समाहित हो जाते हैं किन्तु अलग अलग होकर विभिन्न नाम धारण करते हैं । सम्मिश्रण नाटक है , विश्लेषण प्रहसन ,भाण आदि ।

भरत के समान अरस्तू ने नाटक की बहुत स्पष्ट व्याख्या नहीं की किन्तु संकेत के आधार पर कहा जा सकता है कि उनके अनुसार भी नाटक काव्य का वह रूप है जिसमें पात्र जीवित, जागृत और चलते फिरते प्रस्तुत किये जाते हैं अर्थात् इसमें कार्य व्यापार का प्रदर्शन रहता है ।[५] अरस्तू ने नाटक के दो भेद— ट्रैजेडी और कामेडी

---

१. बर्नार्ड शॉ का मत—संदर्भ, ए० निकाल : थ्योरी आव ड्रामा, १९३१,पृ० ३३

२. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, वाल्यूम ७, चौदहवां संस्करण, पृ० ५७६

३. वही, पृ० ५७६

४. उपर्युक्त सभी भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने विस्तार पूर्वक रूपक भेदों की व्याख्या की है ।

५. डॉ० नगेन्द्र : 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्र० सं०, १९५७, भा०भं०,इलाहाबाद, पृ० ११—१२

बताया । ट्रैजेडी का विवेचन 'काव्यशास्त्र ' में उपलब्ध भी होता है[१] तो कामेडी के सम्बन्ध में अरस्तू मौन है । परवर्ती नाट्यशास्त्री निकाल महोदय ने चार प्रकार के नाटक जोड़े जोड़े करके बताए —ट्रैजेडी, मैलोड्रामा, कामेडी, फार्स ।[२] रौनाल्ड पीकाक का मत है कि जिस प्रकार कार्य अपने कर्मलेख के कारण अभिनयात्मक है, उसी प्रकार ट्रैजेडी अधिकाधिक अभिनयात्मक है क्योंकि उसमें दैवी आदेश और न्याय का विश्व में तथा मानवजीवन में उसके अच्छे बुरे में विश्वासों का बोध करवाता है, इससे अर्थ जटिल, गम्भीर तथा उत्कृष्ट होते हैं ।[३] एफ०एल० ल्यूकस ने भी ट्रैजेडी की स्पष्ट परिभाषा दी ।[४]

भारतीय काव्य में गम्भीर नाटक तो बहुत लिखे गए किन्तु दु:खान्त नाटकों का सर्वथा अभाव रहा । करुण रस के परिपाक में शारीरिक यातनाओं का विधान था किन्तु वध, मृत्यु आदि के दृश्य से त्रास उत्पन्न करना नहीं चाहते थे । अत: मृत्यु के मुख में जाते हुए मात्र लौट आते थे जबकि ट्रैजेडी में घोर मानसिक एवं शारीरिक कष्टों के साथ मृत्यु निश्चित है । संस्कृत में अपवादस्वरूप भास के 'प्रतिमा' तथा 'उरुभंग' दु:खान्त नाटक हैं । कदाचित इसलिए कि दुर्योधनादि जैसे पात्र की मृत्यु सामाजिकों में क्षोभ का कारण नहीं हो सकता ।

अरस्तू के अनुसार 'कामेडी 'निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण है तथा उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेश या अमंगलकारी नहीं होता ।[५] निकाल महोदय के अनुसार कामेडी का प्रभाव सामान्यतया प्रसन्नतापूर्ण एवं हिक्ला

---

१. डॉ० नगेन्द्र :'अरस्तू का काव्यशास्त्र ' , प्र०सं०, १९५७, भा०भं०, इलाहाबाद, पृ० ११–१२

२. ए० निकाल : 'थ्योरी आव ड्रामा', १९३१, पृ० ८५

३. रौनाल्ड पीकाक :' दि आर्ट आव प्ले ', प्र०सं०, १९५७(रूटलेज एण्ड कैगन पाल, लन्दन, पृ० १६३

४. "Tragedy is simply one fruit of human instinct to tell stories to reproduce and recast experience, and since experience is often sad so are its copies"

एफ०एल०ल्यूकस :'ट्रैजेडी', १९५७, पृ० १७७

५. डॉ० नगेन्द्र :'अरस्तू का काव्यशास्त्र',प्र०सं०,१९५७,भा०भं०,इलाहाबाद,पृ० १७

होता है ।[१] मैलोड्रामा ट्रैजेडी के अनुकूल होता है किन्तु वह श्रेष्ठता नहीं होती । यह ग्रीक शब्द Μέλος एक गीत से ग्रहण किया गया है जिसमें एक संख्या में काव्य गीतों का प्रयोग किया जाता था । १८ वीं शताब्दी की संगीतात्मक नाटकों की ओर बढ़ती हुई रुचि के साथ मैलोड्रामा सनसनीदार, चरित्रचित्रण की उपेक्षा करते हुए प्रभावोत्पादकता मात्र के लिए दु:खपूर्ण उत्साह का प्रदर्शन करते थे ।[२] रौनाल्ड पीकाक के मत से मैलोड्रामा अपनी सम्पूर्ण असत्यता के साथ, कुलीनवंशीनायक और खलपात्र के रूप में पुण्य और पाप के संघर्ष की यथार्थता को दर्शकों के मस्तिष्क में धारणा कराने पर निर्भर करता है ।[३] मैलोड्रामा अन्तर्मन को आकर्षित नहीं करता है क्योंकि अस्वाभाविक चरित्र-चित्रण के साथ कथा का विकास भांड या स्वांग के समान होता है । फार्स या प्रहसन कामेडी का विकृत रूप है । शब्द विज्ञानियों के अनुसार फार्स शब्द लैटिन के फारसिओ (Farcio) से निकला है जिसका अर्थ है उस प्रकार का नाटक जिसमें निम्नश्रेणी का हास्य और वचनविदग्धता में भी अतिशयोक्ति होती है ।[४] पुनरुत्थान काल में जब `फार्स` शब्द से परिचय हुआ, विशेषप्रकार की हास्य प्रधान टैकनीक का प्रयोग बिल्कुल ही नहीं पाया गया बल्कि पांच के स्थान पर तीन अंकों के छोटे छोटे हास्य नाटक प्रसिद्ध होने लगे ।[५]

हिन्दी नाट्य-साहित्य में भारतीय तथा पाश्चात्य नाटकों के अनेक रूपों के अनुकरण के फलस्वरूप टैकनीक के विविध प्रयोगों का रूप दिखाई पड़ा । नाटकों के विभिन्न प्रकारों में रचना-विधान की दृष्टि से भेद उत्पन्न हुआ । इस दृष्टि से हिन्दी नाटकों को देखते हुए निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं ——

१. नाटक ——

एक से अधिक अंकों और प्रत्येक अंक में अनेक दृश्यों का विधान, विस्तृत

---

१. ए० निकाल : `दि थ्योरी ऑफ ड्रामा`, १६३१, पृ० ८७
२. वही, पृ० ८८
३. रौनाल्ड पीकाक : `दि आर्ट ऑफ ड्रामा`, १६५७, पृ० १६२
४. ए निकल: `दि थ्योरी ऑफ ड्रामा`, १६३१, पृ० ८७
५. हूग्स : `ए सैन्चुरी ऑव इंगलिश फार्स`, १६५६ , पृ० ७

कथा जिसमें नायक के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश डालने की क्षमता हो आदि विशेष-ताओं से युक्त अनेकांकी नाटकों की रचना हिन्दी नाट्य-साहित्य के प्रारम्भिक काल में ही होने लगी जिसका क्रम उत्तरोत्तर चलता ही गया। प्रारम्भिक काल के नाटकों में नांदी, भरतवाक्य, प्रस्तावना, विष्कंभक, अंकावतार का विधान प्राचीन भारतीय नाट्य-शिल्प की ओर हमारा ध्यान एकाएक खींच ले जाता है।[1] भारतेन्दु युग में भी पूर्णतया भारतीय नाट्य-रचना विधान के आधार पर लिखे गए नाटकों का अभाव ही रहा क्योंकि स्वयं युगप्रवर्तक भारतेन्दु ने अंग्रेजी नाटकों के शिल्प की ओर ध्यान दिया। लाला श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी, शालिग्राम, गोपालराम, रायदेवीप्रसाद, कृष्णानन्द द्विवेदी आदि नाटककारों ने भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशिल्पों के समन्वय से अपने नाटकों की रचना की। हिन्दी में दुखान्त नाटक की योजना पाश्चात्य प्रेरणा का फल है।[2] पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार ट्रैजैडी का अर्थ जटिल, गम्भीर और उत्कृष्ट होता है तथा अनुभव बहुधा शोकार्त होते हैं अतः यह नाट्यरूप भावाभिव्यक्ति तथा अनुभव के लिए मानव सहजवृत्ति का एक सामान्य परिणाम है। हिन्दी के इन दुखान्त नाटकों में वस्तु का चयन सामान्य जीवन से हुआ तथा मानवी चरित्रों का चित्रण भी अच्छा हुआ। इन नाटकों के विकास में कलात्मकता का पर्याप्त समावेश दिखाई पड़ा। द्वन्द्व को प्रमुखता मिली। भारतेन्दु युग के पश्चिमी प्रभाव युक्त नाटक विशेष रूप से शैक्सपियर से अधिक प्रभावित दिखाई पड़े। प्रेम प्रधान स्वच्छन्दतावादी नाटकों पर उपर्युक्त पश्चिमी नाटककार की खूब छाप पड़ी एवं इन नाटकों में रस की अपेक्षा प्रभावोत्पादकता को स्थान मिला। दुखान्त नाटकों के समावेश से नाटक साहित्य को नया रूप और जीवन प्रदान किया गया। प्रख्यात अथवा पौराणिक इतिवृत्त के साथ साथ राजनीति देशप्रेम, सामाजिक सुधार आदि से संबंधित विषय का चुनाव करके नाटकीय प्रदर्शन अंग्रेजी नाटकों का प्रत्यक्ष प्रभाव है। श्रीनिवासदास आदि के दुःखान्त नाटकों में पश्चिमी नाट्य कथावस्तु के अनु-कूल चरमसीमा को स्थान मिला। इनमें घोर मानसिक एवं शारीरिक कष्टों के अति-

---

१. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'सत्यहरिश्चन्द्र' (१८७४) (तृतीय अंक में अंकावतार)
२. दे० लाला श्री निवासदास : 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (१८७७ई), शालिग्राम: 'लावण्यवती, सुदर्शन' (१८९२ ई०), भारतेन्दु : 'नीलदेवी' (१८८१)

रिक्त मृत्यु निश्चित होती है। इसका पालन हमारे नाटककारों ने अपने दु:खान्त नाटकों में पश्चिमी प्रभाव के फलस्वरूप दिखाने की चेष्टा की। कथावस्तु में जहाँ बाह्य जगत का संघर्ष अधिक है अथवा प्रेम आदि भावों का चित्रण है, प्रतिनायक की कल्पना की गई है।[१] फिर भी दुखान्त नाटकों का हिन्दी में अभाव ही रहा। अंकों में गर्भांकों की योजना बंगला के माध्यम से अंग्रेजी रचना विधान का अनुकरण भारतेन्दु युग के नाटकों में 'सीन' का समानार्थी दिखाई पड़ा।[२]

हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु जी के बहुत दिनों के पश्चात् प्रसाद द्वितीय प्रतिभावान नाटककार हुए जिन्होंने नाट्य-शिल्प की दृष्टि से एक नया युग आरम्भ किया। उनके नाटकों में नाट्यकला के उल्लेखनीय तत्त्व उपलब्ध होते हैं। उनके नाटकीय संकेत भारतेन्दु जी के संकेतों की अपेक्षा अधिक व्यापक और उपयोगी सिद्ध हुए। इन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-शिल्प के समन्वय से एक नवीन परम्परा का सूत्रपात किया जिसका अनुकरण उनके समकालीन नाटककारों ने भी किया। प्रसाद के नाटकों में कार्य,द्वन्द्व की नाटकीय सक्रियता पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों की विशेषताओं के अनुकूल हुई। व्यक्तिगत और वर्ग-गत दोनों प्रकार के संघर्षों की अवतारणा प्रसाद के नाटकों में पाई गई। संघर्ष और सक्रियता को नाटक के प्राण के रूप में दिखाकर चरमसीमा की सृष्टि की।[३] दोहरे कथावस्तु का विधान पाश्चात्य नाट्यकला की देन है। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में एक साथ कई कथाओं का सृजन करके अच्छी तरह निभाया। भारतीय नाट्याचार्यों के वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से भी प्रसाद के पूर्वोक्त नाटक सफल हैं। इनके प्रारम्भिक नाटकों में प्रारम्भ मंगलाचरण और अन्त भरत वाक्य से हुआ। अत: भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों के समन्वय से प्रसाद ने अपने नाटकों की सृष्टि की, कहना उपयुक्त है। पाश्चात्य मानदण्ड से इनकी रचनाएं अधिक सफल दिखाई पड़ती हैं। वर्जित दृश्यों का रंगमंच पर दिखाना पूर्णतया पश्चिमी प्रभाव है। प्रसाद के ब

---

१. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७४), नीलदेवी (१८८१)

२. दे० श्रीनिवासदास : 'संयोगिता स्वयंवर' (१८८५), 'रणधीर प्रेम मोहिनी' (१८७७) आदि

३. दे० जयशंकर प्रसाद : 'स्कन्दगुप्त' (१९२८ ई०), 'चन्द्रगुप्त' (१९३१) आदि

नायक भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुकूल केवल आदर्श देवता ही नहीं है वरन् उनमें मानवोचित अभिमान का रूप भी विद्यमान है।[१] इनके नाटकों में विदूषकों की योजना राज-परिवार के स्नेह-भाजन, समीपवर्ती होने से यथा समय स्वच्छन्दतापूर्वक उनकी परिस्थितियों, मनोवृत्तियों के आलोचक के रूप में हुई।[२] प्रसाद युग में प्राय: सभी नाटकों में यह प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। किन्तु प्रसाद के प्रौढ़ नाटक `ध्रुवस्वामिनी` में विदूषक का प्रवेश नहीं है। बाद में प्रसाद ने मंगलाचरण, प्रस्तावना, प्रवेशक, विष्कंभक आदि प्राचीन नाट्य नियमों का पूर्णतया उल्लंघन किया। इन्होंने अंक और दृश्य विभाजन में स्वच्छन्दता का परिचय दिया। कहीं दृश्य के लिए केवल अंक संख्या का प्रयोग किया।[३] `स्कन्दगुप्त` में तो दृश्यान्तर के समय `पटपरिवर्तन` या `पटाक्षेप` का प्रयोग हुआ। `ध्रुवस्वामिनी` में केवल अंक है। उनके समकालीन नाटककारों ने इस संबंध में उनका अनुकरण नहीं किया। प्रसाद ने अपने नाटकों में भारतीय सुखान्त तथा पाश्चात्य दु:खान्त का अनुकरण न करके दोनों के मध्य का मार्ग ढूंढ़ निकाला जिसमें दार्शनिकता का पुट दिया।

हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रतीकात्मक नाटकों के उदाहरण भारतेन्दु से ही प्राप्त होने लगे और सन् ४७ तक अनेक ऐसे नाटकों की रचना हुई जिनपर कृष्ण मिश्र के `प्रबोधचन्द्रोदय` नामक प्रतीकात्मक नाटक की टैकनीक का प्रभाव मंगलाचरण, प्रस्तावना भरतवाक्य तथा प्रतीक पात्रों के चयन पर स्पष्ट दिखाई पड़ा किन्तु पाश्चात्य एलिगरी या रूपक की शैली का भी कम प्रभाव नहीं है।[४] द्वादश पदानान्दी, कथोद्घात नामक प्रस्तावना का समावेश `मायावी` नाटक में प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुकूल है किन्तु अन्तर्द्वन्द्व का समावेश पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का स्पष्ट प्रभाव है। अन्य नाटकों की तरह ये नाटक भी साहित्यिक, आध्यात्मिक, सामाजिक,

---

१. दे० जयशंकर प्रसाद : `स्कन्दगुप्त`, बारहवां सं०, सं० २०१३ वि०, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पृ० १४१

२. जयशंकर प्रसाद : `स्कन्दगुप्त `(१९२८) `अजातशत्रु` (१९२२) आदि

३. जयशंकरप्रसाद : `राज्यश्री` (१९१५)

४. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : `भारतदुर्दशा` (१८७६), जयशंकर प्रसाद : `करुणालय` (१९१२), `कामना` (१९२७), ज्ञानदत्तसिंह : `मायावी` (१९२२ ई०)

राजनैतिक,सांस्कृतिक,मनोवैज्ञानिक हुए ।[१]

प्रसादोत्तर काल के नाटकों पर पाश्चात्य नाट्यकला का पूर्ण प्रभाव रहा । अब तक भारतीय प्रभाव बिल्कुल समाप्त हो गया । हिन्दी में समस्या नाटकों का जन्म बर्नार्ड शा और हैनरिक इब्सन (१८२७-१९०६), गाल्सवर्दी (१८६७- १९३३) के अनुकरण पर हुआ जिसमें द्वन्द्व को पूर्णतया बुद्धि के अधीन छोड़ दिया गया । बौद्धिक विवेचना एवं विवादास्पद सिद्धान्तों से कार्य व्यापार का सूक्ष्म रूप नाटक में दिखाई पड़ा । इन नाटकों में घटनाओं का विशेष महत्त्व नहीं रहा । पात्रों के वाग्संघर्ष अवश्य रोचक रहे । भौतिक कार्य व्यापार नगण्य रहे ।[२] अधिकांश समस्या नाटकों में नारी ही समस्या की जननी हुई । प्राय: अधिक नारी पात्र तर्क-वितर्क में प्रवीण हुई । राजनीतिक समस्याओं का भी अभाव नहीं है । इस काल के ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों में सुखान्त और दु:खान्त दोनों प्रकार के नाटक लिखे गये । सेठ गोविन्ददास, अश्क, प्रेमी आदि नाटककारों ने पूर्णतया पाश्चात्य नाट्य-कला के आधार पर अपने नाटकों का सृजन किया किन्तु प्रसाद,प्रेमी,भट्ट जी तथा गोविन्दवल्लभ पन्त , वृन्दावनलाल वर्मा आदि भारतीय नाटक कारों ने नाट्यकला में अपनी स्वच्छन्द पद्धति के मिश्रण से ही पाश्चात्य नाट्यकला का भी अनुकरण किया । प्राचीन इतिहास, पौराणिक कथाओं, आधुनिक सामाजिक विकृतियों , अपराधों आदि सभी प्रकार के नाटकों में नाटककारों ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति दिखाई । इन नाटकों में कल्पना, भावना और कवित्व का स्वच्छन्द होकर प्रयोग हुआ । किसी विशेष नाट्यशास्त्रीय नियमों के बन्धन से नाटककार मुक्त रहे । निरूपण शैली तथा भावोन्मुख अभिव्यक्ति की कुशलता की विभिन्नता से विभिन्न नाटककारों के

---

१. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव : `पत्रपत्रिकासम्मेलन` (१९२५) ,स्वामी केशवानन्द :`लीला-विज्ञानविनोद` (१९११) एक जातीय हितैषी : `मारवाड़ी घी` (१९१७), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :` भारतदुर्दशा` (१८७६), इन्द्र विद्यावाचस्पति : `स्वर्णदेश का उद्धार (१९२१), जयशंकर प्रसाद :`कामना` (१९१७) आदि ।

२. पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र :`सिन्दूर की होली` (१९३४)`राजयोग`(१९३४)`सन्यासी` (१९३१),`राक्षस का मन्दिर`(१९३१), सेठ गोविन्ददास:`सेवापथ`(१९४०) ;`प्रकाश` (१९३५), गोविन्दवल्लभ पन्त:`अंगूर की बेटी` (१९३७), उपेन्द्रनाथ अश्क : `स्वर्ग की झलक`(१९४०), पृथ्वीनाथ शर्मा :`अपराधी` (१९३६), हरिकृष्ण प्रेमी : `छाया` (१९४१)`बंधन` (१९४१) आदि ।

नाटकों में विभिन्न शक्ति आई । इन नाटकों में द्वन्द्व की स्थिति भी तीव्र रूप में रही । शास्त्रीय पद्धति की अवहेलना के फलस्वरूप नाटकों के नायक समाज के किसी भी क्षेत्र से चुने जाने लगे । रूढ़िवादी शास्त्री नियमों की सीमा का उल्लंघन विकास का चिह्न हुआ क्योंकि नाटक धीरे धीरे निष्प्राण होने से बच गए । सेठ गोविन्ददास के नाटकों में पाश्चात्य शास्त्रीय पद्धतियों का अधिक अंश में पालन हुआ है । उन्होंने उपक्रम तथा उपसंहार की योजना मुख्य घटना और उसके बीच कुछ काल बीतने वाला है या बीत गया है, इसकी जानकारी पाठकों या दर्शकों के देने के लिए की[१]। यह पाश्चात्य `प्रोलोग` और `एपिलोग` का अनुकरण है । सेठ जी ने कहीं कहीं उपक्रम में परोक्ष एवं सांकेतिक विधान का प्रयोग किया । `प्रकाश` के उपक्रम में चीनी मिट्टी की पालिशदार दूकान में सांड़ का प्रवेश परिवर्तन रूपी सांड़ का द्योतक है । उस परिवर्तन का श्रेय प्रकाश को है । उपसंहार में उपक्रम वाली दूकान में लोगों ने सांड को रस्सियों से बांध लिया है किन्तु सभी बर्तन गिरकर टूट गए हैं अर्थात् प्रकाश पकड़ तो लिया गया परन्तु सिद्धान्तों और आदर्शों की आड़ में स्वार्थसिद्धि करने वाले दामोदरदास,अजयसिंह आदि पात्रों की पालिश को समाप्त कर एवं वास्तविकता को प्रकाशित करके ।

सेठ जी के दुखान्त नाटक भी पश्चिम की देन हैं ।[२] रंग संकेत बहुत विस्तृत होना भी पश्चिम का प्रभाव है ।[३] सेठ गोविन्ददास,लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा अश्क के नाटकों में विस्तृत रंग संकेतों का रूप पाया जाता है । हरिकृष्ण प्रेमी, ने तो अपने सभी नाटकों में सामान्य रंगसंकेत का विधान किया । शॉ आदि पश्चिमी नाटककारों से प्रभावित होकर अश्क आदि ने ऐसे दुखान्त भी लिखे जिनमें न किसी की हत्या होती है और न कोई मरता है किन्तु नाटक का सम्मिलित प्रभाव दुःख और व्यथा से पूर्ण विषाद के रूप में रह जाता है ।[४] माता-पिता की आशाओं की ट्रैजेडी

---

१. सेठ गोविन्ददास : `प्रकाश` (१९३५) `गरीबी या अमीरी` (१९४७), `कर्ण` १९४६ आदि ।

२. वही (१९४७) `कर्त्तव्य` (१९३५)

३. सेठ गोविन्ददास : `प्रकाश ` (१९३५) `महत्त्व किसे ?` (१९४७) आदि

४. उपेन्द्रनाथ अश्क : ` कैद ` (१९४५), `छठा बेटा (१९४०)

का रूप अश्क के `छठा बेटा` में सफल रूप में चित्रित हुआ ।

प्रहसन—

हिन्दीमेंनाटकों के अतिरिक्त प्रहसन की परम्परा के जन्मदाता भी भारतेन्दु ही हैं । उन्होंने वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल प्रहसनों को जीवन का प्रतिबिंब और उसकी व्यंजना करने वाले माध्यम के रूप में स्थापित कर उसे आधुनिक नाट्य-प्रणाली के उपयुक्त बनाया । भारतेन्दु ने अपने प्रथम प्रहसन के आरम्भ में 'नांदी' तथा अन्त में 'भरत वाक्य' का विधान किया एवं 'नांदी' के बाद 'सूत्रधार' और 'नटी' के माध्यम से 'प्रस्तावना' का कार्य सम्पन्न किया । पाखण्डी पुरोहित, धूर्त शिरोमणि साधुवेश में ब्रह्मचारी गंडकीदास, विदूषक आदि का चरित्र और अंगी रसहास्य का प्रयोग भारतीय नाट्य-कला का अनुकरण है । इन प्रहसनों में वेष, भाषा और पात्र के अनुरूप संस्कृत, हिन्दी तथा अँग्रेजी भाषा का प्रयोग तथा तदनुरूप चेष्टा पाई जाती है । [१] जहाँ तक प्रहसनों का संबंध है पाश्चात्य प्रहसनों की भी लगभग यही विशेषताएं हैं । नवयुगीन प्रहसनों में सामाजिक जीवन पर व्यंग्य अधिक किये गए । भारतेन्दुयुगीन प्रहसनों में भी प्राय: यही गुण पाये जाते हैं फिर भी संस्कृत प्रहसनों की नाट्य-कला का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पड़ता है । भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने प्रहसनों के निर्माण में हास्य और कौतुक की सृष्टि करके मनोरंजन का उद्देश्य रखा था तथा इन प्रहसनों के अतिशयोक्ति पूर्ण व्यवहारों , अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद भाव-भंगिमाओं के मध्य भी सामाजिक बाह्याडम्बरों के प्रति व्यंग्य उपस्थित किया एवं इन आचरणों के प्रति समाज को सजग होने की शिक्षा दी । भारतेन्दु ने अपने दूसरे प्रहसन में पूर्णतया असम्भावित एवं मिथ्या आधारों पर अस्वाभाविक घटनाओं, बनावटी अतिरंजना की सृष्टि की । इस प्रहसन में क्रूज की बात सही उतरती है कि `फार्स लेखक की सीमा आकाश तक है, कोई बंधन नहीं है । प्रत्येक छल या अविकास उनके लिए वैध है । आदि[२] भारतेन्दु युग के प्रहसन लिखने वाले नाटककारों में राधा-

---

१. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :` वैदिकीहिंसा हिंसा न भवति `(सं० १९३०), अंधेर-नगरी (सं० १९३८)

२. दे० क्रूज :` ए सेन्चुरी आव इंगलिश फार्स `, १९५६, पृ० २०

चरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, देवकीनन्दन त्रिपाठी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं[१]। जिन्होंने रचना-विधान में प्राय: भारतेन्दु जी का अनुकरण किया। इस काल के प्रहसन लेखकों ने समाज की विविध बुराइयों पर व्यंग्य किया जिससे मनोविनोद के साथ सुधार भी हुआ। इन प्रहसनों में पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के संकलनत्रय का पालन पूर्णरूप से हुआ। हिन्दी प्रहसनकारों ने पाखण्ड, सामाजिक कुरीतियाँ जैसे बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, फैशन, लोभ, बहुविवाह, वेश्यावृत्ति, मद्यपान आदि को अपने प्रहसनों का विषय चुना। इन विषयों को कभी वाक्चातुर्य, श्लेष, व्यंग्य और उपहास के द्वारा और कभी आकस्मिक परिस्थिति के द्वारा हास्योत्पादन के लिए चुना। जी०पी० श्रीवास्तव के प्रहसनों में शिष्ट हास्य का पूर्ण अभाव है।[२] मनुष्य की मानवी भावनाओं जैसे लोभ, गर्व आदि को प्रहसनों का विषय चुनना अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव है।

भाण-

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाण का उदाहरण हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रस्तुत किया।[३] एक ही पात्र भंडाचार्य रंगमंच पर उपस्थित होकर प्राय: लंबी सांस लेकर ऊपर देखते हुए अपने द्वारा अनुभूत महाराज मल्हार राव के धूर्ततापूर्ण कम

---

१. (क) राधाचरण गोस्वामी : `बूढ़े मुंह मुंहासे` (१८८७), `तनमन-धन गोसाईं जी के अर्पण` (१८९०), भंगतरंग (१८९२)

(ख) बालकृष्ण भट्ट : `जैसा काम वैसा परिणाम` (१८७७)

(ग) देवकीनन्दन त्रिपाठी : `बैल छ: टके को` (१८७७), `जयनारायण सिंह की` (१८७६), `एक एक के तीन तीन` (१८७९) आदि।

२. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव : `उलटफेर` (१९१८), `गड़बड़झाला` (१९१९) आदि

३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : `विषस्यविषमौषधम्` (सन् १८७६)

कार्यों का वर्णन करता है। उपर्युक्त पात्र की बात से ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी अन्य पात्र की कल्पना करके उसको सम्बोधित करता हुआ अपने मन से उत्तर प्रत्युत्तर करता जाता है। एक अंक तथा कल्पित कथा आदि भी पूर्णतया भारतीय व संस्कृत नाट्य शिल्प के भाण का स्मरण दिलाते हैं।

व्यायोग—

भारतेन्दु-युग में भारतीय नाट्यशास्त्र के लक्षणों से युक्त व्यायोग के हिन्दी उदाहरण नाटककारों ने हमारे समक्ष रखे। अधिकांशत: इतिहास-प्रसिद्ध उद्धत व्यक्ति पर कथा आश्रित हुई तथा प्रधान रस रौद्र रखने का सफल प्रयास हुआ। प्रख्यात तथा धीरोद्धत नायक तथा स्त्री पात्रों का अभाव इस काल के व्यायोग में पाया गया। कहीं कहीं तो स्त्री पात्रों को व्यायोग में रखा ही नहीं गया।[१] हिन्दी में ऐसे कई व्यायोग प्राप्त होते हैं जिनमें संस्कृत नाट्याचार्यों द्वारा स्थिर किए गए नियमों का अधिक अंश में पालन हुआ।[२] हरिऔध जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने व्यायोग की रचना कांचन कवि के संस्कृत व्यायोग 'धनंजय विजय' के हरिश्चन्द्र कृत अनुवाद से प्रेरणा प्राप्त करके की है। नाट्यशास्त्र के नियमानुसार व्यायोग के अनुकूल युद्ध तथा अन्य पात्रों का सृजन किया। प्रधान रस वीर है। पद्य भाग अधिक, गद्य भाग कम है। कथा पौराणिक है। रामचन्द्र विजयसूरि ने भी हिन्दी नाट्य साहित्य को स्वरचित व्यायोग से समृद्ध किया।[३]

नाटिका—

प्राचीन भारतीय नाट्य पद्धति के अनुसार हिन्दी में नाटिका की

---

१. वामनाचार्य गिरि : 'वारिदनाद वध-व्यायोग' (१९०४ ई०) सं० १, लहरी प्रेस, काशी।

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : 'प्रद्युम्नविजय व्यायोग' (१८९३ ई०)

३. रामचन्द्र विजयसूरि : 'निर्भय भीम व्यायोग', प्र०सं०, १९१५, ग्रन्थमाला कार्यालय, बांकीपुर।

रचना भारतेन्दु जी द्वारा पूर्णतया सफल रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत की गई।[1] चार अंकों में कवि कल्पित कथा तथा अधिकांश स्त्री पात्रों की योजना, धीर ललित नायक कृष्ण, अनुरागवती नायिका चन्द्रावली, कैशिकी वृत्ति का चारों अंकों में पालन आदि बातें भारतीय नाट्य-कला के सिद्धान्तों के अनुकूल हैं। नांदी और प्रस्तावना विष्कंभक तथा अन्त में भरतवाक्य संस्कृत परिपाटी के सर्वथा अनुकूल हैं। इसमें अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, संधियों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु जी ने अपनी अपूर्ण रचना `प्रेम-योगिनी` को भी नाटिका की संज्ञा दी है तथा अष्टपदा नांदी पाठ से इसका आरम्भ कराकर सूत्रधार और पारिपार्श्वक से प्रस्तावना का कार्य सम्पन्न कराया किन्तु इसके आगे भारतीय नाट्यशास्त्र के रचना-विधान से बिल्कुल मेल नहीं है। प्रथम अंक के चार गर्भाङ्कों की रचना ही नाटककार कर सकता है जिनमें क्रमश: काशी के चार पृथक सामाजिक चित्र दिखाकर अनुपम व्यंग्य उपस्थित किया है। भारतेन्दु-युग में नाटिका के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।[2] कहीं कुब्जा को प्रगल्भा और राधिका को अनुरागवती नायिका मानकर नाटिका की रचना हुई।[3] कुछ अपवादस्वरूप नाटिकाएं भी प्राप्त होती हैं जिनपर भारतीय नाट्यशास्त्र की रचना विधि का नाम मात्र को ही प्रभाव है। ललिताचरण गोस्वामी की नाटिका में स्त्री पात्र दो प्रमुख रूप से और तीन नर्तकियां आई हैं और पुरुष पात्र अनेक हैं। इस नाटिका का उद्देश्य गंगाबाई और यमुनाबाई का चरित्र-चित्रण करना है। इसमें रस, वृत्ति आदि किसी भी विधान का पालन भारतीय नाट्य-पद्धति पर नहीं हुई। नायक के योग्य कोई

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : `श्री चन्द्रावली` (१८७६ई०)

२. दे० (क) विद्याधर त्रिपाठी : `उद्धवशीठि नायिका` (१८८७)

(ख) सूर्यनारायण सिंह :` श्यामानुराग नाटिका` (१८६६) आदि

(ग) लाल खड्गबहादुर मल्ल: `हरितालिका नाटिका` (१८८५ई०)

(घ) बांके बिहारी लाल : `सावित्री नाटिका,` (१६०८)

३. विद्याधर त्रिपाठी `रसिकेश` : `उद्धवशीठिनाटिका` , (१८८७)

पात्र नहीं है ।[1] कृष्ण से प्रेम रखने वाली एक प्रधान गोपी ललिता को भी नाटिका के लिए हिन्दी नाटक में चुना गया ललिता की श्रेष्ठ भक्ति और प्रेम की चार अंकों में शृंगार रस प्रधान नाटिका भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुकूल है ।[2]

रामदास उपाध्याय,[3] वियोगी हरि,[4] वीरेश्वर सिंह[5] आदि ने भी हिन्दी में नाटिकाएं लिखीं । प्रसाद-युग में नाटिकाओं की रचना प्राय: नहीं हुई । प्रसादोत्तर-युग में `भगवतीप्रसाद`पान्थरी` ने अपनी रचना को नाटिका नाम दिया ।[6] और प्राचीन भारतीय नाट्य पद्धति के अनुसार विदूषक, धीरललित नायक, स्त्रियों से विशेष अनुराग रखने वाला चित्रित किया किन्तु इसकी नायिका पद पद पर मान करने वाली नहीं है वरन् नायिका को तो नायक व्यभिचारिणी कह कर उसका बहिष्कार करता है । अन्त में अपनी भूल पर पश्चाताप करता हुआ नायिका को बुलाता है । इस में पाश्चात्य नाट्य-रचना-विधान का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है । अन्तर्द्वन्द्व और आत्मस्वीकृति द्वारा 'मैकबेथ' और 'ओथेलो' का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । स्त्री पात्र भी अधिक नहीं है । इधर विदूषक पाश्चात्य `क्लाउन` या `फूल` के समान केवल मजाकिया पात्र न होकर भारतीय विदूषक के समान नाटकीय व्यापार में सक्रिय योग देने वाला रखा गया । अत: इसमें भारतीय और पाश्चात्य का समन्वयात्मक रूप दिखाई पड़ा ।

नाट्यरासक —

भारतेन्दु जी ने भारतीय उप रूपक नाट्यरासक का अनुकरण हिन्दी में करने की चेष्टा की ।[7] मंगलाचरण से आरम्भ तथा अनेक ताल और लय का प्रयोग

---

१. दे० ललिताचरण गोस्वामी : `वनविहार नाटिका` (१६२५ ई०)
२. अम्बिकादत्त व्यास : `ललिता` (१८८४ ई०)
~~३. भगवतीप्रसाद पान्थरी : `काल्पी` (२२ सि०, १६३५)~~
३. रामदास उपाध्याय : `आनन्दविजयाभिधान नाटिका`, वैशाली प्रेस, मुजफ्फरपुर
४. वियोगी हरि : `श्री छद्मयोगिनी नाटिका` साहित्य भवन, प्रयाग
५. वीरेश्वर सिंह : `बिजली नाटिका`, साहित्य मंडल, दिल्ली
६. भगवतीप्रसाद पान्थरी : `काल्पी` (२२ सित०, १६३५)
७. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : `भारत-दुर्दशा` (१८८० ई०)

भारतीय नाट्यशास्त्र के नाट्यरासक के सर्वथा अनुकूल है किन्तु अंक तथा रस एवं पात्र-योजना की दृष्टि से पूर्णतया असंगत दिखाई पड़ता है। एक अंक के स्थान पर छ: अंक प्रयुक्त हुए। जहाँ तक अंकों का संबंध है इन्हें छ: दृश्य मान लेना अधिक उपयुक्त है किन्तु नायक तथा उपनायक की सृष्टि भारतीय पद्धति के अनुरूप नहीं हुई है। विषय निर्वाचन, वस्तु संगठन तथा अन्त का दु:खपूर्ण नायक की मृत्यु से होना पाश्चात्य नाटक रचना-विधान के सर्वथा अनुकूल हुआ। पश्चिमी सहेतुक व्यंग्य शैली के माध्यम से सामाजिक परिष्कार की दृष्टि अवश्य अपनाई गई। अत: यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि गीतों के बाहुल्य के कारण लास्य या नाट्यरासक रूपक नाम दिया जाना संगत है किन्तु नाट्यरासक के सम्पूर्ण लक्षण इसमें विद्यमान नहीं हैं। नाट्यरासक में शृंगार रस अपेक्षित है और इसमें आरम्भ से अन्त तक कारुणिकदृश्य उपस्थित किये गये हैं।

गीति रूपक—

हिन्दी नाटक का दूसरा प्रकार गीति रूपक है। इसमें गीतों की प्रधानता के साथ गीतिमय कथोपकथन एवं नाटकीयता का समावेश होता है। ये अनेकांकी भी हैं और एकांकी भी। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम हिन्दी नाट्य साहित्य को ऐतिहासिक गीति रूपक भेंट किया। यह पाश्चात्य 'ऑपेरा' शैली से प्रभावित दिखाई पड़ता है। तीन अप्सराओं के सम्मिलित गायन की योजना पाश्चात्य परंपरा की छाया लिए है। यह नाटक गीति प्रधान है अत: स्वयं भारतेन्दु ने इसे 'गीति-रूपक' नाम दिया। यह गीतिरूपक दस दृश्यों में निबद्ध है। इसमें कहीं कहीं पारसी नाट्य पद्धति का प्रभाव भारतेन्दु पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।[2] इसमें गीतों के माध्यम से संवादों का अभाव है। संवाद के लिए गद्य की भाषा प्रयुक्त हुई तथा प्रतिनायक के समावेश से नाटकीय गति में घातप्रतिघात और संघर्ष की सृष्टि की गई। अनेक पात्रों एवं कथा के सांगोपांग विचार तथा चरमसीमा के विस्तार से

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'नीलदेवी' (सन् १८८१)

२. वही (चौथा दृश्य)

'नीलदेवी' नाटक की श्रेणी में आ गया। भारतेन्दु का दूसरा गीतिरूपक भी प्राय: इसी शैली तथा इसी नाट्य-पद्धति पर लिखा गया। अन्तर केवल इतना है कि इसके प्रथम दृश्य में तीन अप्सराएं क्रमश: एक टीले पर बैठी हुई संग झिंझौटी, पीलू तथा रागिनी बहार में गाती हैं तथा अधिक स्थलों पर संवाद भी गीतिमय हैं। सावित्री तथा उसकी सखियाँ, द्युमत्सेन, ऋषियाँ तथा वनदेवी, वनदेवता एवं सावित्री सत्यवान के मध्य गीति के माध्यम से कथोपकथन हुआ।[१] सभी गीतों में रागरागिनियों का उल्लेख भी हुआ। उपर्युक्त पात्रों के मध्य संगीतात्मक संवादों की योजना गीतिरूपक की सार्थकता का परिचय देती है। भारतेन्दु-युग में गीति प्रधान नाटक लिखने की प्रथा रही। किन्तु धीरे धीरे इसका रूप परिवर्तित होने लगा और गीति नाटक में नाटककारों ने पूर्णतया गीतों का समावेश करके संवादों की योजना की एवं कथा का विकास किया। इस प्रकार गीति-नाटकों से गद्य भाग बहिष्कृत हो गया।[२] प्रसाद जी ने अमित्राक्षर अरिल्ल छन्द में पांच दृश्यों में विभक्त पौराणिक गीति-नाट्य हिन्दी नाट्य साहित्य को प्रदान की।[३] प्रसाद का मत है कि गीति-नाट्य हमारे यहाँ अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं[४]। इन्होंने अपने गीति-नाट्य में आकाशभाषित की प्राचीन परम्परा का पालन भी किया। नाट्यकला की दृष्टि से प्रसाद का गीति-नाट्य नगण्य है किन्तु नाट्य-कला के विकास में यह एक आवश्यक कड़ी है। इसमें हरिश्चन्द्र का चरित्र मानवोचित है किन्तु हीन भावों का बोधक है। प्राय: सभी पात्रों का चरित्र अविकसित एवं पौराणिक कथाओं के विपरीत चित्रित है। अन्त-संघर्ष सुन्दर रूप में निभ नहीं पाया है। शेक्सपियर, मिल्टन, वर्डस्वर्थ, कीट्स, शैली टैनिसन, ब्राउनिंग, स्विनबर्न आदि कवियों की अतुकान्त कविताओं का प्रभाव इस गीति नाट्य पर दिखाई पड़ता है। हिन्दी में पाश्चात्य गीतिनाट्यों की प्रेरणा के फलस्वरूप प्रथम गीति-नाट्य हैं। दु:खान्त होते होते सुखान्त होकर प्रसादान्त हो गया है। शेक्सपियर के ब्लेंकवर्स के अनुकरण पर रचीगयी यह अतुकान्त गीति-नाट्य है। प्रसाद तथा मैथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत आदि के गीति-नाट्यों में

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'सतीप्रताप' (१८८३ई०)
२. बाबू लक्ष्मीप्रसाद : 'उर्वशी' (१६१०)
३. जयशंकरप्रसाद: 'करुणालय' (१६१२)
४. डे० डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास' द्वि०सं०, १६५६ राजपाल एण्ड सन्स, कश्मीरीगेट,दिल्ली, पृ० २८२

प्रकृति के रम्य दृश्यों का अधिक विधान किया गया है जिनसे भावमयता और भावों के चिन्तन में अधिक तल्लीनता आई है। यह गीति नाट्य के सर्वथा अनुकूल है।[१] इन गीतिनाट्यों में संगीत की मधुरता अपूर्व हुयी। हिन्दी के कुछ गीतिनाट्यों में भावमयता का प्रवाह अपेक्षाकृत अधिक है। जिससे अनेक नाटक अंतसंघर्ष के भावों को अधिक अंश में चित्रित करने वाले हुए। इस प्रकार हिन्दी में दो प्रकार के गीति-नाट्य हमारी दृष्टि में आए। एक में बहिर्मुखी वृत्ति की प्रधानता दिखाई पड़ी तो दूसरी में अंतर्मुखी वृत्ति की। प्रसाद जी गुप्त जी के गीतिनाट्य की प्रथम और भट्ट जी के गीति-नाट्य द्वितीय प्रकार में आते हैं। गीति नाट्य की सफलता अन्तर्द्वन्द्व मय परिस्थिति की चित्रोपमता में निहित है। भट्ट जी को इसमें अधिक सफलता मिली है। मूलत: गीतिनाट्य प्राचीन हो सकता है किन्तु आधुनिक ~~गीति~~-हिन्दी गीति नाट्यकारों पर अंगरेजी के ब्राउनिंग, शैली आदि का प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है। कुछ विद्वानों ने भावनाट्य को गीतिनाट्य से अलग करने का प्रयत्न किया है किन्तु यह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसका कारण यह है कि गीति-नाट्यस्वयं भावपूर्ण अधिक होते हैं। कुशल नाट्यकार भावों को अभिव्यंजित करने में सफलता प्राप्त करता है और कभी कभी भावों का अभाव भी हो जाता है। जिनमें भावों की अभिव्यंजना अधिक सफल, मार्मिक तथा तीव्र रूप में हो पाई है उन्हें भावनाट्य की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा। वस्तुत: दोनों में अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि भावनाट्य पद्य और गद्य दोनों में हो सकते हैं।

भाव-नाट्य—

हिन्दी में ऐसे अनेक नाटक लिखे गए जिन्हें भावनाट्य की संज्ञा दी जा सकती है। भावप्रधान नाटक पद्य और गद्य दोनों में लिखे जा सकते हैं जबकि गीति-नाट्य गद्य और पद्य के मिश्रण अथवा केवल पद्यात्मक ही हो सकते हैं। उदयशंकर भट्ट,

---

१. दे० जयशंकर प्रसाद : 'करुणालय' (१९१२) मै०श०गुप्त : 'अनघ' (१९२५), उदयशंकर भट्ट : 'मत्स्यगंधा (१९३७) 'विश्वामित्र' (१९३८) 'राधा' (१९४१)

गोविन्दवल्लभ पन्त आदि कुछ नाटककारों के नाटकों को भावनाट्य की श्रेणी में रखना उचित जान पड़ता है।[१] डा० नगेन्द्र ने भावनाट्य का मुख्य रस शृंगार तथा प्रधान-पात्र नारी बताया है तथा 'चन्द्रावली' (भारतेन्दु कृत) को इसी श्रेणी में रखा।[२]

हिन्दी साहित्य में शिल्प की दृष्टि से प्राचीन भारतीय आचार्यों तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट विधियों का ही समन्वयात्मक रूप में पालन हुआ। नाट्यसाहित्य के प्रारम्भिक काल में भारतीय शिल्प का प्रभाव अधिक है किन्तु पाश्चात्य की ओर भुकाव भी कम नहीं है। रूपक के अनेक रूप भारतीय तथा पाश्चात्य प्रेरणा के फलस्वरूप हिन्दी नाटकों में प्रस्तुत किये गए। हिन्दी नाटकों में ट्रैजेडी पूर्णतया भारतीय प्रहसन पाश्चात्य कामेडी, फार्स, भारतीय भाण, पाश्चात्य मोनोएक्टिंग अर्थात् एकाभिनय आदि की तुलना की जा सकती है। ये सभी रूप हिन्दी नाट्य साहित्य में प्राप्त होते हैं। अधिकांश रूपकों के विविध रूपों पर भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के आधार की प्रधानता है। मौलिकता की दृष्टि से प्रसादोत्तरकाल के गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी आदि नाटककारों के स्वच्छन्द धारा के नाटक कहे जा सकते हैं जिनपर किसी नाट्यशास्त्र का प्रभाव नहीं है। ये नाटक पाठ्य अधिक हैं, अभिनेय कम।

---

१. डा० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक' चतुर्थ संस्करण, १९५२ ई०, पृ० १०६

२. उदयशंकर भट्ट : 'मत्स्यगंधा' (१९३७), 'राधा' (१९४१) 'अंबा' (१९३५)

अध्याय — ३

वस्तु

अध्याय ३

कथावस्तु

१. कथावस्तु का सम्बन्ध केवल कथामात्र से न होकर नाटक की सम्पूर्ण घटनाओं और उसके अवान्तर उपाख्यानों के समूह से है। कथानक में एक नायक के जीवन से सम्बन्धित सब प्रकार के उत्कर्ष-अपकर्ष, हानि-लाभ, सुख-दु:खपूर्ण घटनाएं अंकों और दृश्यों में विभाजित करके सामाजिकों के सम्मुख रखी जाती हैं। नाटककार नाटकीय कुतूहल आदि से अंत तक बनाए रखने के लिए सतर्क रहता है। कथानक नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्व है क्योंकि जिस प्रकार आधार के बिना एक स्तम्भ भी नहीं खड़ा किया जा सकता है उसी प्रकार नाटक की रचना के लिए भी थोड़ा या अधिक कथा का आधार नितान्त आवश्यक है। युग परिवर्तन के साथ ही मनुष्य की विचारधारा में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है तथा मानव की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव कथानक के चयन पर पड़ना भी स्वाभाविक ही है। प्राचीन भारतीय एवं प्राचीन यूनानी दुखान्त नाटकों में कथानक अधिकांशत: प्रसिद्ध उच्च परिवारों, राजघरानों से संबंधित कथाओं से लिए जाते थे। प्राय: सभी देशों में समान अवस्था थी किन्तु धीरे धीरे समय परिवर्तित होता गया और सभी देशों में लोग विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ने लगे। वस्तु विन्यास में भी अन्तर आने लगा। क्रमश: शास्त्रीय अवस्था का अभाव होने लगा। नवीन के अनुसार सामाजिक नाटक लिखे जाने लगे तथा धार्मिक एवं पौराणिक विषय को भी नवीन दृष्टिकोण से प्रतिपादित किया जाने लगा। परन्तु कथानक किसी भी युग में नाटक का अनिवार्य तत्व ही बना रहा। वस्तुत: कथानक मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है।

२. प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्रकारों ने कथावस्तु, नायक और रस को रूपकों का भेदक तत्व माना। प्राय: सभी ने कथावस्तु का विवेचन सर्वप्रथम किया है। धनंजय ने अपने ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश के उपसंहार में रूपक को 'नेतृ-रसानुगुण्या कथा' बताया है। तदनुसार रस मुख्य है तथा रस और नेता के अनुकूल ही सुन्दर वचन रचना—

चातुरी से सजाकर चित्र विचित्र कथाओं का प्रणयन करें ।[१] इनमें प्रधान रस है और वस्तु गौण । रस को प्रधानता देने के कारण ही कथावस्तु में जटिलता लाने का प्रयत्न प्राचीन भारतीय नाटककारों ने नहीं किया क्योंकि इससे रस में बाधा पड़ती । नाटककारों ने नाटकों को रसानुकूल बनाने के लिए प्रख्यात चरित्रों में भी काट छांट कर लिया ।[२]

यद्यपि रसोत्पत्ति की धारणा ही नाटक के मूल में बद्ध होती थी तथापि आचार्यों द्वारा कथावस्तु का विस्तृत विवेचन भी किया गया और रूपकों का पहला भेदक भी इसे ही माना गया ।[३]

पाश्चात्य प्राचीन आचार्य अरस्तू ने नाटक में कथानक को विशेष महत्व दिया है । कथानक नाटक का स्थूल तत्व है किन्तु अरस्तू ने इस तत्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्यों माना है, यह उनके कथन से स्पष्ट हो जाता है -- `कथानक कार्य व्यापार की अनुकृति है क्योंकि कथानक से यहां मेरा तात्पर्य घटनाओं के विन्यास से है । ‹‹ ‹‹ ‹‹
सबसे अधिक महत्व है घटनाओं का संगठन । त्रासदी अनुकृति है --व्यक्ति की नहीं, कार्य की तथा जीवन की क्योंकि जीवन कार्य व्यापार का ही नाम है उसका प्रयोजन भी एक प्रकार का व्यापार ही है, गुण नहीं । व्यक्ति के गुणों का निर्धारण तो उसके चरित्र्य से होता है पर उसका सुख या दु:ख उसके कार्यों पर निर्भर करता है । अत: नाट्यव्यापार का उद्देश्य चरित्र का अभिव्यंजन नहीं होता । चरित्र तो कार्य व्यापार के साथ गौण रूप में आ जाता है । अतएव घटनाएं और कथानक ही ट्रैजेडी के साध्य हैं और साध्य का स्थान ही सबसे प्रमुख होता है । बिना कार्य व्यापार के ट्रैजेडी नहीं हो सकती, बिना चरित्र - चित्रण के हो सकती है ।[४]

---

१. धनिक धनंजय--'दशरूपकम्', प्रथम प्रकाश,कारिका ६८

२. `अभिज्ञान शाकुंतल` में दुष्यन्त के चरित्र को उज्ज्वल बनाए रखने के लिए तथा रस रस में बाधा न पड़ने देने के लिए दुर्वासा के शाप की कथा का समावेश ।

३. दे० धनिक धनंजय : 'दशरूपकम्, प्रथम: प्रकाश:, कारिका ११

४. डॉ० नगेन्द्र : `अरस्तू का काव्यशास्त्र`, प्रथम संस्करण, संवत् २०१४ वि०, अनुवाद अंश से पृ० सं० २०--२१

कथानक ट्रैजेडी का प्रमुख अंग है —वह मानों ट्रैजेडी की आत्मा है।"[१]

सर्व प्रथम अरस्तू ने ही कथानक को महत्त्व प्रदान करते हुए इसे ट्रैजेडी की आत्मा कहा है किन्तु उसके परवर्ती विद्वानों में से भी अनेक ने कथानक को आधार तत्त्व माना है। एफ०एल० लूकस ने परामर्श दिया है कि ट्रैजेडी में तीन बातें दर्शनीय हैं : —इसका कोई एक आकार होना चाहिए, कोई ढांचा होना चाहिए एवं यह कि कथावस्तु नाटक की आत्मा अर्थात् अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।[२] रोनाल्ड पीकाक ने भी कथानक के महत्त्व के संबंध में लिखा है।[३] कथावस्तु भारतीय प्राचीन नाट्यशास्त्र एवं पाश्चात्य प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपकों का पहला भेदक है। भारतीय नाट्यशास्त्र में पहला भेदक तो अवश्य कहा गया है किन्तु नाटक का प्रमुख उद्देश्य रस की उत्पत्ति करना ही है। संस्कृत नाटक प्रमुखत: रस को दृष्टि में रख कर ही लिखे गये हैं। इसका भाव तत्त्व अपनी रससिक्त अवस्था में ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाया। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में रस जैसा कोई तत्त्व नहीं है।

कथानक को नाटक की आत्मा मानने वाली बात परवर्ती अधिकांश नाटककारों एवं आलोचकों को मान्य नहीं हुई। निकल महोदय ने कहा कि "कथा

---

१. "The fable is the principal part – the soul of tragedy."

· अरस्तू : 'पोएटिक्स', १९५३, पृ० १५

२. "Of the plot of Tragedy makes three general observations that it must be of a certain size, that it must be of a certain structure and that it is the most important thing – the soul of Drama".

· एफ०एल०लुकस : 'ट्रैजेडी', १९५७, संस्करण १, पृ० १२

३. "Plot has two aspects; it is a concept of dramatic construction, and also a device for the pointing of vision or the meaning"

रोनाल्ड, पीकॉक : 'दि आर्ट ऑफ ड्रामा', पृ० १९८

वस्तु नाटक की सभी जटिलताओं को नियंत्रित करने का प्रधान हेतु हो सकती है किन्तु स्वयं में यह बहुत कम महत्त्वपूर्ण है।"[1] गाल्सवर्दी, शॉ, इब्सन आदि ने चरित्र को प्रधानता दी है तथा कथानक को गौण स्थान प्रदान किया। अरस्तु का कथानक सम्बन्धी सिद्धान्त प्रारम्भिक अवस्था का सूचक है और परवर्ती नाट्यशास्त्रकारों का चरित्र सम्बन्धी सिद्धान्त उसका विकसित रूप है। धीरे धीरे पश्चिम में यथार्थवादी नाटक लिखे जाने लगे। फलस्वरूप कथानक का चयन समाज की सच्ची सामयिक समस्याओं से प्रेरित होकर किया जाने लगा। शेक्सपियर के युग में तथा उसके पूर्व राजाओं राजकुमारों या सामन्ती परिवारों तथा उच्च घरानों के व्यक्तियों के जीवन से ही कथा का चुनाव होता था। सामान्य व्यक्ति की जीवन कहानी नाटकों का विषय नहीं बनती थी। ब्रेडले महोदय ने कहा है कि बीमारी, निर्धनता, असावधानी, नीच कर्मों, छोटी छोटी चिन्ताओं से भरी कहानी जितनी भी कारुणिक अथवा भयप्रद क्यों न हों किन्तु शेक्सपियर की दृष्टि से दुःखान्तक नहीं हो सकती।[2] पूरा नाटक शोकपूर्ण घटनाओं से क्यों न भरा ही हो परन्तु जिस कथा का नायक अन्त में जीवित रह जाता है वह शेक्सपियर के मत से ट्रैजेडी नहीं है।[3] दुःखपूर्ण संवेगों को जाग्रत करने का प्रमुख ढंग पूरे दृश्य को शोकपूर्ण दृश्य बनाकर छोड़ देना है। हल्के-फुल्के दयापूर्ण स्थिति से ट्रैजेडी का निर्माण नहीं हो सकता है।

'रेस्टोरेशन' काल के ड्राइडन आदि प्रमुख नाटककार हैं। इस समय में कथानक के साधारणीकरण की ओर विद्वानों का ध्यान गया। संकलनत्रयी का नाटक

---

१. The plot may be the main spring controlling as it were all the intricate machinery of the play but in itself it has but little worth.

— एoनिकल : 'दि थ्योरी आफ ड्रामा', १९३१, पृ० ७२

२. A tale, for example, of a man slowly worn to death by disease, poverty, little cares, sordid vices, pretty persecutions, however, piteous or dreadful it might be, would not be tragic in the Shakespearean sense.

— एoसीoब्रेडले : 'शेक्सपियरियन ट्रैजेडी', दूसरा संस्करण, १९३०, पृ०८

३. उपरोक्त पुस्तक से, पृ० ७

में विशेष रूप से पालन होने लगा । एलिजाबेथकालीन वासनात्मक प्रेमप्रवणता की अपेक्षा इस समय के प्रेम और सम्मान युक्त कथानक का विषय अधिक तीव्रता उत्पन्न करने वाला था । प्रेम की ही कहानी नाटक के विषय बन गए । नायक का स्थान इस युग में नायिका ने ले लिया । सम्पूर्ण क्रिया-कलापों पर नायिका का प्रभुत्व हुआ । हमारी सहानुभूति नायिका से बढ़ने लगी ।[१]

अठारहवीं शताब्दी में शास्त्रीय ट्रैजेडी लिखने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी । इस युग में विभिन्न नाटकीय प्रकार —— ऑपेरा, बैलेड ऑपेरा, प्रहसन, पारिवारिक गृहसम्बन्धी ट्रैजेडी , आवेगपूर्ण सुखान्तकी आदि जनता का मनोरंजन करने लगे थे । उन्नीसवीं शताब्दी में इब्सन और स्ट्रिंडबर्ग ने यथार्थवादी नाटक लिखकर समाज का ध्यान आकृष्ट किया । कथा के विषय सामाजिक , सामयिक होने लगे । कथावस्तु मे समस्याओं को जन्म दिया गया । अमेरिकन नाटककार ओनील ने नीग्रो समस्या, धनी गरीब के मध्य की सामाजिक गहराई आदि जैसे वस्तुओं का चयन कथा के लिए किया । इनके प्रारम्भिक नाटक सामाजिक असन्तोष की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से लिखे गए हैं, किन्तु बाद वाले नाटक व्यक्तिगत वेदनापूर्ण समस्या ,आन्तरिक संसार, भाग्य, मानव प्रारब्ध की समस्याओं को लेकर लिखे गए ।

हिन्दी नाटकों में वस्तु के विषय पौराणिक, ऐतिहासिक, काल्पनिक, वास्तविक तथा प्रतीकात्मक आदि अनेक प्रकार के रूपों में प्रदर्शित किए गए । हिन्दी-नाट्य-परम्परा में इन सभी विषयों का चुनाव भारतेन्दु से ही आरम्भ हो गया तथा जिसका क्रम आगे भी चलता ही गया । पौराणिक कथाओं के आधार मुख्यतया श्रीमद्भागवत् , महाभारत, पुराण आदि बने । पुराणों में कालिका-पुराण, वामनपुराण, मार्कण्डेय पुराण आदि ~~बने~~ के उपाख्यानों से हम परम्परा से परिचित हैं । जैसे चन्द्रावली और कृष्ण का उपाख्यान पौराणिक तथा सर्वप्रचलित है किन्तु इसमें कवि कल्पना का अधिक योग है । प्राचीन नाट्य शास्त्र के अनुसार नाटिका में कथावस्तु कविकल्पना प्रसूत होनी अपेक्षित है जिसका भारतेन्दु की 'चन्द्रावली' नाटिका में पूर्णतया उल्लंघन नहीं कहा जायेगा क्योंकि नाटककार ने लोक-

---

१. ए० निकल :'ब्रिटिश ड्रामा' पांचवां संस्करण, १९६२, पृ० ४६

प्रचलित पौराणिक कथा में कल्पना का समन्वय करके इतिवृत्त की सृष्टि की । भारतेन्दु का `सत्य हरिश्चन्द्र` कालिकापुराण के ८४ वें अध्याय के उपाख्यान को लेकर लिखा गया नाटक है जिसकी चर्चा नाटककार ने उपक्रम में कर दी है। कृष्ण का पूर्णिमा के दिन वृन्दावन में गोपियों के मध्य स्थित होकर महारासलीला करना एवं इस दृश्य पर देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि आदि पुराण वर्णित बातें हैं जिसे वस्तु का विषय बनाकर हिन्दी में नाटक की रचना हुई ।[१] मथुरा में निवास करते हुए कृष्ण का संदेश तथा उद्धव द्वारा गोपियों को योग की शिक्षा सर्वविदित पौराणिक विषय है ।[२] हिन्दी में पार्वती के शंकर को पाने के लिए व्रत की पौराणिक कथा को भी नाटकीय रूप प्रदान करने का कार्य नाटककारों ने किया ।[३] पौराणिक विषयों को कहीं कहीं नाटककारों द्वारा इतना अधिक तोड़ा-मरोड़ा गया है कि पात्रों के चरित्र का स्तर बिल्कुल नीचे गिर गया है ।[४] तथा उच्छृंखल वातावरण की सृष्टि होकर आधार मात्र पौराणिक रह गया । वशिष्ठ पर घावसु द्वारा गाय चुराने का आरोप तथा वशिष्ठ के शाप देने, गंगा द्वारा शाप-मोचन का प्रयत्न किन्तु भीष्म रूप में घावसु के मर्त्य-लोक में पड़े रहने की पौराणिक कथा को भी नाटकीय रूप मिला ।[५] बद्रीनाथ भट्ट ने राजा वेन की श्रीमद्भागवत् से उद्धृत कथा को अपने नाटक का आधार बनाया ।[६] विधि के विधान में विश्वास रखने वाले मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रुचि के अनुकूल कथा का ऐसा पौराणिक विषय चुना जिसमें बलवती नियति के विधान को प्रमुखता मिली ।[७] गुप्त जी के दूसरे नाटक में ब्रह्मदेव से वर पाकर सुन्द उपसुन्द दैत्यों का इन्द्रा-

---

१. लाल खड्ग बहादुर मल्ल :` महारास नाटक`, सं०? ,१८८५ ई०,सा०पु०सि०खा०, वानिकपुर

२. विद्याधर त्रिपाठी रसिकेश: `उद्धवशीठिनायिका`, प्र०बार, १८८७ ई०, प्र०स्थान ?

३. दे० लाल खड्ग बहादुरमल्ल :` हरितालिका नाटिका` (१८८५)

४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र:` सतीप्रताप` (१८८३)

५. विश्वम्भर शर्मा कौशिक :`भीष्म`, प्र०सं०, १९१८ ई०, प्र०का०का०

६. बद्रीनाथ भट्ट :`वेनचरित्र` , प्र०सं०, १९२२, रा०पु०पु०आ०

७. मैथिलीशरण गुप्त : `चन्द्रहास` , तृतीयावृत्ति, १९२३ ई०

सन लेने के अत्याचार में ब्रह्मा द्वारा तिलोत्तमा की उत्पत्ति करके चतुराई से इन दानवों को मारने की कथा वर्णित है।[१]

धीरे धीरे पाश्चात्य आधुनिक नाट्य-साहित्य के यथार्थवादी, स्वाभाविक रूप के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी नाटककारों की रुचि में भी परिवर्तन उपस्थित हुआ। अब पौराणिक विषयों में भी विश्वसनीयता की खोज की जाने लगी। कृष्णार्जुन युद्ध की पौराणिकप्रचलित कथा में नाटककार ने आधुनिक राजनीतिपूर्ण दृष्टिकोण रखने का प्रयत्न किया।[२] बीसवीं शताब्दी के नाटकों में महाभारत-काल के सामन्ती आदर्शों के खोखले अमानवीय रूप को प्रदर्शित करने का प्रयत्न दिखाई पड़ा।[३] जिससे प्राचीन आदर्शों को नवीन के संदर्भ में ग्रहण करके उचित अनुचित की परख का अवसर मिला। उन्नीसवीं शताब्दी के नाटककारों के समान परवर्ती नाटककारों ने भावुक बन कर कार्य नहीं किया वरन् पुराणों आदि की कथाओं को सम्भाव्य सामाजिक रूप प्रदान किया।

भट्ट जी के पौराणिक नाटकों में दृढ़ता, नीति, सत्य तथा धर्म की विजय के साथ प्राचीन गौरव की भावना का उद्घोष भी पाया जाता है।[४] सगर-सूर्यवंश के बत्तीसवें राजा थे जिसकी चर्चा खोज के आधार पर राजपूत जातियों का ऐतिहासिक परिचय देते हुए जेम्स टाड ने की है।[५] पौराणिक विषयों में नवीन दृष्टिकोण का समुचित उदाहरण किशोरीदास बाजपेयी के नाटक में दिखाई पड़ता है।[६] प्राय: सभी कवियों तथा साहित्यकारों ने ब्राह्मण का धन दान-दक्षिणा रूपी

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : 'तिलोत्तमा', तृतीयावृत्ति, १९२४

२. माखनलाल चतुर्वेदी : 'कृष्णार्जुनयुद्ध', द्वि०सं०, १९२० ई०, प्रताप पुस्तकालय, कानपुर

३. उदयशंकर भट्ट : 'अम्बा', प्रथमावृत्ति, १९३५ ई०, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर

४. (क) उदयशंकर भट्ट : 'पुण्यपर्व' (१९३३)
   (ख) उदयशंकर भट्ट : 'सगर विजय' (१९३७)

५. अनुवादक 'कुशलकुमार ठाकुर', 'टाड कृत कृत राजस्थान का इतिहास', प्र०सं०, जनवरी १९६२, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय इलाहाबाद, पृ० ४३

६. किशोरीदास बाजपेयी : 'द्वापर की राज्यक्रान्ति' द्वि०सं०, १९४०, हि०ए०क०, यू०पी०।

भिक्षा को स्वीकार किया है किन्तु बाजपेयी जी ने इसी के प्रतिक्रियास्वरूप ब्राह्मण सुदामा को प्रतिनिधि मानकर समाज सेवी, शिक्षित, बुद्धिजीवी के रूप में चित्रित किया । प्रजा को शिक्षित बनाने के साथ ही ही राजा के अत्याचारों से लोहा लेने में भी सुदामा ने तनिक संकोच नहीं किया । ब्राह्मण की विनम्रता और उसका तेजस्वी रूप दोनों सुदामा में देखने को मिला । प्रथम संस्करण की भूमिका में नाटककार ने संकेत किया है कि नरोत्तम दास के 'ब्राह्मन के धन केवल भिक्षा' पढ़ कर अच्छा नहीं लगा । जागरूक सुदामा में देश की निरक्षरता मिटाने की हविस नाटकार या आधुनिक दृष्टिकोण का प्रभाव है ।

सेठ गोविन्ददास ने 'कर्ण' में भगवान भास्कर तथा कुन्ती के पुत्र कर्ण के सूतपुत्र कहलाने की सर्वविदित बात को तथा कर्ण की प्रख्यात दानशीलता को कथा का मूलाधार बनाया । नर और प्रह्लाद के युद्ध की बात 'वामनपुराण' में 'देवी भागवत' में वर्णित है जिसे लक्ष्मी नारायण मिश्र ने 'नारद की वीणा' में आधाररूप में ग्रहण किया । गोविन्दवल्लभ पन्त के 'वरमाला' का विषय 'मार्कण्डेय पुराण' से उद्धृत है जिस पर कल्पना का गहरा रंग चढ़ाकर प्रेम, संकट, शौर्य तथा मिलन की कथा का संगठन किया । प्रसादोत्तर-युग के पौराणिक नाटकों के विषय अधिकतर प्रसिद्ध महाभारतीय कथाओं से लिए गए किन्तु उनमें सामाजिक समस्याओं पर विचार करके प्राचीन में नवीन दृष्टिकोण की उद्भावना हुई । सेठ जी ने कुमारी से सन्तान की समस्या तथा निम्न कुल में उत्पन्न व्यक्ति के जीवन में उन्नति की समस्या को अपने नाटक में आरम्भ से अन्त तक उलझन का कारण बनाया । प्राय: सभी पौराणिक नाटकों में नवीन दृष्टिकोण दिखाई पड़ा ।

ऐतिहासिक—

ऐतिहासिक कथावस्तु में कथा प्रमुखत: इतिहास की घटनाओं पर आश्रित होती है । हिन्दी नाटकों में चन्द्रगुप्त , अशोक, अजातशत्रु, महाराणाप्रताप, पृथ्वीराज, हर्ष आदि को लेकर अनेक नाटक लिखे गए जिनकी घटनाएं प्रामाणिक हैं किन्तु कहीं कहीं कल्पना का मिश्रण भी कर दिया गया क्योंकि नाटक इतिहास तो है नहीं । नाटक को रुचिकर बनाने के लिए थोड़ा बहुत कल्पना का सहारा लिया-

जा सकता है फिर भी प्रधान घटना पर ठेस अपेक्षित है ।

`नीलदेवी` भारतेन्दु का प्रथम ऐतिहासिक कथानक के आधार पर साहित्यिक नाटक है फिर भी इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है । भारत पर यवनों का आक्रमण सर्वविदित है तथा राजपूतों के चिरकाल तक लड़ते रहने की कथा भी प्रसिद्ध है किन्तु यहां भारतीय नारी की प्रतिनिधि नीलदेवी के साहसिक चरित्र प्रकाशित कर देश को प्रगतिशील सिद्ध करना नाटककार का उद्देश्य है । अतः ऐतिहासिक घटना तोड़ मरोड़कर नष्ट कर दी गई है जिससे उसकी प्रामाणिकता नष्ट हो जाती है । प्रारम्भ के वक्तव्य में ही नाटककार ने विदेशी स्त्रियों से भारतीय स्त्रियों को पीछे न देखने की कामना व्यक्त की है ।[१] कुछ भी हो नाटककार ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि करने में सफल है । भारतेन्दु का समय राष्ट्रीय जागरण की भावना से अनुप्राणित हो रहा था । अंग्रेजों के विषाक्त प्रभाव से राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति की रक्षा का ध्यान लेखकों को प्रेरित करने लगा था । ऐतिहासिक, पौराणिक नाटकों के द्वारा प्राचीन संस्कृति, सभ्यता एवं शौर्य का प्रबल पक्ष प्रकाश में लाया जाने लगा । `नीलदेवी` में राष्ट्रीय चेतना का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ा । भारतेन्दु के बाद ऐतिहासिक नाटक खूब प्रचलित हुए । भिनगाधिपानुज श्रीयुत कुमार राजेन्द्रबहादुर सिंह देव बर्म ने अपने राम विवाह सम्बन्धी कथा को ऐतिहासिक रूपक माना है ।[२]

भारतेन्दु के समय में न्याय सभा नाटक अकबर के न्याय की ऐतिहासिक कहानी पर आधारित है ।[३] चन्दवरदायी कृत पृथ्वीराज रासो में वर्णित संयोगिता स्वयंबर को लेकर लिखे गए नाटक की कुछ घटनाएँ तो प्रामाणिक हैं जैसे पृथ्वीराज की प्रतिमा को माला पहनाना आदि किन्तु जयचन्द से चन्दवरदायी का पृथ्वीराज और संयोगिता के दिल्ली जाने की अनुमति मांगना और जयचंद की थोड़ी

---

१. ब्रजरत्नदास-भारतेन्दु नाटकावली, प्रथम भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामनारायण लाल,इलाहाबाद, पृ० ४२१-२२ (नीलदेवी के ग्रंथकर्ता के वक्तव्य से)

२. दे० कुमार राजेन्द्रबहादुर सिंह देव बर्म `प्रेम वाटिका` (१८६२ ई०)

३ बा रत्नचंद: 'न्यायसभानाटक', प्र भाग, १८८० ई.

वेदना प्रकट करके अनुमति दे देना आदि अप्रामाणिक हैं।[1] पारसी प्रभाव कथा के वर्णन में दिखाई पड़ता है।[2] श्री अमर सिंह से शाहजहाँ की लड़ाई इतिहास प्रसिद्ध है। दिल्लीश्वर शाहजहाँ से अपने मारवाड़ को मुक्त कराने का प्रण अमरसिंह करता है। राजपूत वीर अकेले शाहजहाँ के पास जाता है वहीं बातें बढ़ती हैं और लंबी चौड़ी फौज आकर अकेले अमर सिंह से लड़ती है। जब वह जीवन से निराश होता है तो अर्जुन सिंह नामक शाहजहाँ के दरबारी से मार डालने को कहता है जिससे मुसलमानों के हाथों न मरना पड़े।[3] राधाकृष्णदास का 'महाराणाप्रताप' प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है।

प्रसाद के समय में ऐतिहासिक नाटक अधिक प्रामाणिक होने लगे क्योंकि राष्ट्रीय जागरण की भावना के प्रबल होने के साथ ही नाटक रचना में समय के साथ प्रौढ़ता आती गई। नाटककारों को इसका पूर्णज्ञान हो गया कि ऐतिहासिक नाटकों में घटनाओं, पात्रों के आचार विचार आदि की प्रामाणिकता अनिवार्य है। 'राज्यश्री' प्रसाद का प्रथम ऐतिहासिक घटना प्रधान नाटक है। प्राक्कथन में उन्होंने लिखा है कि 'राज्यश्री और हर्षवर्धन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का आधार हर्षवर्धन के राजकवि बाण का बनाया हुआ हर्षचरित और चीनी यात्री सुएनच्वांग का वर्णन है।'[4] हर्षवर्द्धन के कान्यकुब्ज तथा प्रयाग का दानमहोत्सव बहुत प्रसिद्ध है। राज्यश्री की राजनीतिक कुशलता तथा कोमल स्वभाव से हम सब परिचित हैं। राज्यश्री का अपने भ्राता हर्ष के राजकार्य में हाथ बंटाना तथा बौद्धधर्म ग्रहण करना आदि बातें ऐतिहासिक हैं। विकट घोष तथा सुरमा ऐतिहासिक पात्र नहीं हैं किन्तु चीनी यात्री का एक डाकू से पकड़े जाने का उल्लेख तो मिलता ही है। राज्यश्री का चरित्र-चित्रण इस नाटक का उद्देश्य है जिसमें बहुत सामान्य रूप में कल्पना का

---

१. श्रीनिवास दास—'संयोगिता स्वयंवर', प्र०सं०, सं० १९४२, सं०नं०मि०द्वारा०प्र०

२. वही, पृ० ४१

३. राधाचरण गोस्वामी—'अमरसिंह राठौर', प्र०बार, १८६५, प्र०स्थान ?

४. जयशंकर प्रसाद—'राज्यश्री', दसवां सं०, सं० २०१८ वि०, भारती भंडार, इलाहाबाद पृ० ५ (प्राक्कथन)

निर्माण कर दिया गया है। हर्ष के धर्म समन्वय के कारण चीनी यात्री सुएनच्वांग और सी०यू- की के अनुसार "स्वयं हर्षवर्धन के प्राण लेने तक की भी चेष्टा की गई थी परन्तु वह राज्यश्री के कोमल स्वभाव की प्रेरणा से, कठोरता से बचता ही रहा।[१]

'विशाख' के प्राक्कथन में प्रसाद ने लिखा है कि "इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है.......... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।"[२] इसकी कथावस्तु में हमें प्राचीन तपस्वियों, स्नातकों, युद्धवीर नागों, पतित बौद्धों और मदोन्मत्त राजाओं के दर्शन होते हैं, जिससे बौद्धों के पतन का संकेत मिलता है। 'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नागयज्ञ' में ऐतिहासिक घटनाओं का आधार लेकर कथावस्तु का निर्माण किया गया है। अजातशत्रु, बुद्धदेव, बिम्बसार, प्रसेनजित, उदयन आदि इतिहास प्रसिद्ध पात्र हैं। स्त्री पात्रों में पद्मावती, मागंधी, वासवी आदि भी प्रामाणिक पात्र हैं। घटनासूत्रों की व्यवस्था में कल्पना का पुट देकर कथावस्तु की रचना की किन्तु प्रधान घटनाओं को ठेस नहीं पहुंचने दिया।

'जनमेजय का नागयज्ञ' की भूमिका में लेखक ने लिखा है कि "इस नाटक में ऐसी कोई रचना समाविष्ट नहीं है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो। घटनाओं की परम्परा ठीक करने में नाटकीय स्वतंत्रता से अवश्य कुछ काम लिया गया है, परन्तु उतनी से अधिक नहीं, जितनी किसी ऐतिहासिक नाटक लिखने में ली जा सकती है।"[३] भूमिका के अनुसार प्रसाद ने पौराणिक कथा को ऐतिहासिक

---

१. जयशंकर प्रसाद-'राज्यश्री', दसवां संस्करण, सं० २०१८, भारतीय भंडार, इलाहाबाद, पृ० ८ (प्राक्कथन से)

२. दे० जयशंकरप्रसाद -: 'विशाख' (१९२१) प्राक्कथन से।

रूप दे दिया है। कथा का संबंध आर्य और नागजाति के भारतकालीन संघर्ष से है। `स्कंदगुप्त`, `चन्द्रगुप्त` प्रसाद जी के बड़े ऐतिहासिक नाटक हैं। स्कंदगुप्त के समय में गुप्तकाल (२७५ ई०-५४० ई० तक) का पूर्ण उत्कर्ष हो चुका था किन्तु स्कंदगुप्त के सिंहासन पर बैठने के पूर्व ही षड्यन्त्र चल पड़े थे। आक्रमणकारी हूणों के आतङ्क से देश कम्पायमान हो चला था किन्तु उत्साही, वीर स्कन्दगुप्त ने अनेकों भयंकार कष्ट झेलकर भी देश की रक्षा की। आर्य साम्राज्य का एक छत्र राज्य पाकर भी उसे अपने वैमात्र एवं विरोधी भाई पुर गुप्त को समर्पित करके आजन्म कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा करना स्कंदगुप्त के चरित्र को अनिवर्चनीय महानता तथा उज्ज्वलता प्रदान करता है। `चन्द्रगुप्त` में तो दोहरे कथानक के द्वारा नाटक का बहुत विस्तार हो गया है किन्तु ऐतिहासिकता का ऐसा बोलबाला हो उठा है कि नाटकीयता कम और इतिहास अधिक हो गया है। इसका विषय पूर्णतः ऐतिहासिक है।

`ध्रुवस्वामिनी` प्रसाद की अन्तिम सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक कृति है। इतिहास और कल्पना के उचित समन्वय से इसमें नाटकीयता की पूर्णतः रक्षा हो सकी है। 'प्रसाद' ने सूचना में विस्तार से राखालदास बनर्जी, प्रोफेसर अल्तेकर और जायसवाल की आलोचना के आधार पर ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पुनर्लग्न को ऐतिहासिक तथ्य मानलिया है। इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अनेक उदाहरण दिए हैं। विशाख दत्त द्वारा रचित `देवी-चन्द्रगुप्त` नाटक `नाट्य दर्पण`, `शृंगार प्रकाश`, आठवीं शताब्दी के संजात ताम्रपत्र, बाण भट्ट और ग्यारहवी शताब्दी के राजशेखर को कथा का आधार कहा जा सकता है जिसकी विवेचना प्रसाद ने सूचना में सोदाहरण की है।[१] प्रसाद-युग में अंधाधुंध ऐतिहासिक नाटक लिखे गए जिनके विषय औरंगजेब, शाहजहां, अकबर के समय से विशेष रूप से चुने गए। जिन नाटककारों के ये नाटक हैं उन्होंने प्रायः एक नाटक लिखकर नाटक रचना समाप्त कर दी है, दूसरे नाटक में हाथ लगाने वाले नाटककार

---

१. जयशंकर प्रसाद : `ध्रुवस्वामिनी`, सोलहवां संस्करण, सं० २०१७ वि०, भारती भंडार, इलाहाबाद (सूचना से)

बहुत ही कम हैं। अत: प्रधान नाटककारों की सामान्य चर्चा ही काफी है। मुस्लिम शासकों से स्वाभिमानी राजपूतों जैसे चम्पतराय, दुर्गादास, चूड़ावत, छत्रसाल, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, पृथ्वीराज आदि का संघर्ष ही इनका विषय है। शाहजहाँ से चम्पतराय का विरोध, औरंगजेब का हिन्दुओं पर इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए दबाव, अकबर की चरित्रहीनता प्रसिद्ध है जिनका नाटकों में भी वर्णन किया गया है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र का `अशोक`[1] तथा चतुरसेन शास्त्री का `अमर राठौर`[2] 'प्रसाद' के समय में ही बिंदुसार के अत्याचार की कहानी से लेकर अशोक के राजा बनने तथा बौधधर्म स्वीकार करने एवं अमरसिंह के शाहजहाँ के विरोध को लेकर लिखे गए नाटक हैं। `काल्पी` कृष्णा स्वामी आयंगर के `सोर्सेज आफ विजय नगर हिस्ट्री` में रामभद्राम्भा कृत `रघुनाथ बुद्धयम के उल्लेख के आधार पर लिखा गया ऐतिहासिक नाटक है जिसकी चर्चा विस्तारपूर्वक नाटककारने भूमिका में की है। डॉ०दशरथ ओझा ने `चित्तौड़ की देवी` में अकबर और महाराणा प्रताप के संघर्ष को कथा का विषय चुना। प्रताप की पुत्री चम्पा भूख से संघर्ष करते करते अपना प्राण त्याग देती है किन्तु स्वाभिमान को नहीं छोड़ती है। अकबर ग्लानि में भरकर सुर्जन सिंह के द्वारा अपना प्रार्थना पत्र और महाराणा का विजयपत्र भेजता है कि `महाराना जी दिल्लीश्वर अकबर अपनी पराजय स्वत: स्वीकार करता है। वह हारता है प्रताप के खड्ग और भाले से नहीं, प्रत्युत उसके साहस और अदितीय बालिका देवी चम्पा के अलौकिक कर्तव्य-पालन से।`[4] और वह अपनी सेना हटा लेता है।

ऐतिहासिक नाट्य-प्रणेताओं में 'प्रसाद' के उपरान्त हरिकृष्ण `प्रेमी`

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र : `अशोक`, सं० १९८४, हिन्दी पुस्तक भंडार, ल०

२. चतुरसेन शास्त्री : `अमर राठौर`, प्र०बार, १९३३, सित०, सा०मं०बा०ली०, दिल्ली

३. भगवती प्रसाद पान्थरी : `काल्पी`, २२ सित०१९३५, भ०प्र०पा०, टेहरी (गढ़वाल) भूमिका अंश से।

४. डॉ०दशरथ ओझा : `चित्तौड़ की देवी`, द्वि०सं०, १९३४ ई०, साहित्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली।

को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। 'प्रसाद' ने गुप्त-काल को चुना और उसके सहारे राष्ट्रीय चेतना तथा एकता का भाव भरा किन्तु 'प्रेमी' ने राष्ट्रीय एकता को सच्ची देशभक्ति का प्रेरणा स्रोत बनाया। फलस्वरूप मुगलकालीन हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्बन्धी कुछ घटनाओं का चयन करके अपने नाटकों का निर्माण किया। इतिहास के औचित्य का ध्यान रखते हुए कल्पना का ऐसा समुचित योग मिलाया कि 'प्रेमी' जी के नाटक हृदय को स्पर्श करने वाले सरस हुए। 'रक्षाबंधन' में मुगलसम्राट हुमायूँउदयपुर के स्वर्गीय महाराणा सांगा की पत्नी कर्मवती को बहन मान लेने पर अपने मंत्रियों की राय के विरुद्ध गुजरात के बहादुरशाह के उदयपुर पर आक्रमण की सूचना पाकर उसकी रक्षा के लिए उदयपुर पहुंचा किन्तु हुमायूं उस समय पहुंचा जब कर्मवती रक्षा से निराश होकर जौहर व्रत कर चुकी होती है। धर्म बहन की रक्षा न कर पाने से हुमायूं दु:खी होता है। समय से न पहुंच पाने से बहन की राख ही हाथ आती है। हिन्दू-मुस्लिम-प्रेम इस नाटक का आधार है।

'शिवासाधना' की भूमिका में 'प्रेमी' जी ने लिख दिया है कि "मैंने नाटक में जो घटनाएं दी हैं, वे बिना ऐतिहासिक आधार के नहीं दीं। यह ऐतिहासिक नाटक है। नाटक में इतिहास की अक्षरश: रक्षा करना कठिन कार्य होता है, फिर भी सभी मूल घटनाएं मैंने अक्षरश: इतिहास के अनुसार ही अंकित की हैं अपितु इतना भी कह सकता हूं कि ऐतिहासिक घटनाओं के कृम आदि का जितना ध्यान इस नाटक में रखा गया है, उतना शायद अब तक किसी ऐतिहासिक नाटक में न रखा गया होगा।" प्रेमी जी आगे कहते हैं कि जेबुन्निसा के शिवाजी के प्रति आकर्षित होने की घटना को प्रो० सरकार ने 'स्टडीज़ इन मोगल इंडिया' में निराधार सिद्ध किया है। इस घटना को सिद्ध करने के लिए प्रेमी जी ने एन०एस० Takakhav की 'दि लाइफ आफ शिवाजी महाराज' के उद्धरण को लेकर सिद्ध किया है कि किस प्रकार यह घटना केवल उनके मस्तिष्क की ही उपज नहीं है। शाह जी को दीवार में चुनवाने की घटना अवश्य कल्पित है। 'प्रतिशोध' नाटक में 'प्रेमी' ने वीर छत्रसाल द्वारा बुन्देलों की बिखरी शक्ति को संगठित करके औरंगजेब का सफल विरोध कथा का विषय चुना। 'प्रेमी जी'

का 'आहुति' रणथम्भौरगढ़ के महाराव हम्मीरसिंह चौहान और अलाउद्दीन खिलजी के संघर्ष की कहानी को लेकर लिखा गया। 'आलोक' में नाटककार ने संकेत किया है कि 'अलाउद्दीन के कोप पात्र एक मुसलमान सरदार को शरण देने के कारण महाराव को उसका कोपभाजन बनना पड़ा किन्तु बहादुर अपनी आन पर टिके रहने वाले राजस्थानी शासक ने शरणागत रक्षा से अपने को विमुख नहीं किया जिसके लिए उसे अपने सर्वस्व की आहुति दे देनी पड़ी।' हम्मीर की वीरता प्रसिद्ध है। महाराणा की पुत्री कृष्णा का विषपान राजस्थान के इतिहास में करुणाजनक घटना है। इस ऐतिहासिक घटना को लेकर साम्प्रदायिक ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध, वंशाभिमान की दुर्बलता को 'प्रेमी' ने हमारे समक्ष उपस्थित किया।[१] राजपूतों की नासमझ उन्मत्तता ने विषपान के लिए कृष्णा को बाध्य किया। अनेक रूपों में ये सब हमारे देश की स्वाधीनता के लिए बाधक सिद्ध हुए। 'प्रेमी' के 'मित्र'[२] नाटक में अजाने में रत्नसिंह ने अलाउद्दीन का खजाना लूट लिया। अंजाने की भूल ही लड़ाई बन गई क्योंकि राजपूत क्षमा माँगना नहीं जानते। अलउद्दीन के पुत्र महबूब तथा जैसलमेर का राजकुमार रत्न सिंह गहरे मित्र हैं। संघर्ष होने पर भी अन्त तक उन्होंने अपनी मित्रता निभाई। टॉड कृत 'राजस्थान का इतिहास'[३] में रत्नसिंह की महबूब से मित्रता तथा युद्ध के समाप्त होने पर एक वृक्ष के नीचे प्रतिदिन मिलने की बात मिलती है। कल्पना का सहारा नाटक को अधिक मर्मस्पर्शी बनाने के लिए लिया गया है। महबूब रत्नसिंह को वचन देता है कि इस युद्ध के बाद यदि अलाउद्दीन ने जैसलमेर पर गिरि को न बिठाया तो मैं तांक्वी की सेना में हूंगा।'[४] दोनों मित्रों का आखिरी बार गले मिलना आदि नाटक को अधिक सजीव बनाते हैं। कई हजार स्त्रियों का जैसलमेर के किले में जौहर की ज्वालाओं

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : 'विषपान', प्र०सं०, १९५१ ई०, आ०रा०ए०सं०का०गे०, दिल्ली
२. हरिकृष्ण प्रेमी : 'मित्र', द्वि०सं०, अ० १९४८, वा०म०दि०
३. टॉड कृत 'राजस्थान का इतिहास' अनुवादक श्री केशवकुमार ठाकुर, पहला संस्क०, जनवरी सन् १९६२, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, इलाहाबाद, पृ० ५६७-७०
४. हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'मित्र', द्वि०सं०, १९४८ ई०, वा०म०दि०?, पृ० १०२

में अपने को समर्पित कर देना ऐतिहासिक घटना है। दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के पास जाती हुई सम्पत्ति को राजपूतों का आक्रमण करके हराकर जैसलमैर लाना ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यपूर्ण है। 'प्रेमी' के प्राय: सभी ऐतिहासिक नाटक राष्ट्रीय भावनाओं के प्रेरक हैं। 'स्वप्नभंग' [1] नाटक में दारा हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक विरोध को मिटाने के लिए समाज की दूषित व्यवस्था बदलने का प्रयत्न करता है किन्तु इसके लिए शक्ति चाहिए। उसे भाइयों से लड़ना पड़ता है। औरंगजेब दारा सहित मुराद, शुजा को मार डाल कर स्वयं राजा बनता है। दारा का प्रेममय, सामाजिक व्यवस्था का स्वप्नभंग हो जाता है। इसकी ऐतिहासिकता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

सेठ गोविन्ददास के ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास के तथ्यों का तोड़-मरोड़ न होते हुए भी सरस नाटकीय रूप प्राप्त होता है। ऐतिहासिक विषय ग्रहण करके उन्होंने अनेक नाटकों की रचना की। 'कुलीनता' [2] नाटक में नाटककार ने कलचुरियों के पतन तथा राजगोंड़ वंश के उत्थान तथा तत्संबंधी अन्य बातों को कथा का विषय बनाया। विजय सिंह देव, यदुराय, नागदेव (मण्डला के गोंड राजा), सुरभि पाठक, कुतुबुद्दीन ऐबक ऐतिहासिक पात्र हैं तथा देवदत्त, विन्ध्य-बाला आदि काल्पनिक पात्र हैं ऐतिहासिक कथा का विषय ग्रहण करके जाति पाँति ऊँच-नीच के भेदभाव, आडम्बरपूर्ण भावना को निरर्थक बताते हुए कुलीन कर्मों वाले व्यक्ति को ही कुलीन सिद्ध किया है। 'हर्ष' [3] नाटक सातवीं सदी का ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करता है। पुरातन घटनाओं को बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखने का प्रयत्न इस नाटक में दिखाई पड़ता है। हर्ष वर्द्धन स्थाण्वीश्वर के अन्तिम हिन्दू सम्राट थे। उनकी बहन राज्यश्री का उनके राजकार्य में हाथ बंटाना तथा हर्ष का अपनी बहन के परामर्श से आदर्श राज्य, शासन

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : 'स्वप्नभंग', द्वि०सं०, १९४९ ई०, आ० रा० ए० सं०का० गेट, दिल्ली।

२. सेठ गोविन्ददास : 'कुलीनता', द्वि०सं०, १९४७ ई०, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ४।

३. सेठ गोविन्दास : 'हर्ष' कापीराइट १९५०, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली

काल्पनिक विषय—

आजकल नाटककार स्वयं अपनी कल्पना के द्वारा कथा के विषय का निर्माण करता है। इसके अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक, वैज्ञानिक आदि सभी प्रकार के नाटक आ जाते हैं जिनकी कथा कल्पित हो। हिन्दी में भारतेन्दु से ही ऐसे नाटकों का प्रारम्भ हो गया। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक दुर्बलता को प्रहसन के माध्यम से प्रदर्शित करके अंग्रेजी अंधेर युक्त शासन व्यवस्था पर कटु व्यंग्य उपस्थित किया।[1] तथा उन्होंने धर्म की आड़ में किए गए हिंसा, दुराचार के सामाजिक, धार्मिक पक्षों की आलोचना प्रस्तुत की।[2] हिन्दी नाटककारों ने अनेक प्रेमप्रधान तथा शिक्षास्पद सामाजिक नाटक हिन्दी नाट्य-साहित्य को भेंट किए।[3]

भारतेन्दु के समय में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से भारतीयों के दृष्टिकोण में व्यापकता आई। सामाजिक कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों से उत्पन्न जटिल समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान गया। परिणामस्वरूप सुधारवादी आन्दोलन चल पड़े। नवीन शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान के प्रचार और देश की प्राचीन परिपाटी का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करके राजा राममोहन राय ने सुधारवादी आन्दोलनों एवं नवोत्थान को जन्म दिया। संघर्षात्मक तत्त्व उनके बंगला अंग्रेजी संस्कृत और फारसी के लेखों में ही नहीं प्राप्त होते वरन् उनके स्तुतिगीतों में भी पाए जाते हैं। इनके जीवन काल में तो इन्हें प्रशंसा मिल ही चुकी थी, मृत्यु के उपरान्त अमेरिकनों, अंग्रेजों आदि के द्वारा संवेदना पत्र में उनके लिए प्रशंसात्मक वाक्य उनके गुणों के सूचक हैं।[4] सती प्रथा, बालहत्या, विधवा विवाह आदि को

---

१. दे० भारतेन्दु कृत 'अंधेर नगरी' (सन् १८८१)
२. दे० भारतेन्दु कृत 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३)
३. दे० लाला श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (१८७७), 'तप्तासंवरण' · बालकृष्ण भट्ट कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम' (१८७७)

४. O, deluded mind whom do you invoke and whom do you cast away you want to swing him who moves the sun, the moon, the stars, how vain your efforts are! He, who feeds the beasts, the birds, fishes and men, how absurd it is to think of feeding him. The Deity who pervades the whole universe, with what

लेकर आन्दोलन हुए । कुछ स्त्रियां पति-प्रेम में उत्तेजित होकर सहर्ष पति के शव के साथ स्वयं को अग्नि को समर्पित कर देती थीं किन्तु कुछ को बलात् सती कर दिया जाता था तथा जिन्होंने दोनों में से एक भी नहीं किया उसे कलंकिनी, चरित्रहीन कहकर त्याग दिया जाता था ।[१] राजाजी तथा अनेक हिन्दू समाज सुधारकों के प्रोत्साहन से विलियम बैंटिक ने १४ दिसम्बर सन् १८२६ को कानून द्वारा निषिद्ध घोषित किया ।[१] इन आन्दोलनों का प्रभाव हिन्दी नाटकों के विषय चयन पर खूब पड़ा । धड़ा धड़ विधवा-विवाह,बहु विवाह, बाल-विवाह, वृद्धावस्था-विवाह आदि को आधार बनाकर कल्पित नाटक लिखे जाने लगे ।[२] देवदत्त शर्मा के `बाल्य विवाह` नाटक (१८९७ चौथी बार) में अज्ञानसेन अपने बारह वर्ष के पुत्र का विवाह पन्द्रह वर्ष की लड़की से कर देता है और ज्ञानसेन अपने बाईस वर्ष की अवस्था वाले पुत्र का विवाह पन्द्रह वर्ष की सुखदा नामक पढ़ी-लिखी लड़की से करता है । प्रथम वहू विधवा बन कर समाज का नारकीय कीड़ा बनी और दूसरी सब प्रकार से सुखी हुई । बाल्य विवाह के पीड़ित जीवन और प्रौढ़ विवाह के सुखमय जीवन का तुलनात्मक दृष्टिकोण सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए । श्री कृष्णानन्द द्विवेदी के `विद्याविनोद नाटक` (१८९४ई०) में विद्या बूढ़े पति को देखकर सदैव `पिता` सम्बोधित करती है । अन्त में पति

---

propriety can you say to him 'stay here '. It is vain if you donot accept the truth ,it is like taking food through the nose when are endowed with a mouth .

बंगला मे- মন একি ভ্রান্তি তোমার
আবাহন বিসর্জন কর তুমি কার
চন্দ্র সূর্য্য গ্রহ যত
যে চালায় অবিরত
তারে দোলাইতে কত করহ যতন।আদি

४ - दिनेशचन्द्रसेन: `बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर, १९११,कलकत्ता, विश्ववि०,पृ०९३६-३७

५ वही, पृ० ९३९-९४१

---

१. डा० ईश्वरीप्रसाद :`आधुनिक भारत`, १९५०, इंडियन प्रेस लि०,प्रयाग,पृ०१६०

२. दे० काशीनाथ खत्री कृत `विधवा विवाह`(१८८२) देवकी नं० त्रिपाठी कृत `बालविवाह` (१८८२), देवीप्रसाद शर्मा कृत `बाल्यविवाह नाटक`(१८२४), घनश्याम कृत `वृद्धावस्था विवाह`(१८८८), तोताराम कृत `विवाह विडम्बन`(१८८४)

प्रणाली, सार्वजनिक हित का कार्य करना इतिहास प्रसिद्ध बातें हैं। हर्षवर्द्धन और राज्यश्री के अतिरिक्त माधव गुप्त, शशांक आदि पात्र ऐतिहासिक हैं। 'शशिगुप्त' के विषय ऐतिहासिक विषय में नवीन विचारधारा के राष्ट्रीय, जातीय गौरव का समावेश महत्त्वपूर्ण है। चन्द्रगुप्त के दासी पुत्र होने को निर्मूल सिद्ध करके नयी मान्यताएं स्थापित करने का श्रेय इस नाटक में सेठ जी को प्राप्त हुआ है। पन्तजी का 'राजमुकुट' पन्ना के अपूर्व बलिदान के वृत्त को लेकर लिखा गया नाटक है। जिसमें वह अपने अल्पवयस्क स्वामी उदयसिंह की रक्षा के लिए अपने एकमात्र बेटे की बलि चढ़ा देती है और अनेक विपत्तियों का सामना करते हुए उदयसिंह को राजमुकुट पहना कर अपनी स्वामिभक्ति का आदर्श उपस्थित करती है।[१] पन्त जी का दूसरा बौद्धकालीन मौलिक नाटक 'अन्त:पुर का छिद्र' उदयन ; पद्मावती और मागंधिनी के मनोवैज्ञानिक चित्रण को प्रस्तुत करने में पूर्णतया सफल हुआ।[२]

उदयशंकर भट्ट का प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'विक्रमादित्य' (१९३३ ई०) आदर्शवादी चरित्र , युद्ध, वीरता, राष्ट्रीयता के कलेवर से भरा पड़ा है। दूसरे ऐतिहासिक विषयवस्तु पर आधारित नाटक 'दाहर अथवा सिंध पतन' (१९३४) में साम्प्रदायिक, प्रान्तीय भेद को गुलामी का कारण बताया। 'जय पराजय' (१९३७) कहानी 'टाड के राजस्थान' में एक डेढ़ पृष्ठ पर लिखी हुई मिल सकती है। अश्क ने मुख्यतया उसी कहानी को लिया है।[३] इस नाटक का विषय भी राजपूत भारत के इतिहास से चुना गया है जिसमें मिथ्या टेक और अभिमान में हंसी में कही गई बात को गम्भीर रूप देकर कई पात्र घुटनमय जीवन बिताने को बाध्य हो जाते हैं।

---

१. गोविन्दवल्लभ पन्त : 'राजमुकुट' , प्रथमावृत्ति, १९३५, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ।

२. गोविन्दवल्लभ पन्त : 'अन्त:पुर का छिद्र', प्रथमावृत्ति, १९४०, गं०पु०मा०का०, लखनऊ।

३. उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : 'जय-पराजय', दसवां संस्करण, १९६२, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद (प्रथम संस्करण के 'दो शब्द' से) पृ०, ४

घर से निकाल देता है और वह अपने पूर्व प्रेमी विनोद से विवाह कर लेती है। भारतेन्दु-युग में वैवाहिक प्रथा की बुराइयां, स्त्री-जाति की दीनता, असहायावस्था नाटक के प्रधान विषय थे किन्तु गौ-रक्षा एवं गौ-वध से संबंधित नाटक भी लिखे गए।[१]

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती (१८२४-८३) ने घोषणा की कि वैदिक स्तुति गीत एक सर्वोपरिस्थित भगवान्, एक सत् की ओर संकेत करती है जो कई देवताओं का रूप धारण करता है तथा कई नामों से जाना जाता है।[२] आर्य समाज ने बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई होने से बचा लिया।[३] आर्य समाज ने भी विधवा विवाह का पक्ष लिया और बाल-विवाह, ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड और अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों का विरोध करके विशुद्ध वैदिक धर्म की आवाज़ ऊंची की। नवीन शिक्षा के प्रचारार्थ ऐंग्लो-वर्नाक्युलर शिक्षण संस्थाएं स्थापित की।[४] इसी समय कर्नल एस०एस० आलकॉट के सहयोग से मैडम ब्लावाट्स्की नामक रूसी महिला ने १८७५ ई० में 'थियोसोफिकल सोसायटी' की नींव डाली जिसका उद्देश्य जाति, वर्ग, रंग, ऊंचनीच आदि का भेदभाव मिटाकर मानवता के विश्वबंधुत्व का नाता अमर करना था। सभी धर्म दर्शन और विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन देना एवं प्रकृति के नियमों का अनुसंधान आदि सोसायटी के प्रमुख कार्य थे[५]। इन सुधारवादी आन्दोलनों का हमारे नाटक साहित्य के विषय चयन पर गहरा प्रभाव पड़ा। नाटकों के विषय समाज,सुधार, धार्मिक सुधार, नैतिक सुधार संबंधित अधिक होने लगे। भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों के नाटकों में इन आन्दोलनों का यथेष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

१. दे० अंबिकादत्त व्यास कृत 'गौ-संकट नाटक' (१८८२), देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'गोवध-निषेध' (१८८१)

२. संकलित -सैय्यद अब्दुल लतीफ़ द्वारा, लिखित प्रो० एस०हनुमन्ता राव,एम०ए०, रिटायर्ड प्रोफेसर, इतिहास विभाग,निजाम कालेज ,हैदराबाद :' ऐन आउटलाइन आव कल्चरल हिस्ट्री आव इण्डिया, १९५८, द० इन्स्टीट्यूट आव् इन्डो-मिडिल,ईस्ट कल्चरल स्टडीज, हैदराबाद , पृ० ८३

३. वही, पृ० ८३

४. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय :'हिन्दी साहित्य का इतिहास', छठा सं०, १९६४, महामना प्रकाशन,मंदिर, इलाहाबाद, पृ० २४३

५. उपर्युक्त अब्दुल लतीफ़ वाली पुस्तक से, पृ० ८३-८४

भारतेन्दु के समकालीन स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इन्होंने धन को धूल तथा स्त्री को माँ समझने का उपदेश दिया। सबसे महत्वपूर्ण उपदेश था कि किसी को चोट मत पहुंचाओ एवं सभी धर्म विभिन्न पथ पर चल कर अन्त में एक ही स्थान पर पहुंचते हैं तथा उस विशेष स्थान की प्राप्ति के लिए पुस्तकीय ज्ञान नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि की आवश्यकता है।[१] बल्देवप्रसाद मिश्र का 'शंकर दिग्विजय' धार्मिक संकीर्णता से शंकर के अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। धन को धूल और स्त्री को माँ रूप में इस नाटक में आचार्य शंकर द्वारा देखा गया है।

सर्व प्रथम विधवा-विवाह का उदाहरण ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने ही परिवार में अपने लड़के का विवाह ७ दिसम्बर १८५६ में विधवा लड़की से करके हमारे सम्मुख रखा एवं विद्यासागर के नेतृत्व में दो हजार हिन्दुओं ने विधवा विवाह की मंजूरी के लिए हस्ताक्षर करके सरकार को पेश किया और १३ जुलाई १८५६ में विधवा विवाह ऐक्ट पास हो गया।[२] राजा कृष्णचन्द्र के समय में सर्वप्रथम १८५९ ई० में 'विधवा विवाह नाटक' कलकत्ता के एक अव्यवसायी नाटक समिति द्वारा खेला गया जिसमें युवती हिन्दू विधवा के दु:खदर्द का स्पष्ट चित्रण था। इसका उद्देश्य विधवा पुनर्विवाह को उत्तेजित करना था।[३] नाटक साहित्य के माध्यम से नाटककारों ने स्वयं को समाजसुधार में लगाया। स्वयं भारतेन्दु तथा अन्य नाटककारों ने बाल विवाह, विधवा विवाह जाति भेद, बहु व्याह आदि की परंपरागत धारणाओं का खण्डन किया। भारतेन्दु के एक उदाहरण में अनेक कुरीतियों के प्रति उनकी सजगता के दर्शन होते हैं —

---

१. संकलयिता—सैय्यद अब्दुल लतीफ : 'ऐन आउट लाइन आव द कल्चरल हिस्ट्री आॅव इण्डिया', १९५८, द इंस्टीट्यूट आव इन्डो मिडिल ईस्ट कल्चरल स्टडीज, हैदराबाद, इण्डिया, पृ० ३८४ (प्रो० एस० मनुमन्त राव के लेख मार्डन ट्रेन्ड्स इन इण्डिया)

२. प्रमथनाथ बोस : 'हिन्दू सिविलिजैशन ड्यूरिंग ब्रिटिश रूल', वाल्युम २, १८९४, कलकत्ता, डब्ल्यू न्यू मैन एण्ड कं०, पृ० ४३

३. वही, पृ० १३६

'जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो ।
खान पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो ।।
जन्मपत्र विधि मिले व्याह नहि होन देत अब ।
बालकपन में व्याहि प्रीति बल नास किया सब ।
करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मार्यो ।
विधवा व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्यो ।
रोकि विलायत गमन कूप मंडूक बनायो
औरन को संसर्ग छुड़ाई प्रचार घटायो ।[1]

भारतेन्दु ने अनुभव किया कि इनका सुधार होना चाहिए क्योंकि भारत की दुर्दशा के यही कारण हैं । इस काल में कुछ प्रेमप्रधान काल्पनिक नाटक भी लिखे गए ।[2] जिन्हें रीतिकाल के प्रभाव के अभी पूर्णत: मिट न पाने के फलस्वरूप कहा जा सकता है । श्रीनिवासदास के दो प्रेमप्रधान विषय लेकर लिखे गए नाटकों की चर्चा पीछे की जा चुकी है । भारतेन्दु के समय में सामाजिक , राजनीतिक चेतना से देशवासी उद्विग्न हो रहे थे । अब नाटक के विषय भी राष्ट्रीयता के नवीन दृष्टिकोण को लेकर चुने गए । राष्ट्रीय धारा के नाटकों का प्रारम्भ भारतेन्दु से ही हो गया ।[3] 'भारत दुर्दशा ' में भारत के प्राचीन वैभव तथा गौरव का स्मरण दिलाते हुए राजनीतिक वातावरण को नाटकीय रूप प्रदान किया गया है । अंग्रेजी सभ्यता के सम्पर्क से हमारी आँखें खुलीं और हम अपने राष्ट्र को प्रगति के पथ पर देखने के लिए व्याकुल हो उठे ।

---

१. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु नाटकावली', प्रथम भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामनारायण लाल,इलाहाबाद, पृ० ३६०-६१ (भारत दुर्दशा नाटक से)

२. दे० - गोपालराम गहमरी : 'विद्याविनोद '(१८६२), राधेन्द्र सिंह : 'प्रेम वाटिका' (१८६२), शालिग्राम कृत' माधवानल कामकन्दला'(१६०४), रामदेवीप्रसाद पूर्ण 'चन्द्रकलाभानुकुमार (१६०४) आदि ।

३. दे० भारतेन्दु : 'भारतदुर्दशा' (१८७६) अंबिकादत्त व्यास'भारत सौभाग्य (१८८८) गोपालराम गहमरी :' देशदशा नाटक' (१८६२) , लक्ष्मण सिंह :' गुलामी का नशा'(१६२४), प्रेमचन्द :' संग्राम' (१६२२)

इन नाटकों में असहयोग-आन्दोलन का स्पष्ट चित्रण मिलता है जिसने देश के राजनैतिक जीवन में युगांतर उत्पन्न कर दिया । नौकरशाही ने खुशामदी लोगों से मिलकर क्रिमिनल ला आदि दमनकारी कानूनों के जाल रचे थे , साहसी देशभक्तों द्वारा ये जाल निर्भीकता पूर्वक तोड़े गए । बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के हृदय में महात्मा गांधी की विलक्षण धाक जम रही थी । 'गुलामी का नशा' नाटक का यही विषय बना । सुधारवादी आख्यान को लेकर लिखे गए कल्पित नाटकों की भी अधिक रचना होने लगी । भारतेन्दु के समय में सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक रूढ़ियों में सुधार का प्रयत्न हुआ किन्तु प्रसाद-युग में सामाजिक काल्पनिक नाटकों में कहीं अछूतोद्धार की समस्या, कहीं विवाह की समस्या, कहीं शिक्षा की समस्या का समावेश दिखाई पड़ा ।[१] यहां तक आते आते वर्ग की समस्याएं व्यक्ति की समस्याएं बन कर रह गईं । नाटककारों ने तर्क और बुद्धि से समस्या की गहराई में उतरने का प्रयत्न किया । अश्क का `स्वर्ग की झलक` नाटक आधुनिक शिक्षा की समस्या को लेकर चलता है ।

गोविन्दवल्लभ पन्त का सामाजिक कल्पित नाटक `अंगूर की बेटी` (१९५३तृ०सं०), मदिरापान के दुष्परिणाम को प्रकाशित करता है । हरिकृष्ण `प्रेमी` के `छाया` (१९५० द्वि०सं०), बंधन (१९४५ ई०, ती०सं०) में क्रमश: नारी की समस्या का तथा पूंजीपति और मजदूरों के संघर्ष की समस्या का वर्णन है । पृथ्वीनाथ शर्मा का `अपराधी` (१९३९) कानून की दृष्टि से अपराध और अपराधी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है तथा अपराध के सही मूल्यांकन में कितना अन्तर है, इसको नाटक के माध्यम से प्रकाश में लाया गया है । इनके दूसरे नाटक `दुविधा`

---

१. दे० धनानंद बहुगुणा :`समाज` (१९३०), नरेन्द्र : `नीच` (१९३१), ल०ना०मिश्र `राक्षस का मंदिर` (१९३१), `मुक्ति का रहस्य` (१९३२), `सन्यासी` (१९३१), रामनरेश त्रिपाठी :`जयंत` (१९३४), गोविन्दवल्लभ पन्त : `सुहागबिन्दी` (१९४९ तृ०आ०) ।

में नारी समस्या का समावेश हुआ है। सेठ गोविन्ददास के अनेक नाटक राजनीतिक आन्दोलन से संबंधित हैं जिन पर गांधीवादी विचारधारा के नवीन सिद्धान्तों तथा नवीन दृष्टिकोणों का प्रतिपादन हुआ। स्वार्थी मंत्रियों, देशभक्ति का स्वांग भरने वाले कौंसिल मेम्बरों, नेताओं आदि का यथार्थ चित्र अंकित करने में नाटककार को पर्याप्त सफलता मिली।[१] उस समय का राजनीतिक जीवन विशेष रूप से गांधी जी के नेतृत्व में चल रहा था। सेठ जी ने राष्ट्र-सेवा-पथ निर्धारण की समस्या का समाधान नि:स्वार्थ, उच्च आदर्श युक्त शारीरिक सेवा द्वारा करा कर गांधीवादी आदर्श को पूर्णतया अपने नाटक में प्रतिष्ठित किया।[२] नाटककार ने 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' की रचना तीसरी जेल-यात्रा के समय नागपुर जेल में की जिसे प्रेमचंद जी द्वारा 'हंस' के दो अंकों में प्रकाशित किया गया। सभी पात्रों का अपने सिद्धान्तों की रक्षा में स्वतंत्र होना इस नाटक की विशेषता है। इसमें राजनीति सम्बन्धी विषय का चुनाव हुआ क्योंकि यह बंग-भंग आन्दोलन, सत्याग्रह आन्दोलन के राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित है। सामयिक राजनीतिक विषय को लेकर नाटककार ने 'पाकिस्तान' की रचना की। सामयिक इसलिए कहा गया है कि पाकिस्तान बनने के पूर्व कांग्रेस इस बटवारे का विरोध कर रही थी किन्तु पाकिस्तान के निर्माण की संभावना भी कम नहीं थी। इसमें हिन्दुस्थान-पाकिस्तान का विभाजन हिन्दू-मुसलमानों की आपसी सद्भावना को तनाव और कटुता में परिवर्तित होते दिखाया है। चुनाव और बहुमत के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम राज्य की स्थापना दिखाई। कहीं दरिद्रनारायण अधिक महत्वपूर्ण बने, कहीं तन, मन को श्रेष्ठ घोषित किया, कहीं गांधी के त्याग के सिद्धान्त को ठीक बताया। जीवन के सुख की समस्या का समाधान सुख, श्रमपूर्ण आत्मत्यागमय संयमित जीवन में बताया है। पूंजीपति और मजदूरों के संघर्ष को लेकर भी नाटक लिखे गए।[३]

---

१. दे० सेठ गोविन्ददास : 'प्रकाश' (१९३५)

२. दे० सेठ गोविन्ददास : 'सेवापथ' (१९४०)

३. 'गरीबी या अमीरी' (१९४७) 'महत्व किसे ?' (१९४७) आदि।

३. हरिकृष्ण प्रेमी : 'बंधन' तीसरा सं०, १९४५ ई०

काल्पनिक नाटकों को हमारे नाटक साहित्य में सर्वाधिक स्थान मिला जिनकी समस्याएं प्राय: हमारे सामान्य जनजीवन से संबंध रखती हैं।

प्रतीकात्मक कथावस्तु —

प्रतीकात्मक कथावस्तु में भावात्मक जगत के गीत भाव-रूपों का मानवीकरण किया गया। जड़ वस्तुओं को चेतना प्रदान की गई संस्कृत में श्रीकृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय में आध्यात्मिक तथा धार्मिक तत्त्वों को मूर्त रूप दिया गया। जिसका हिन्दी अनुवाद अनेक कवियों द्वारा हुआ तथा उसकी हिन्दी परम्परा के स्वतंत्र रूपक नाटकों का भी प्रणयन हुआ। प्रतीकात्मक कथावस्तु वाले नाटक आध्यात्मिक, साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक विभिन्न कोटि के हुए। आध्यात्मिक विषयों से संबंधित नाटकों — आत्मा-परमात्मा, मुक्ति का उपाय, ज्ञान आदि का प्रतिपादन हुआ। बाबू राधाकृष्ण दास की रचना को धर्मसम्बन्धी वार्तालाप ही अधिक से अधिक कह सकते हैं। ईश्वर एक है किन्तु भिन्न भिन्न मतावलम्बियों के वहां तक पहुंचने के विविध उपाय है, इसका निर्णय प्रतीक पात्र सनातन धर्म, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि पात्रों द्वारा किया गया है। कथा नहीं है, न नाटकीयता का ही समावेश हुआ है। गीत, दोहे, वार्तालाप सहित ८ पृष्ठों में इसे समाप्त कर दिया गया है। अंक, दृश्य कुछ भी नहीं है , केवल अन्त में पटाक्षेप हुआ है अत: इसे नाटक न कहकर वार्तालाप मात्र कह सकते हैं।[१]

इन नाटकों में कल्पना को विशेष महत्त्व मिला। नाटकों की प्रारम्भिक अवस्था में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति पर ब्रह्मानन्द में आत्मा का लय हो जाना, सत् की असत् पर विजय, माया और आत्मा के संघर्ष आदि को लेकर नाटकों की रचना हुई। भारतेन्दु ने तत्कालीन भारत की राजनैतिक विरोधी परिस्थितियों

---

१. दे० राधाकृष्ण दास :`वार्तालाप` (१८८५ई०)

२. दे० (क) स्वामी शंकरानंद :`विज्ञान` नाटक (१९११ई०,च०सं०),विज्ञानविजय(१९१३)
(ख) ज्ञानचन्द सिंह :`मायावी` (१९२२)

के संघर्ष में भारत की दुर्दशा प्रतीकों के माध्यम से चित्रित की ।[१] राजनैतिक स्वतंत्रता और सत्यता पर आधारित सत् असत् के संघर्ष में सत् की विजय दिखाकर अन्य अनेक नाटक लिखे गए ।[२] विभिन्न राष्ट्रों की विचारधाराओं के संघर्ष में सम्पूर्ण विश्व में एक राज्य की स्थापना की कामना भी नाटककारों ने की ।[३] 'प्रसाद' ने अपने सांस्कृतिक नाटक में भौतिक सभ्यता और आध्यात्मिक संस्कृति के संघर्ष में आध्यात्मिकता का महत्त्व प्रतिपादित किया ।[४]

'प्रबोध चन्द्रोदय' की प्रतीक शैली में लिखे गए सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि नाटकों के विषय समाज सुधार , देशभक्ति, देश की राजनीतिक अवस्था में सुधार, संस्कृति के महत्त्व आदि भावों को ग्रहण करते हैं । सुमित्रानन्दन पन्त ने भावमय प्रवाह में आधुनिक संसार की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किक किया । ज्योत्स्ना की आज्ञा से स्वप्न और कल्पना सुप्त मनुष्य जाति के मनोलोक में प्रवेश कर उनमें चैतन्य उन्नत भावों की सृष्टि करते हैं । स्वस्थ और कोमल भावनाओं के द्वारा नवयुग का निर्माण होता है । विकसित मानववाद की कल्पना ही इसका विषय है ।[५] नाटककारों ने मतमतान्तरों में समन्वय की स्थापना तथा नर और नारी की समानता की समस्या का समाधान के लिए आध्यात्मिक तथ्यों का सूक्ष्म विश्लेषण भी किया ।[६] प्रतीकात्मक नाटकों में मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण करके आदर्श की स्थापना का प्रयत्न दिखाई पड़ा ।[७]

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'भारत-दुर्दशा' (१८७६ई०)
२. दे० पं० उमाशंकर सरमंडल :'अनोखा बलिदान' (१६१५), इन्द्र विद्यावाचस्पति : 'स्वर्णदेश का उद्धार' (१६२१)
३. दे० बेचन शर्मा उग्र : 'डिक्टेटर' (१६३७)
४. ज०शं०प्रसाद :'कामना' (१६२७)
५. दे० पं० सुमित्रानन्दन पन्त :'ज्योत्स्ना' (१६३४)
६. दे० सद्गुरुशरण अवस्थी :'मुद्रिका' (१६३६)
७. दे० भगवतीप्रसाद वाजपेयी :'छलना' (१६३६)

यथार्थवादी विषय वस्तु--

यथार्थ अथवा वास्तविक विषय वस्तु वाले नाटक में तथ्य-घटना-नाटक तथा किसी विशेष व्यक्ति अथवा स्थानादि का यथातथ्य चरित प्रदर्शित किया जाता है। हिन्दी में ऐसे विषय बहुत ही कम लिए गए हैं किन्तु पूर्णतया अभाव नहीं कहा जा सकता।[१] चार गर्भाङ्कोंवाली अपूर्ण 'प्रेमयोगिनी' नाटिका में काशी का यथातथ्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। यदि यह पूर्ण होती तो यह एक उत्कृष्ट वास्तविक अथवा यथार्थवादी नाटक की श्रेणी में निस्संकोच होती। प्रथम गर्भाङ्क में 'गोपाल मन्दिर' का दृश्य है जिसमें गुसाइयों और भले आदमियों में पाये जाने वाले अनाचार का चित्रमय रूप प्रदर्शित हुआ है। दूसरे गर्भाङ्क में 'गैबी' नामक स्थान, जिसके आस पास पेड़, कुआं, बावली है, के जमावड़ों का आँखों देखा दृश्य भारतेन्दु ने उपस्थित कर दिया है। दलाल गंगापुत्र, भंडेरिया, गुण्डा, यात्री और मुसाहिब आदि काशी के विशिष्ट निवासियों का नग्न चित्र खींच रखा है। तीर्थ स्थान होने के कारण यात्री भी बारहमासी हो गए हैं। काशी के उपर्युक्त विशिष्ट लोगों में भांग-बूटी सहित 'गैबी' जैसे स्थानों में जाने की पुरानी प्रथा है। तीसरे गर्भांक में 'मुगलसराय स्टेशन' का दृश्य है। मिठाई वाले, खिलौने वाले, कुली और चपरासी इधर-उधर चलते दिखाई पड़ते हैं। सुधाकर एक विदेशी पण्डित और दलाल बैठे हैं। उस समय तक काशी जाने वाले मुगलसराय ही उतर जाते थे क्योंकि काशी स्टेशन तब तक नहीं थे और वहीं से पण्डे तथा उनके दलाल यात्रियों को उल्टा सीधा पढ़ाकर अपने यहां लाते थे और पैसे खूब ऐंठते थे जिसका वास्तविक चित्रण सुधाकर, दलालतथा विदेशी पण्डित के वार्तालाप द्वारा किया गया है। चौथे गर्भाङ्क में काशी में बसे हुए दाक्षिणात्यों का चित्र खींचा गया है। हिन्दी मराठी दोनों ही भाषा जानते हैं। भांग, बूटी, भोजन की चिन्ता सदा दिखाई गई है। वस्तुतः इसमें व्यंग्यात्मक यथार्थवादी चित्रण है।

हिन्दी नाटकों में प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र तीनों प्रकार की कथा-

---

१. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'प्रेमयोगिनी' (१८७५)

वस्तुएं पाई जाती हैं। ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिकता तथा पौराणिक नाटकों में पौराणिकता की रक्षा का पूरा प्रयत्न पाया जाता है। कल्पना का उसी सीमा तक समन्वय हुआ है जिससे नाटक की स्वाभाविकता को क्षति न पहुंचे। हिन्दी नाटकों की विकसित अवस्था में पौराणिक नाटकों में नई मान्यताएं स्थापित की गई जिसके लिए तर्कपूर्ण प्रणाली की सहायता ली गई। राष्ट्रीय, सामाजिक विषय विशेष रूप से चुने गए। ऐतिहासिक तथा पौराणिक कथावस्तु में भी राष्ट्रीय तथा सामाजिक पुट देने का प्रयत्न दिखाई पड़ा।

अध्याय – ४

कथानक का उद्देश्य

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने इतिवृत्त का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि बताया। उनका दृढ़ विश्वास है कि उन्हें अपने जीवन के लक्ष्य तथा उद्देश्य में सफलता अवश्य ही मिलेगी। भारतीय नाटककार का उद्देश्य जीवन का आदर्श चित्र उपस्थित करना है। धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि ही कथावस्तु के फल अथवा कार्य हैं। यह फल कभी तो इस त्रिवर्ग में से एक ही हो सकता है, कभी दो और कभी तीनों वर्ग।[१] कथानक का उद्देश्य मनुष्य की धार्मिकता नीतिमता बढ़ा कर उत्तमतापूर्वक जीवन निर्वाह की क्षमता लाना तथा आचरण में सुधार करना है। प्राचीन भारतीय नाटक आशावादी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर लिखे गये।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों का कथानक के उद्देश्य के सम्बन्ध में भिन्न मत है। भारतीय नाटककार आशावादी हैं तो पाश्चात्य नाटककार निराशावादी हैं। ट्रैजेडी में करुणा और त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है।[२] मानव-सत्य की शोध और ज्ञानार्जन उसकी उपलब्धियां हैं। यूरोप वाले जीवन की वास्तविक घटनाओं को सामाजिकों के सम्मुख रख कर यह बताना चाहते हैं कि जीवन प्राय: कैसा होता है और किन किन परिस्थितियों के अन्तर्गत मनुष्य कैसा आचरण करता है।

---

१. धनिक धनंजय : `दशरूपकम्`, प्रथम: प्रकाश:, कारिका १६
२. डॉ० नगेन्द्र : `अरस्तु का काव्यशास्त्र`, प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०, अनुवाद अंश से।

कार्य सिद्धान्त में विश्वास रखने के कारण भारतीय नाटक सुखान्त ही होते थे। परिस्थिति वश सत्पुरुष को भी जीवन में अनेक दुःख उठाने पड़ते थे, किन्तु अन्त में उसकी विजय ही होती थी, क्यों कि आततायी को अंतिम फल की प्राप्ति कराने से सामाजिकों में सत्कार्य के प्रति क्षोभ उत्पन्न होगा और प्रभाव अच्छा नहीं पड़ेगा। इसीलिए न्याय, सत्य, धर्म आदि की विजय दिखाना ही उद्देश्य है। आनन्द और शिक्षा दोनों भारतीय कथानक के मूल में वर्तमान हैं। किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही नाटककार नाटक रचना में प्रवृत्त होता है। इस उद्देश्य के संबंध में पीकाक महोदय का कथन है कि - 'धार्मिक, नैतिक, भावनात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक किसी भी प्रकार का कोई न कोई मूल उद्देश्य होना चाहिए जो दर्शकों के मस्तिष्क और हृदय स्पर्श कर सके।'[१] घटना प्रधान नाटक में घटना का, विचार प्रधान नाटक में विचार का, चरित्र प्रधान नाटक में चरित्र का, समस्या प्रधान नाटक में समस्या का विशिष्ट प्रभाव पाठक या प्रेक्षक के हृदय को स्पर्श करता है वहीं कथानक के उद्देश्य की सिद्धि होती समझी जाती है। सामाजिकों का मनोविनोद करने के साथ ही उनको शिक्षा देना भी दोनों देशों के नाटकों के कथानकों का मूल उद्देश्य है। अन्तर केवल माध्यम का है। एक आदर्श की विजय करा-कर अच्छे कार्यों को करने की शिक्षा देता है तो दूसरा समाज का वास्तविक चित्रण करके हमें सचेत कराता है। अरस्तू का कहना है कि ट्रेजेडी मनोवेगों को उत्तेजित नहीं करती वरन् उनका विरेचन कर सामाजिकों को मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करती है।[२]

१."And there must be some central meaning, whether religious, moral, emotional or physchological which strikes home to the spectators head and heart."

-रोनाल्ड पीकाक-'दि आर्ट आफ ड्रामा', १९५७, पृ० १९८

२. डा० नगेन्द्र :'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्र०सं०, सं० २०१४, भारती भंडार, इलाहाबाद (अनुवाद अंश से), पृ० १६

उद्देश्य - एक प्रमुख तत्त्व -

प्रसंग के अनुसार नाटक कई अंकों, गर्भांङ्कों तथा शाखा प्रशाखाओं में विस्तार पाता है। आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं की प्रथा भारतीय तथा पाश्चात्य नाटकों में बहुत प्राचीन है। कथा में विभिन्नता रुचि वैचित्र्य को तृप्त करती है किन्तु प्रत्येक कथा में एक मूल भाव होता है जो विभिन्नता के होते हुए भी निष्कंप रहता है और रहना चाहिए क्योंकि उसके अभाव में नाटक तमाशा बन कर रह जायेगा। इससे निम्नकोटि के लोगों का मनोरंजन हो भी सकेगा तो उच्चकोटि के लोगों का मनोरंजन निश्चय ही उद्देश्य के अभाव में असंभव है। भारतेन्दु जी ने स्पष्टतः कहे शब्दों में कहा है - "गुंफित आख्यायिका के समग्र मर्म्म का नाम उद्देश्य बीज है। कवि जो इसका साधन न कर सकेगा तो उसका ग्रन्थ नाटक में परिगणित न होगा।"[१]

पाश्चात्य विद्वानों ने उद्देश्य को नाटक का एक तत्त्व माना है और हिन्दी के आलोचकों ने भी उनका अन्धानुकरण किया है कुछ आलोचकों ने संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रतिपादित वस्तु, नेता और रस को हिन्दी नाटक का तत्त्व मान लिया है किन्तु राम गोपाल सिंह चौहान ने उद्देश्य तथा चरित्र चित्रण दोनों को कथावस्तु के अन्तर्गत समाहित कर दिया है। उद्देश्य या पुरानी शब्दावली में फलप्राप्ति को कथा का मूल अंग बताया है।[२] वर्तमान नाटककार समाज के सम्मुख कोई विचार, उद्देश्य या समस्या आदि रखने के लिए एक कथा की कल्पना करता है। नाटक रचना करते समय सर्वप्रथम यही मनोभाव नाटककार के मस्तिष्क में प्रेरणास्वरूप उद्दीप्त होता है कि किस उद्देश्य से वह नाटक की रचना में उद्यत हो।

---

१. डॉ० श्यामसुन्दरदास - 'भारतेन्दु नाटकावली', १९२७, प्र०सं०, पृ० ८११ (परिशिष्ट ३)

२. रामगोपाल सिंह चौहान - 'हिन्दी नाटक सिद्धान्त और समीक्षा', प्रथम संस्क०, १९५९, प्रभात प्रकाशन, २०५ चावड़ी बाजार, दिल्ली, पृ० १२३

उसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न वह सम्पूर्ण नाटक में करता है। अत: हम उद्देश्य को नाटक का एक प्रमुख तत्त्व क्यों न मानें ? कथावस्तु में इसको समाविष्ट करना निरर्थक सा जान पड़ता है क्योंकि नाट्य रचना में यह एक महत्वपूर्ण तत्त्व की अभिव्यंजना करता है।

शिक्षाप्रद नाटक —

प्राचीन भारतीय नाट्य साहित्य में केवल आनन्दवादी उपयोगिता के सिद्धान्त का पालन हुआ है किन्तु वर्तमान नाटक उद्देश्य परक होते हैं। आज का जीवन जटिल, उलझनपूर्ण होने के कारण मानसिक संघर्षों से पेचीदा बना हुआ है। यद्यपि इन संघर्षों में शृंगार, हास्य, करुणा आदि रसों की भी सृष्टि होती है तथापि नाटक के मूलभाव अर्थात् उद्देश्य को भकझोरने, अधिकाधिक मार्मिक बनाकर सामाजिकों को उद्बुद्ध करने का सर्वाधिक प्रयत्न नाटककार करता है। वर्तमान युग में केवल आदर्श का चित्रण नाटक को सफल नहीं बना सकता क्योंकि वर्तमान परिस्थिति में वह बेमेल हो जाता है। समाज के द्वन्द्वात्मक वातावरण में केवल आदर्श अविश्वसनीय हो जाता है। अत: आज के नाटककार प्राचीन नाटक-कारों की भांति रसोत्पत्ति के सिद्धान्त का पालन करके अपने सामाजिक , राजने-तिक, ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से यथार्थ का नग्न चित्रण उपस्थित करना अपना उद्देश्य समझने लगे। फलस्वरूप वर्तमान युग में उद्देश्यपरक नाटक चल पड़े।

अब धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ही नाटक का उद्देश्य नहीं रहा। आधुनिक भारतीय नाट्य साहित्य ~~के प्रभाव से~~ सामाजिक, राजनैतिक राष्ट्र प्रेम आदि से संबंधित जीवन का वास्तविक चित्र उपस्थित करके हर प्रकार से समाज सुधार का उद्देश्य लेकर अग्रसर हुआ। यद्यपि मूलत: प्राचीन और नवीन के उद्देश्य में अन्तर नहीं आया क्योंकि दोनों में ही समाज सुधार का भाव निहित है तथापि रीतियां भिन्न हैं। एक आदर्श की योजना द्वारा अनुकूल आचरण करने को प्रेरित करता है और दूसरा जीवन की सच्चाई का नग्न चित्र उपस्थित करके, दोष-पूर्ण कार्यों के प्रति आतंक पैदा करता है। हिन्दी में समाज सुधार एवं देशभक्ति

के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक, वर्तमानकालिक नाटकों की सृष्टि की गई ।

हिन्दी नाटकों के उद्देश्यों का वर्गीकरण—

हिन्दी नाटक के उद्देश्य तत्त्व को प्रमुख रूप से चार वर्गों में बांट सकते हैं — (१) समाज सुधार (२) देशभक्ति (३) सिद्धान्त प्रतिपादन (४) हास्योत्पादन (५) मानसिक वृत्तियों का निरूपण । इन मोटे विभागों के अन्तर्गत उपविभागों की चर्चा आगे प्रसंग क्रम से की जायेगी ।

समाज-सुधार—

समाज की समस्याएं असंख्य हैं अतः सामाजिक नाटकों का क्षेत्र भी समाज सुधार के उद्देश्य के साथ सर्वाधिक व्यापक रहा है । समाज की समस्याओं ने नाटककारों को यथार्थवादी समस्यामूलक नाटक लिखने के लिए प्रेरित कर दिया । जिस प्रकार रूपकों तथा उपरूपकों के सभी प्रकारों में नाटक प्रधान है तथा नाटक की विशेषताओं में थोड़ा इधर का उधर रखकर अन्य रूपक तथा उपरूपक के प्रकारों का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार कथा का प्रमुख उद्देश्य समाज सुधार कहना समीचीन जान पड़ता है क्योंकि मूलतः सभी नाटक समाज की बातों को लेकर ही आगे बढ़ते हैं । उसी में थोड़े अन्तर के कारण नाम में परिवर्तन हो जाता है । हास्योत्पादन के उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखे गए प्रहसनों में भी समाज सुधार की भावना सर्वत्र कार्य कर रही है । हंसाने मात्र के लिए लिखे गए बहुत खोज करने पर निम्नश्रेणी के दो चार प्रहसन ही मिल सकेंगे ।

१६ वीं शताब्दी में विवाह सम्बन्धी अनेक कुरीतियां समाज में अनाचार का विस्तार कर रही थीं । कहीं वृद्ध विवाह, कहीं बाल विवाह नारी जीवन के साथ खिलवाड़ कर रहे थे, कहीं विधवाएं नारकीय जीवन बिताने को प्रेरित की जा रही थीं, कहीं उन्हें जीवित जला देने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं था ।

पीछे इसकी चर्चा हो चुकी है कि किस प्रकार राजा राममोहन राय आदि के परि-श्रम से सती प्रथा आदि का कानून द्वारा प्रतिरोध किया गया । भारतेन्दु युग के नाटककारों ने विवाह सम्बन्धी समाज सुधार के लिए नाटक लिखने की शीघ्रता की । अनेक नाटक बाल-विवाह , अनमेल विवाह आदि की कुरीतियों पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से लिखे गए ।[१] कुछ करुणाप्रद नाटक विधवा- विवाह के समर्थन में भी लिखे गए जिनमें विधवा विवाह के पक्ष में तथा अनमेल विवाह और बाल-विवाह के विरोध में तर्क उपस्थित किये गए ।[२]

'प्रसाद' का प्रसिद्ध 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक अनमेल विवाह की समस्या को लेकर सफल हुआ । समस्या यह है कि क्या रामगुप्त जैसा अकर्मण्य, क्लीब, नीच-पात्र या यों कहा जाय कि जितने भी अश्लील विशेषण शब्दों का प्रयोग किया जाये थोड़े हैं, से ध्रुवस्वामिनी जैसी सर्वगुण सम्पन्न बालिका का विवाह उपयुक्त हो सकता है ? इस समस्या का समाधान तलाक अथवा विच्छेद कराकर पुनर्विवाह द्वारा प्रसाद ने पुरोहित तथा इतिहास को साक्षी लेकर कराया है । पुरोहित के शब्द हैं -" यह रामगुप्त मृत और प्रव्रजित तो नहीं पर गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राजकिल्विषी क्लीब है । ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं ।"[३] आगे नाटककार इतिहास का सहारा लेकर पुरोहित से कहलाता है -"राजनीतिक दस्यु ! तुम शास्त्रार्थ न करो , क्लीब !

---

१. श्रीशरण : 'बालविवाह' (१८७४)

१. देवकीनन्दन त्रिपाठी : 'बालविवाह' (१८८१)
   देवीप्रसाद शर्मा : 'बालविवाह नाटक' (१८८४)
   घनश्यामदास : 'वृद्धावस्थाविवाह नाटक' (१८८८)

२. काशीनाथ खत्री : 'विधवा विवाह' (१८८२) आदि

३. जयशंकर 'प्रसाद' -'ध्रुवस्वामिनी',सं० २०१७ वि०, सोलहवां संस्करण, भारती भण्डार,इलाहाबाद, पृ० ६१

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को क्लीव किसलिए कहा था ? जिसे अपनी स्त्री को दूसरे की अंकगामिनी बनने के लिए भेजने में कुछ संकोच नहीं । वह क्लीव नहीं तो और क्या है ? मैं स्पष्ट कहता हूं कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है ।"[१]

उदयशंकर भट्ट का `कमला` (१६३६) नाटक अनमेल विवाह की समस्या का समाधान करने के उद्देश्य से लिखा गया उत्तम नाटक है । बूढ़ा देवनारायण कमला नामक सुशिक्षित युवती से विवाह करता है । तत्पश्चात् अपनी हीन भावना से प्रेरित होकर कमला के चरित्र पर शंका करके घर से कुलटा आदि कह कर निकाल देता है । अन्त में कमला नदी में कूद कर आत्महत्या कर लेती है ।

कृपानाथ मिश्र का `मणि गोस्वामी` नाटक (सं० १६८८ वि०) बहु-विवाह से उत्पन्न नारकीय गृहकलह युक्त पारिवारिक जीवन की भयानकता दिखाता है ।

अछूत,वर्णभेद तथा मद्यपान की समस्या का समाधान—

समाज में ढोंगी व्यक्तियों के आडम्बरपूर्ण व्यवहार ने समाज में अछूतों की दुर्गति कर डाली है । अछूत तथा वर्गभेद की समस्या को उत्तरोत्तर जटिल होते देखकर नाटककारों का ध्यान तत्संम्बन्धी सुधार की ओर गया । फलस्वरूप उनके सुधारवादी उद्देश्य को लेकर अनेक प्रभावोत्पादक नाटक प्रस्तुत किये गए ।[२]

---

१. जयशंकर प्रसाद-ध्रुवस्वामिनी, सं०२०१७, वि० सोलहवां सं०,भारतीभं०,पृ० ६१-६२

२. दे० आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव :`अछूत` (१६२८ ई०)
   देवीप्रसाद गुप्त:`अछूत रहस्य ` (प्रहसन) (१६३२ई०) सरस्वती पत्रिका से
   धनानंद बहुगुणा: `समाज` (१६३०)
   रामेश्वरीप्रसाद राम :`अछूतोद्धार नाटक` (१६२६)
   सेठ गोविन्ददास : `कर्ण ` (१६४६)
   सेठ गोविन्ददास :`कुलीनता` (१६४८ द्वि०सं०) आदि ।

कुशल प्रौढ़ नाटककार सेठ गोविन्ददास ने कर्ण के चरित्रचित्रण द्वारा वर्ण समस्या को उठाया । वर्ण और वंश को लेकर कर्ण को आजन्म मानसिक प्रताड़नाएं सहनी पड़ीं क्योंकि भगवान भास्कर और जगत सुन्दरी कुन्ती का पुत्र होते हुए भी विवाह के पूर्व उत्पन्न होने से वह मां द्वारा परित्यक्त रहा । नाटककार ने अपने अन्य नाटक में कुलीन-अकुलीन की दूषित हिन्दू भावना पर गहरा आघात किया है । प्रमुख पात्र के मुख से नाटककार ने कहलाया है कि 'जन्म के अनुसार वर्ण नहीं, मैं कर्म के अनुसार वर्ण मानता हूं ।'[1] मद्यपान के अभिशाप तथा उसके दुष्परिणाम का प्रभावोत्पादक ढंग से चित्रण करके इसकी समस्या का समाधान अनेक नाटककारों ने प्रस्तुत किया ।[2]

धार्मिक सुधार का उद्देश्य—

सर्व प्रथम धार्मिक सुधार के उद्देश्य से हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रहसन प्रस्तुत किया ।[3] फिर तो ऐसे नाटकों की बाढ़ सी आ गई । भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने जिस समय नाट्य-रचना प्रारम्भ की, देश सामाजिक धार्मिक परम्पराओं में रूढ़िबद्ध होकर अवनति के गर्त में डूबता जा रहा था । उपर्युक्त नाटककार ने अपने प्रहसन में समाज को गंदा करने वाले पाखण्डी धर्मानुयायियों से जनता को सावधान किया । हिन्दी नाटकों में धर्म के आत्मिक बल की प्रेरणा द्वारा अत्याचार में सुधार का दृष्टिकोण अपनाया गया ।[4] तथा कहीं कहीं

---

१. सेठ गोविन्ददास : 'कुलीनता' द्वि०सं०, १९४८ ई०, हि०ग्र०र०का०, गिरगांव, बम्बई, पृ० २३

२. गोविन्दवल्लभ पन्त : 'अंगूर की बेटी', १९३७ आदि

३. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३)

४. दे० श्री वशिष्ठ : 'अत्याचार का अन्त' (१९२२ ई०)

पं० रेवतीरंजन भूषण : 'कर्मवीर' (१९२५)

मोहनलाल गुप्त : 'अधर्म का अंत (१९३८)

आत्मिक ज्ञान और विज्ञान स्वरूप ब्रह्मानन्द में आत्मा का लय होना भी दिखाया गया ।[१] अधिकांशत: अहंकारादि असत् प्रवृत्तियों पर सत् प्रवृत्तियों की विजय दिखाकर सत् सिद्धान्त का प्रतिपादन दिखाई पड़ा ।[२]

लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक समस्या नाटक सामाजिक विचार प्रधाननाटक एवं घटना प्रधान नाटक बहुत प्रसिद्ध हुए तथा बौद्धिक तथा शिष्ट जन की रुचि के सर्वथा अनुकूल हुए । चिरन्तन नारीत्व की समस्या के समाधान के उद्देश्य की पूर्ति में नाटककार ने प्रेम स्वातंत्र्य और मर्यादित विवाह का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया ।[३] पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के सम्पर्क ने नवशिक्षित युवक युवती समाज को स्वच्छंद प्रेम की ओर आकृष्ट किया, इधर भारतीय संस्कृति मर्यादित विवाह की प्रेरणा देती है । वस्तुत: इस नाटक का उद्देश्य एक सामयिक समस्या का बौद्धिक तर्क वितर्क द्वारा उद्घाटन करना है । नाटककार ने मर्यादित ि विवाह का पक्ष ग्रहण करते हुए भी बुद्धिवादिता को नहीं छोड़ा । और मालती जैसी बुद्धिवादी पात्री की सृष्टि करके नारी को भावुकता तथा स्वच्छन्दता की भूमि से हटाकर अपने विषय में सोचने की प्रेरणा प्रदान की । उनके अन्य नाटकों में भी चिरन्तन नारीत्व की समस्या का समाधान हुआ । स्वच्छन्द प्रेम की उच्छृंखलता के सम्बन्ध में मायावती के विचार इस प्रकार हैं — "रक्त की उत्तेजना जवानी की वासना और उन्माद को अंग्रेजी पढ़ी लिखी लड़कियों की तरह मैंने भी नारी स्वातंत्र्य और नारी समस्या कहकर दुनिया को दिखा देना चाहा था"[४] .... यूरोप के नारी सुधार आन्दोलन में जिन स्त्रियों ने भाग लिया था, उन्हें मैं देवी समझती थी । लेकिन क्या सभी कहीं आत्मवंचना और दम्भ, के स्वतंत्रता के नाम पर वासना की अभितृप्ति नहीं थी ।"[५] भारतीय वैवाहिक आदर्श

---

१. शंकरानन्द : 'विज्ञान नाटक' (१९११)

२. शंकरानन्द : 'विज्ञान विजय नाटक' (१९१३ द्वि०भाग)

३. पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'सन्यासी' (१९३१)

४. लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'आधीरात' , पृ० ४५

५. वही, पृ० ४४

मायावती के शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ —" स्त्री पुरुष का –दो जीवन और दो आत्माओं का मिलकर एक हो जाना –उनकी व्यक्तिगत भिन्नता का नाश और एक सम्मिलित व्यक्तित्व का उदय, इसका अवसर मुझे नहीं मिला। मेरा विवाह तो अंग्रेजी ढंग से हुआ था, जिसमें सन्देह है। डाइवोर्स है, पुरुष के प्रति प्रतिहिंसा है। जिसके मूल में यह भावना है कि बच्चे न पैदा हों, किसी तरह का बंधन न हो।"[१] मिश्र जी नारी जाति को भारतीय संस्कृति की मर्यादापूर्ण वैवाहिक रीति की याद दिलाकर उनका दाम्पत्य जीवन सुखी देखने के लिए उत्सुक हैं।

नारी जागरण का उद्देश्य—

नीलदेवी (सं० १९३८) में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में नारी जागरण का उद्देश्य लेकर चले। इसमें अन्य नाटकों की अपेक्षा उल्लेखनीय विशेषता यह है कि पद्मिनी आदि अनेक राजपूत नारियों की भांति नीलदेवी पति की मृत्यु के उपरान्त जौहर की ज्वाला में स्वयं को समर्पित नहीं कर देती है वरन् एक जागृत, चिन्तन शीला वीरनारी के समान युक्ति और वीरता का सहारा लेकर अत्याचारी अमीर अब्दुश्शरीफ़ के प्राण ही ले लेती है तथा नारी जाति को जागरण का सन्देश देती है कि भारतीय नारी अबला नहीं, सबला है।

बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षा दान' अर्थात् 'जैसा काम वैसा परिणाम' नारी जागरण के उद्देश्य को बड़े ही मनोरंजक रीति से पूरा करता है। नायिका मालती वेश्यागामी पति से कहती है — 'क्या मेरा आदमी का चोला नहीं है? या कि मेरी देह लोहू-मांस की नहीं है? क्या मेरे मन नहीं है? क्या मेरे इन्द्रियां नहीं हैं? क्या मुझको सुख-दुःख का ज्ञान नहीं है? मैं तो कोई चीज़ ही नहीं ठहरी और फिर तुम मेरा बड़ा सत्कार करते हो न?'[२] पतिव्रता

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र 'आधीरात', पृ० ३७

२. पं० बालकृष्ण भट्ट :'शिक्षादान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम' सं० १९८५, द्वि०सं०, सातवां गर्भांक।

मालती उपयुक्त समय से वाचाल बन जाती है तथा युक्ति के द्वारा कुमार्गी पति को सुमार्ग पर खड़ा कर देती है। उदयशंकर भट्ट का नाटक "अम्बा" (१९३५) नारी जागरण का अच्छा चित्र उपस्थित करता है। अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका की समाज में दुर्गति दिखाकर स्त्रियों की सामाजिक दशा में सुधार की कामना स्पष्ट परिलक्षित होती है। अम्बा विद्रोहिणी बन जाती है और समाज के दुर्व्यवहारों से पीड़ित होकर प्रतिशोध की ज्वाला में जलने लगती है। अन्ततः वह पीड़ित नारी उस प्रतिशोध को लेने में सफल होती है। आधुनिक स्त्रियों की भांति पुरुष से प्रतिस्पर्द्धा रखती हुई तथा अपने ऊपर उनके अत्याचारों को अनुभव करके अपने आपको मुक्त करने का प्रयत्न दिखाया है। थोड़े में कह सकते हैं कि प्राचीन कथा के माध्यम से अर्वाचीन विचारों में भूत और वर्तमान का गठबन्धन किया है।

भारतेन्दु युग (१८५० - १९०० ई०) के सामाजिक जागरण में तत्कालीन समस्याओं का मुख्य केन्द्र नारी समस्या थी। प्राचीन आदर्शों और नारी के नवीन विचारों का समन्वित सुधारवादी उद्देश्य रखकर नाटककारों ने नाट्य रचनाएं कीं। प्रसाद तक आते आते विवाह विच्छेद द्वारा भी विवाह की समस्या को सुलझाया जाने लगा। विवाह विच्छेद द्वारा अनमेल विवाह की समस्या को सुलझा कर नाटककार ने वस्तु के उद्देश्य को एक नवीन मोड़ दिया। प्रसादोत्तर-युग के नाटककारों ने तो स्त्रियों में पुरुष के प्रति पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का भाव प्रदर्शित किया तथा नारी के हीन भाव को दूर फेंक देने की प्रेरणा दी। धीरे धीरे नाटककार को नारी को उच्छृंखल बनने से बचाने के लिए प्राचीन संस्कृति और आधुनिक शिक्षा के समन्वय से नारी चरित्र के निर्माण का उद्देश्य बनाना पड़ा। शिक्षित स्त्रियों को विवाह के पश्चात् मानसिक सन्तुलन बनाये रखने की शिक्षा दी। उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपनी भूमिका में लिखा— " यदि उसे (शिक्षित लड़की को) विवाह कर, सीधा साधा जीवन बिताना पड़ता है तो उसे इस सीधे साधे जीवन पर नाक भौं न चढ़ानी चाहिए। .... चाहिए यह कि जहां शिक्षा पाकर नारी स्वाभिमान आत्मविश्वास, व्यापक ज्ञान तथा समाज सेवा की भावनाएं पाये, वहां अपना

सन्तुलन भी न खोये । तभी समाज में व्यवस्था कायम रहेगी ।"[1]

मिश्रबन्धु के नेत्रोन्मीलन (१९१५) नाटक में मुकदमेबाजी के माध्यम से घूसखोरी आदि बुराइयों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है जो समाज को साधारणों की अज्ञानता के कारण खोखला बना रही है । प्रेमचन्द्र के 'कर्बला' एवं 'संग्राम' नाटक भी सामाजिक समस्या को लेकर ही चलते हैं । जमींदार वर्ग का किसान वर्ग पर अत्याचार पाश्चात्य नाटकों के उद्देश्य से पूरी तरह समानता रखता है । गाल्सवर्दी के स्ट्राइक के समान इनका उद्देश्य पूंजीपतियों की दुष्टता का चित्रण करके समाज के निर्धन वर्ग को अपने अधिकार के प्रति सचेत करना है ~~ऐसे नाटकों का उद्देश्य~~ है ।

हरिकृष्ण प्रेमी के 'बंधन' (१९४१) नाटक में पूंजीवादी लोगों द्वारा निर्धन मजदूरों के शोषण की कहानी समाज के सामने प्रस्तुत करना नाटककार का मूल उद्देश्य है ।" सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश (१९३५) नाटक में वर्तमान सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का अच्छा चित्रण है ।" सामाजिक जागरण पैदा करना इसका प्रमुख उद्देश्य है । भारतीय समाज जिसमें जमींदारों के अत्याचार, पूंजीपति, पत्रकार, स्वार्थी रंगेसियार मंत्रियों की पोल खोलने, वकीलों के पतित कर्म, कौंसिल सदस्यों का विलास मद , स्त्रियों की शिक्षा के स्वरूप आदि की विवेचना इस नाटक में नग्न रूप में चित्रित हैं । 'अन्तहीन अन्त' नाटकमें उदयशंकर भट्ट ने अनाथालयों के बच्चों से लोगों की स्वार्थसिद्धि को प्रकाशित करके समाज सुधार की ओर कदम तेज किए हैं ।

देशप्रेम तथा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करना —

हिन्दी नाटक का आरम्भ उस समय हुआ जब भारत पूर्णतया गुलामी की जंजीर में जकड़ा हुआ छटपटा रहा था । उस समय राष्ट्रीयता और सामाजिक सुधार की आवश्यकता थी । नाटक कारों ने सुषुप्तावस्था में पड़े आलसी भारतीयों

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क :' स्वर्ग की झलक' (१९४०ई०) भूमिका पृ १०

को अपने नाटकों के द्वारा जागरण का सन्देश दिया । 'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु का देशवत्सलपूर्ण, राष्ट्रीय विचारधारा से पूर्ण रूपक है । भारत की दीन-हीन अवस्था का चित्रण करके भारतीयों को उसे सुधार देकर ऊपर उठाने के लिए प्रबुद्ध करना इसका मूल उद्देश्य है । 'नीलदेवी' में राष्ट्रीय भाव कूट कूट कर भरे हैं । भारतेन्दु जी के कथन स्वयं ही उनके उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं । विदेशी स्त्रियों को अपने पतियों के कार्य में सहयोग देते देखकर वह प्रभावित हैं[१] तथा नीलदेवी के चरित्र चित्रण द्वारा भारतीय नारी को भी सभी सामाजिक कार्यों में भाग लेकर देश की मर्यादा को गौरवान्वित करने में समर्थ सिद्ध करते हैं । उन्होंने नारी-समाज की कुछ दुर्बलताओं के पुनरुत्थान के लिए ऐतिहासिक पात्री नीलदेवीके शक्ति स्वरूपा आचरण को दिखाया है । बड़ोदाधीश मल्हारराव को ब्रिटिश सरकार ने राज्यच्युत किया क्योंकि वह व्यभिचारी तथा अयोग्य थे । इसकी भारतेन्दु ने प्रशंसा की है इसका कारण है कि बुराइयों को बढ़ावा देना राष्ट्रीयता के प्रतिकूल है ।[२]

राधाकृष्ण दास ने राष्ट्रीय उद्देश्य को ध्यान में रखकर 'महारानी पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रताप' नामक दो नाटक लिखे । दोनों नाटक राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत देश पर बलिदान होने का आह्वान करते हैं । राधाचरण गोस्वामी के 'अमरसिंह राठौर' नाटक में अमरसिंह के वीर चरित्र का प्रदर्शन करके हिन्दुस्तानियों में वीर भाव जाग्रत करना ही नाटककार का उद्देश्य प्रतीत होता है ।

बद्रीनाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त' और 'दुर्गावती' नाटक देशप्रेम के भाव से अनुप्राणित हैं । अद्भुत वीरता एवं देशप्रेम के दर्शन कराना ही नाटककार का उद्देश्य है । सन् ५७ की राजनीतिक क्रांति से तथा अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आने

---

१. बा० ब्रजरत्नदास -: 'भारतेन्दु नाटकावली', भाग १, द्वितीय संस्करण, सं०२००८ रामनारायण लाल, इलाहाबाद, नीलदेवी की भूमिका से, पृ० ४२१

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - 'विषस्य विषमौषधम्', १९३२ सं०

से एक साथ ही देश-प्रेम, जाति-प्रेम, भाषा-प्रेमकी भावना का उभड़ना स्वाभाविक ही था। रानी दुर्गावती अकबर के छक्के छुड़ा देती है। दुर्गावती की वीरता पुरुषों में तो जोश भर ही देती है, नारी जागरण का भी सन्देश देती है। `अमर सिंह` राठौर` और `उत्सर्ग` चतुरसेन शास्त्री द्वारा लिखे गए राजपूतों के स्वाभिमान तथा उनकी वीरता एवं यश कीप्रतिष्ठा का प्रदर्शन करते हैं। दोनों ही नाटक हमें देश प्रेम से प्रेरित करते हैं।

छोटेलाल`लघु` का `वीरदुर्गादास`, कृष्णालाल वर्मा का दलजीत सिंह नाटक देश प्रेम के भावों से ओतप्रोत है। भारतेन्दु जी के `भारत दुर्दशा` से प्रेरणा लेकर भारत दुर्दिन, देश दशा, वर्तमान दशा आदि अनेक नाटक राष्ट्रीय भावों के प्रचार के उद्देश्य से लिखे गए। देश की दासता से सभी उद्विग्न थे। नाटककारों ने कहीं देश दुर्दशा` के चित्रण द्वारा, कहीं अंग्रेजी सभ्यता की नकल करने वालों का मजाक बनाकर तथा भारतीय सभ्यता का गुणागान करके स्वराज्य स्वदेश के प्रति ममता जागृत करना अपना उद्देश्य बनाया है। घनश्याम प्रसाद का `वीर हकीकत राय` नाटक पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र का ईसा नाटक-शिल्प की दृष्टि से तो महत्व पूर्ण नहीं है किन्तु उसका उद्देश्य पक्ष प्रबल है। ईसा ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर जन्मभूमि का ऋण चुकाया। इसका उद्देश्य देशभक्ति जागृत करना है। साम्प्रदायिक एकता दिखाकर हिन्दू और मुसलमानों की बीच की शत्रुता का उन्मूलन करने का प्रयत्न राष्ट्रीयता के उद्देश्य से किया गया है।[१]

बदरीनारायण चौधरी का'भारत सौभाग्य'(१८८८ई०) गोकुलदास वैश्य का'भारत विजय'(१९२२ई०) लक्ष्मण सिंह का `गुलामी का नशा` भी अच्छे राष्ट्रीय नाटक हैं। इनसे देशवासियों में देशभक्ति, वीरता, हिम्मत और वफादारी की प्रेरणा मिलती है। जगन्नाथ प्रसाद `मिलिन्द`, `प्रताप प्रतिज्ञा` (१९२९ ई०) में स्वतंत्रताप्रिय राजा तथा उनके अन्य साथियों की वीरता,उल्लास और त्याग का

---

१. हरिकृष्णशरण मिश्र :'भारतवर्ष', पृ० सं०, सं० १९८४ वि०, स०क०ग्र०मा०, कार्यालय,लखनऊ।

चित्र खींचकर भारतवासियों को स्वदेश प्रेम की भावना से भर दिया है। पं० लोकनाथ सिलाकारी ने 'वीर ज्योति' (सन् १९२५) की रचना इसी उद्देश्य से की है। यमुनाप्रसाद त्रिपाठी की 'आजादी या मौत' (१९३६ ई०) में परमालदेव के सेनापति मलखान की वीरता, स्वाभिमान, देशप्रेम दिखाकर अपनी निर्बल जनता में मातृभूमि के हित वीरता से प्राण देने का उत्साह जगाना प्रमुख उद्देश्य है। इन नाटकों में गुलाम भारत में बसने वाले नाटककारों की लेखनी गुलामी की बेड़ी तोड़ने के लिए खूब तेजी से चली है।

'प्रसाद' का 'स्कन्दगुप्त' नाटक देश प्रेम, शौर्य तथा त्याग के भावों से ओत-प्रोत है। अंतिम अंक में रणक्षेत्र में उद्बोधन-गान में भारत पर सर्वस्व निछावर कर देने की कामना की गई है —

.. ..

निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष।[१]

यह गान बहुत विस्तृत है जिसमें भारत तथा भारतीयों के शौर्य, पराक्रम, दान, दया, धर्म आदि का गुणगान किया गया है। ऐतिहासिक सहारा लेकर नाटककार ने भारतीयों में राष्ट्रप्रेम की भावना को जागृत करने का उद्देश्य अपने सम्मुख रखा है क्योंकि देश को इसकी आवश्यकता थी।

'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में भी अत्याचारी नन्द तथा विदेशी यूनानियों के अत्याचार और आक्रमण से राष्ट्र का उद्धार दिखाया गया है। देश-भक्ति का भाव उत्पन्न करना नाटककार का प्रमुख उद्देश्य है। यों 'प्रसाद' के अन्य नाटकों की भांति इसमें भी कई उपकथाएं चलती रहती हैं जिसके अनुसार कई उद्देश्य भी निकल आते हैं किन्तु प्रमुखता राष्ट्रोद्धार की है। चन्द्रगुप्त चाणक्य के शिष्यत्व में सर्वदा एक वीर की भांति अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित देश को बचाने के लिए सन्नद्ध

---

१. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त ; सं० २०१३ वि०, बारहवां संस्करण, भारती भण्डार इलाहाबाद, पृ० १५०-५१

दिखाई पड़ता है। और चाणाक्यस्वयं सदैव देश के कल्याण के लिए उद्यत दिखाये गए हैं। सिंहरण, पर्वतेश्वर में शौर्य, आत्मबलिदान की क्षमता कूट कूट कर भरी है। अलका 'हिमाद्रि तुङ्ग शृंग पर...... ' गाते हुए राष्ट्र को जागरण का सन्देश देती हुई प्रयाण गीत गाती है। स्कंदगुप्त आर्यावर्त को हूणों के आतंक से मुक्त करके ही दम लेता है तो चन्द्रगुप्त चाणक्य की प्रेरणा से आर्यावर्त में नवीन राष्ट्र का निर्माण कर देता है।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' का 'विषपान' ऐतिहासिक नाटक है जिसका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय एकता का महत्त्व दिखाना है क्योंकि राष्ट्रीय एकता से राष्ट्र बलवान रहता है। प्रेमी जी ने पुकार (विषपान की भूमिका) में कहा है कि 'यदि साहित्यिक श्रेष्ठ विचार नहीं देता--केवल मनोरंजन की भूख मिटाता है तो उसकी सेवाओं का अधिक मूल्य नहीं है। साहित्यिक की लेखनी की रेखाओं से युग का निर्माण होता है। साहित्य द्वारा समाज के संस्कार बनते हैं।'[1] तथा प्रेमी ने विषपान के वक्तव्य में लिखा है --'राजस्थान की एकता के लिए कृष्णा ने विषपान किया था और कल ही महात्मागांधी ने भारतीय एकता के लिए अपने प्राण दिये हैं। इतना बड़ा बलिदान लेकर भी हिन्दुस्तानियों ने राष्ट्रीय एकता का महत्त्व नहीं समझा। इसीलिए मुझे सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता का राग बार बार गाना पड़ रहा है।'[2] प्रेमी का 'रक्षा बंधन' नाटक भी हिन्दू-मुस्लिम प्रेम को आधार बनाकर देश-प्रेम का भाव जाग्रत करता है। 'स्वप्नभंग' का उद्देश्य भी हिन्दू-मुस्लिम एकता है। दारा दोनों जातियों की एकता का स्वप्न देखता है तथा इसके लिए संघर्ष करता है। किन्तु दारा का स्वप्नभंग हो गया और आज तक पूरा नहीं हुआ जिसका उदाहरण आज हिन्दुस्तान एवं

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : 'विषपान,' चतुर्थ संस्करण, १९५१ ई०, आ०रा०ए०स०का० गेट, दिल्ली, पृ० ६

२. वही (वक्तव्य से)

पाकिस्तान का युद्ध है।

`प्रतिशोध` नाटक में `प्रेमी` ने मातृभूमि के प्रति बलिदान की भावना से भर दिया है। यदि कहा जाय कि वीररस प्रधान बना दिया है तो अत्युक्ति न होगी। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपनी `नारद की वीणा` में आर्यों और द्रविड़ों के समन्वय से वर्तमान का सम्मिलित जीवन दिखाना अपना उद्देश्य रखा है। द्रविड़ों को आर्य निम्न श्रेणी में गिनते आए हैं -इसी भ्रम को दूर करने का प्रयत्न नाटककार ने यह दिखाकर किया है कि आर्यों ने द्रविड़ों को युद्ध में तो हराया किन्तु बुद्धि के क्षेत्र में आर्यों ने मूल निवासी द्रविड़ों से पराजित हो उन्हीं के आचार-विचार तथा संस्कृति में स्वयं का लय कर दिया। भारतीय सभ्यता की संस्थापना में आर्य और द्रविड़ दोनों का हाथ है। देश की एकता की पुकार इस नाटक में सर्वत्र गूंजती है। प्रेमी जी के लगभग सभी नाटकों का उद्देश्य राष्ट्रीय आदर्श की प्रतिष्ठा है क्योंकि इन नाटकों के सृजन के समय राष्ट्र दासता की शृंखला में जकड़ा छटपटा रहा था।

हरिकृष्ण प्रेमी के `शिवासाधना` तथा `मित्र` राष्ट्रीय एकता की स्थापना के उद्देश्य से लिखे गए हैं। `शिवा साधना` की भूमिका में लिखा है कि - `पंजाब में ज्ञान बांसुरी और कर्म का शंख फूंकने वाली बहिन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझ से कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में -हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बढ़ रही हैं। उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार कर रहे हैं। तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। इस लक्ष्य को सामने रखकर उन्होंने मुझे ऐतिहासिक नाटक लिखने का आदेश दिया"।[१] `मित्र` नाटक का उद्देश्य भी नवीन है। हिन्दुओं और मुसलमानों को मित्र भाव से रहने की शिक्षा देकर राष्ट्रीय एकता के द्वारा राष्ट्र को बलशाली बनाना इसका प्रमुख उद्देश्य है क्योंकि भारत के मुस्लिमकालीन इतिहास को इस देश के विरोधियों ने

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : 'शिवासाधना', दूसरा संस्करण, १६३६, हि०मा०क०, अपनी बात, पृ० (क)

विषाक्त बना दिया है। प्रेमी ने इस नाटक के द्वारा इस घृणा को दूर करने का प्रयत्न किया है।

रामनरेश त्रिपाठी का 'वफ़ाती चाचा' (१९३६) हिन्दू मुस्लिम एकता की स्थापना करना प्रमुख उद्देश्य है। प्रो० सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' (१९३७ ई०) देशभक्ति तथा स्वतंत्रता की शिक्षा देता है। बुन्देले वीर बुन्देलखण्ड पर स्वतंत्रता की पताका फहरा कर ही सांस लेते हैं। सेठ गोविन्ददास जी का राष्ट्रीय उद्देश्य से लिखा गया 'सेवापथ' उत्तम नाटक है। शरीर से की गई देश और समाज की सेवा सर्वोत्तम बताया गया है। दीनानाथ के निस्वार्थ शारीरिक देश-सेवा को सच्ची सेवा सिद्ध किया है। उ०शं० भट्ट के 'दाहर अथवा सिंध पतन' में जाति-भेद प्रांत-भेद के दुर्गुणों को दिखाकर उसे ही देश को दासता की जंजीरों में जकड़ने का कारण सिद्ध किया है। राष्ट्र का उद्धार करना इसका प्रमुख उद्देश्य है।

इन्द्र विद्यावाचस्पति का रूपक 'स्वर्ण देश का उद्धार' (१९३१ ई०) देशभक्ति की प्रेरणा के उद्देश्य से लिखा गया है। ऐसे नाटक भी प्राप्त होते हैं जिनमें चरित्र-चित्रण के द्वारा किसी विशेष व्यक्ति के राष्ट्रीय, लोक मंगल भाव को प्रदर्शित करके देशभक्ति के उद्देश्य की पूर्ति हुई है। उदाहरणस्वरूप - विषय द्वापर युग का है किन्तु सुदामा के गुणों में नवीनता यह है कि नरोत्तमदास के 'बाम्हन को धन केवल भिक्षा' को निरर्थक बताकर ब्राह्मण के अन्य आदर्श, जिसमें लोक-कल्याण, राष्ट्रप्रेम का भाव प्रधान है, तथा जिसके कारण ब्राह्मण आदर के पात्र हुए तथा कृष्ण के अनेकों मित्रों में सुदामा ही अन्तरंग मित्र बन सके, की कल्पना की गई।[१] अनेकों राजनैतिक नाटकों में प्रजातंत्र की आवश्यकता पर बल दिया गया है।[२]

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का प्रद्युम्न विजय व्यायोग रास-लीला पर तथा सेठ गोविन्ददास का कर्तव्य राम और कृष्ण पूर्वार्द्ध, उत्तरार्द्ध दो खण्डों में रामलीला एवं कृष्ण लीला पर आधारित है किन्तु इन दो नाटकों का उद्देश्य नवीन है। हरिकृष्णऔध ने अत्याचारी शासक वर्ग से अबलाओं के उद्धारकर्ता

---

१. किशोरीदास वाजपेयी - द्वापर की राज्य-क्रान्ति, द्वि०सं०, १९४० ई० , हि०ए०का०, यू०पी०

२. बद्रीनाथ भट्ट - वेनचरित्र, प्र०सं०, सं० १९७६, रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स, आगरा।

प्रद्युम्न की वीरता प्रदर्शित करना उद्देश्य बनाया है। पौराणिक नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न कर ब्रिटिश अन्यायी शासन से मुक्त होने की प्रेरणा देना इसका उद्देश्य है। सेठ जी के 'कर्तव्य' का उद्देश्य पूर्वार्द्ध में मर्यादापालन का प्रदर्शन तथा उत्तरार्द्ध में लोकहित का व्यापक कर्तव्य प्रदर्शन है।

उदयशंकर भट्ट के 'सगर विजय' में पौराणिक कथानक के द्वारा राष्ट्रीय भावोत्तेजना का चित्र प्रस्तुत किया गया है। राजा सगर प्रतिज्ञा करते हैं कि उनका रोम रोम माँ की सेवा के लिए होगा। राजा सगर अपनी माँ विशालाक्षी की प्रतिध्वनि भारतमाता के रूप में देखते हैं। देश की सेवा प्रदर्शित करके राष्ट्रीय चेतना का सन्देश देना नाटककार का स्पष्ट उद्देश्य दिखाई पड़ता है। माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' तथा बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवनदहन' तथा 'वन-चरित' पौराणिक आख्यान की पृष्ठभूमि पर नवीन राजनीति का कलेवर विद्यमान है। अत्याचारी सत्ताधारियों की बुद्धि ठीक रास्ते पर लाने का उद्देश्य प्रदर्शित किया गया है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' के 'अम्बपाली' नाटक में संघशक्ति के हर पहलू पर विचार किया गया है जिसका उद्देश्य प्रजातंत्र के सबल तथा निर्बल सूत्रों को प्रदर्शित करके उसका एक पुष्ट स्वरूप निर्धारित करना है।

सिद्धान्त प्रतिपादन का उद्देश्य—

सिद्धान्त प्रतिपादन के उद्देश्य को सम्मुख रख कर भी हिन्दी के नाटककारों ने नाट्य-रचना की। भारतेन्दु तथा अन्य नाटककारों ने भक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादन में आराध्य के प्रति आत्मसमर्पण तथा आत्मोत्सर्ग में लोक लाज, कुल-धर्म की मर्यादा को भुलाकर प्रेम में तन्मयता दिखाई तथा भगवान का भक्त के वश में होना सिद्ध किया।[१] उज्ज्वल तथा सच्चे प्रेम सिद्धान्त को प्रदर्शित करने वाले नाटक भी लिखे गए।[२] हिन्दी नाटकों में सनातन धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिपादन

---

१. (क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'चन्द्रावली नाटिका' (१८७६), 'सतीप्रताप'
(ख) बलदेवप्रसाद मिश्र : 'प्रभास मिलन नाटक' (१९०३) विद्याधर त्रिपाठी 'उर्वशीहि नाटिका' (१८८७)

२. लाला श्रीनिवास दास : 'रणधीर प्रेममोहिनी' (१८७७) आदि

की चेष्टा भी हुई ।[१] सियारामशरण गुप्त ने अहिंसा के सिद्धान्त की श्रेष्ठता का प्रतिपादन अपने नाटक का उद्देश्य रखा । पौराणिक आख्यान में नवीनता की सृष्टि करके आदर्श की स्थापना की । वृत्रवत के प्रति कहे गए सुलसोम के शब्दों में नवीनता के दर्शन अधिकार और कर्तव्य के विचार से कर सकते हैं — " मैं तुम्हें या तुम मुझे मार डालते तो क्या इससे अभीप्सित फल की प्राप्ति हो जाती ? यदि हम मनुष्य को जिला नहीं सकते तो हमें उसकी हत्या करने का भी अधिकार नहीं है ।"[२] आदर्श प्रेम के सिद्धान्त का उद्देश्य लेकर प्रसाद जी भी रचना कर चुके हैं । नागजाति की बाला चन्द्रलेखा तथा ब्राह्मण जाति का लड़का विशाख दोनों में अनेकानेक विपत्तियों को सहते हुए भी प्रेम की एकनिष्ठता दिखाई पड़ी ।[३] भारतेन्दु जी ने सत्य का आदर्श सिद्ध करने में कोई कमी नहीं की ।[४] माखनलाल चतुर्वेदी ने कर्तव्य पालन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की ।[५] अर्जुन का कृष्ण के साथ संबंध सर्वविदित है । इस संबंध, में परममित्र तथा सखा के साथी कृष्ण के विरुद्ध कर्तव्य पालन को ऊंचा स्थान देकर युद्ध क्षेत्र में अर्जुन उतर पड़े । गांधीवाद के अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धान्त के उद्देश्य से भी नाटक लिखे गए ।[६] अर्जुन का कृष्ण के साथ संबंध सर्वविदित है । उस संबंध , परम मित्र तथा सखाके साथी कृष्ण के विरुद्ध कर्तव्य पालन को ऊंचा स्थान देकर युद्ध क्षेत्र में अर्जुन उतर पड़े हैं । बिहारी लाल शर्मा का `श्रीनिम्बार्कावतरण` (१६३२ई०) श्रीनिम्बार्क के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के उद्देश्य से लिखा गया है । श्री ताराप्रसाद वर्मा का `आजकल` (१६३६ई०) गांधीवाद के अहिंसा तथा सत्याग्रह के सिद्धान्त का प्रचार करने के उद्देश्य से लिखा गया है ।

---

१. अमरनाथ कपूर : `गुरुगोविन्दसिंह` (१६२२)

२. सियारामशरण गुप्त : `पुण्यपर्व` १६३३, प्र०सं०, साहित्यसदन, चिरगांव, झांसी, पृ० १०६

३. जयशंकरप्रसाद : `विशाख` (१६२१)

४. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : `सत्यहरिश्चन्द्र`

५. माखनलाल चतुर्वेदी : `कृष्णार्जुन-युद्ध` (१६२०)

६. ताराप्रसाद वर्मा : `आजकल` (१६३६)

आध्यात्मिक नाटक शंकरानन्द के 'विज्ञान नाटक' (१९११ ई०) में आत्मिक ज्ञान-विज्ञान स्वरूप ब्रह्मानन्द में आत्मा का लय होना दिखाया गया है तथा शंकरानन्द के 'विज्ञान विजय नाटक' (द्वितीय भाग १९१३ ई०) में अहंकार आदि असत् पर सत् की विजय दिखाकर सत्-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवनदहन' (१९१२) भी सत्-सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा है। मैथिलीशरणगुप्त ने अपने 'चन्द्रहास' नाटक में नियति सिद्धान्त की प्रबलता पर विशेष बल दिया है। धृष्टबुद्धि नामक पात्र ने गालव मुनि की भविष्यवाणी को झूठ सिद्ध करने के लिए कोई उपाय शेष नहीं रखा किन्तु नियति ने चन्द्रहास की रक्षा की। अन्त में वही धृष्टबुद्धि स्वयं पश्चाताप करता हुआ कहता है —

" विधि विधान कभी टलता नहीं
हठ किसी जन का चलता नहीं
नियति ने वह योग मिला दिया
कि जिसने 'विष' का 'विषया किया।[१]

भगवतीप्रसाद वाजपेयी का मनोवैज्ञानिक नाटक 'छलना' (१९३९ई०) भौतिक जीवन से मनोवैज्ञानिक असंतुष्टि दिखाकर आदर्श की प्रधानता दिखाना उद्देश्य रखता है।

सेठ गोविन्ददास के 'गरीबी या अमीरी' (१९४७ ई०) में श्रम और उत्तराधिकार की समस्या उठाकर समाधान रूप में श्रम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। कुछ नाटक ज्ञान-प्रतिपादन के उद्देश्य से लिखे गए तथा 'बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय' अर्थात् ज्ञान सिद्धान्त को प्रदर्शित करते हुए सामाजिकों को शिक्षा देते हुए दिखाई पड़ते हैं।[२] पृथ्वीनाथ शर्मा के 'अपराधी'

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : 'चन्द्रहास,' सं० १९८० वि०, तृतीयावृत्ति (नाटक के अन्त में)

२. (क) ज्ञानदत्त सिंह : 'मायावी,' प्रथम संस्करण, सन् १९२२

(ख) गोपालदास गहमरी : 'बकवीर,' पहली बार, १९१३ ई०, प्रकाशन स्थान ?

नाटक (१९३९ ई०) में अपराधी और अपराध का कानून की दृष्टि से तथा समाज की नैतिक दृष्टि से क्या स्वरूप है इसकी विभिन्नता दिखाकर नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा की गई।

'सिन्दूर की होली' मिश्र जी का घटना प्रधान सामाजिक समस्या नाटक है। बुद्धिवादी पात्रों ने समस्या पैदा भी की है और हल भी करते हैं। वस्तुत: बुद्धिवाद ही समस्याओं की जड़ में बैठा है। नाटककार इसमें शेक्सपियर के समान कर्म-प्रतिफल सिद्धान्त का पालन करता दिखायी पड़ता है। मुरारीलाल ने जैसे पाप किए हैं उसका प्रतिफल कर्म के प्रेरणास्वरूप अपनी बेटी का जीवन देकर मिल जाता है। तमाम नीच कर्म पैसे के लोभ में अपनी एक मात्र पुत्री के लिए किया जिसका उपभोग करने को वह तैयार नहीं हुई। हर ओर से उसने पिता की कामनाओं को चूर चूर कर दिया। इसकी प्रमुख समस्या कानून द्वारा सुरक्षा की है। अपनी जायदाद की सुरक्षा के लिए न्यायालय में जाने वाला रजनीकान्त जायदाद के साथ ही प्राणों से भी हाथ धोता है किन्तु ऐसे कर्म का फल मुरारीलाल को मिल जाता है। मनोजशंकर नाटक के अंत में कहता है -"प्रतिफल मिलता है न? मेरा और रजनीकांत का सर्वनाश भी तो .... हमलोगों ने इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। संचित कर्म जो चाहते हैं करा डालते हैं...... इसमें हममें से किसी का दोष नहीं।"[१] प्रमुख समस्या उपरोक्त है। किन्तु विधवा विवाह समस्या का समाधान नारी के आदर्श के रूप में किया है अर्थात् विधवा विवाह प्रकृति के प्रतिकूल है। विधवा-विवाह से मानसिक एक रूपता में बाधा पड़ सकती है। मनोरमा के शब्दों में — "तुम जीवन का, विशेषत: स्त्री के जीवन का दूसरा पहलू भी समझते हो..... देखते हो उसके भीतर संकल्प है, साधना है, त्याग और तपस्या है...... यही विधवा का आदर्श है और यह आदर्श तुम्हारे लिए गौरव की चीज है।"[२] रोगोपचार के संबंध में मनोजशंकर अपना महत्वपूर्ण मत व्यक्त करता

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'सिन्दूर की होली', पृ० ६३

२. वही पृ १०८

है — 'अधिकांश बीमारियाँ मानसिक विक्षोभ के कारण होती हैं' ... ... वह पुन: कहता है कि 'प्रकृति के रास्ते पर लौट आना ...... नीरोग होना दोनों बराबर हैं।' किन्तु मूल उद्देश्य कर्म प्रतिफल सिद्धान्त (Theory of Nemesis) की पुष्टि करना है।

'राक्षस का मन्दिर' का प्रमुख उद्देश्य समाज सुधार है। समाज के यथार्थ चित्रण द्वारा वासना रूपी राक्षसी प्रवृति का दिग्दर्शन कराया गया है। राक्षस का प्रतीक मुनीश्वर है। इसे विचार-प्रधान सामाजिक नाटक कहना उपयुक्त जान पड़ता है। मुनीश्वर जैसे राक्षस से समाज को सचेत रहने की शिक्षा मिलती है। 'मुक्ति का रहस्य' नामक नाटक का उद्देश्य वस्तुत: आदर्शवाद पर यथार्थवाद की विजय दिखाना है। बुद्धिवाद की प्रधानता तो लगभग उनके सभी नाटकों में पाई जाती है। इसमें भी आशादेवी बुद्धिवादी, यथार्थ का पल्ला पकड़कर चलने वाली है और उमाशंकर का आदर्श अध्यात्म की सीमा को छू रहा है अन्तत: आशा-देवी डाक्टर को अपना जीवन साथी बना लेती है तथा इसके लिए उमाशंकर को तर्क के द्वारा परास्त भी कर देती है। सच तो यह है कि मिश्र जी के सभी नाटक प्रमुख रूप से काम की समस्या को लेकर चलते हैं। इसमे आशा देवी उमाशंकर का प्रेम पूर्णतया प्राप्त करने के उद्देश्य से, विशेष रूप से अपनी काम वासना तृप्ति के लिए उमाशंकर की पत्नी को बाधक समझकर उसे मार डालने का जघन्य कर्म कर डालती है। आशा देवी ने अपने तर्कों द्वारा आदर्श पर यथार्थ की विजय सिद्ध कर देती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने उद्देश्य 'सच्चाई को दबाना ही तो पाप है' को राजयोग में पाप कर्मों पर पर्दा डालने के प्रयत्न में मानसिक ग्रंथि बन जाने एवं उनकी उद्विग्नता का चित्र अंकित करके पूरा किया। तथा इस समस्या का समाधान पाप को प्रकाशित करने में बताया क्योंकि एक पाप को छिपाने में अनेक पाप करने पड़ते हैं।[१] पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने प्रतीकात्मक गीतिरूपक में आदर्श समाज की सृष्टि करके आनन्दवाद की स्थापना का उद्देश्य हमारे सम्मुख रखा।[२]

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'राजयोग' (१९३४)

२. पं० सुमित्रानन्दन पन्त : 'ज्योत्स्ना' (१९४७)

हास्योत्पत्ति का उद्देश्य—

हिन्दी में हास्य नाटक लिखने का सर्वप्रथम प्रयास भारतेन्दु ने किया । इन प्रहसनों का उद्देश्य केवल हास्य की सृष्टि करना न होकर सामाजिक पाखण्डों, धार्मिक दलीलों की खिल्ली उड़ाकर तीव्र व्यंग्य के द्वारा आडम्बरपूर्ण कृत्यों का मूलोच्छेदन करना हुआ । कहीं धर्म के नाम पर पाखण्ड का प्रदर्शन करके व्यंग्य और हास्य की उत्पत्ति की गई,[1] कहीं वेश्यावृत्ति के दुष्परिणाम का प्रतिपादन श्लिष्ट शब्दों एवं बेढंगे नामों द्वारा करके हास्य की सृष्टि हुई ।[2] एक राजा के विचित्र चरित्र विधान से राज्य में किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं है तथा सर्वत्र अंधेर नगरी बनी हुई है, सभी चीजें टके सेर मिलती हैं । इस प्रहसन में व्यंग्य की तीव्रता है ।[3] राधाचरण गोस्वामी ने भंगेड़ियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करके नशेबाजी का दुष्परिणाम बताया । नशेबाजों का वार्तालाप हास्योत्पादक है ।[4] व्यंग्य, वाक्छल का प्रयोग संवाद में हास्योद्रेक का कारण बना है ।[5] गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने स्वतंत्र रूप से हास्योत्पत्ति के उद्देश्य से अनेक प्रहसन लिखे । इन्होंने चपरासी में सूत्रधार के कथन में मुकदमेबाजी के जाल से लोगों को वंचित रखने का उद्देश्य बताया ।[6] साहित्यिक व्यभिचारियों पर व्यंग्य और आक्षेप करके मनोरंजन के साथ उनकी आँखें खोलने का प्रयत्न किया ।[7] बद्रीनाथ भट्ट के प्रहसन मनोरंजन के साथ शिष्ट हास्य की सृष्टि करने में सक्षम हैं ।[8] बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन आदि ने भी हास्यो-

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३)

२. किशोरीलाल गोस्वामी : 'चौपट-चपेट' (१८९१)

३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'अंधेर नगरी' (१८८१)

४. राधाचरण गोस्वामी : 'भंग-तरंग' (१८९२)

५. (क) राधाचरण गोस्वामी : बूढ़े मुंह मुंहासे' (१८८७)
   (ख) राधाचरण गोस्वामी : 'तनमनधन गोसाईं जी के अर्पन' (१८९०)

६. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव : '(उलटफेर)' (१९२०) आदि

७. गंगाप्रसाद श्रीवास्तव : 'मेरवानी औरत' (१९२०) आदि

८. बद्रीनाथ भट्ट : 'लबड़धौं धौं '(१९२६), 'विवाह विज्ञापन' (१९२७) 'मिस अमे-रिकन' (१९२९)

त्मक नाटकों के द्वारा हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध किया ।[१] हास्य और व्यंग्य के माध्यम से समाज सुधार एवं राष्ट्रोन्नति का प्रयास सराहनीय है ।

मानसिक वृत्तियों के निरूपण का उद्देश्य—

हिन्दी नाटकों के माध्यम से नाटककारों ने मानवीय कार्यों और लौकिक घटनाओं के मूल में स्थित प्रवृत्तियों को प्रकाशित किया । ये प्रवृत्तियां प्रेम, प्रणय, करुणा, त्याग, बलिदान, क्षमा तथा घृणा, द्वेष, प्रतिहिंसा, प्रलोभन, ईर्ष्या, छल आदि हैं । एक सत् प्रवृत्तियों का द्योतन करता है और दूसरा असत् प्रवृत्तियों का । महत्वाकांक्षा तथा उत्साह आदि उभय पक्ष की प्रवृत्तियों के द्योतक हैं जिनमें सत् असत् के मध्य की स्थिति का पालन होता है । सामाजिक दृष्टि से उभय पक्ष वाले लोग अधिक सफल होते हैं ।

हिन्दी में इन प्रवृत्तियों के आधार पर अनेक नाटक लिखे गए, जिनमें कुछ प्रमुख नाटकों का उल्लेख यहां किया जायेगा । ज्ञानदत्त सिद्ध ने मन, बुद्धि और ज्ञान आदि के द्वारा सत्-असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष चित्रित किया ।[२] मैथिलीशरण गुप्त का चन्द्रहास (१९१६) ऐसा ही नाटक है । आरम्भ से अन्त तक सत् असत् का संघर्ष बड़ी सफलतापूर्वक चित्रित है अतः द्वेष, प्रलोभन, ईर्ष्या, छल आदि का स्वयमेव समावेश हो गया है । `अजातशत्रु` असत् प्रवृत्तियों का भण्डार है जिसमें ईर्ष्या, प्रलोभन और द्वेष, छल आदि बलवती हैं । सत् प्रवृत्तियांभी वासवी आदि पात्रों में पाई जाती हैं ।[३] सेठ गोविन्द दास[४] तथा श्री लक्ष्मीनारायण

---

१. (क) बेचनशर्मा उग्र :`चार बेचारे` (१९२९)
   (ख) सुदर्शन : `आनरेरी मैजिस्ट्रेट` (१९२९)

२. ज्ञानदत्त सिद्ध :`मायावी` (१९२२)

३. जयशंकर प्रसाद :`अजातशत्रु` (१९२२)

४. सेठ गोविन्ददास :`हर्ष` (१९३५)

मिश्र,[१] आदि ने भी प्रकृति निरूपण का उद्देश्य सम्मुख रख कर नाटक रचना की । इन नाटककारों ने सिद्ध कर दिखाया कि वास्तविक विजय हृदय परिवर्तन में है जिसके लिए स्नेह, सौजन्य करुणा, प्रेम, क्षमा, त्याग, सेवा आदि ही सही मार्ग है। शस्त्रों द्वारा देश विजय में नहीं । गोविन्दवल्लभ पन्त ने नारीमन का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया ।[२] पद्मावती और मागंधिनी दोनों बुद्ध पर आकृष्ट हैं परन्तु एक उनके गुणों के साथ सौंदर्य पर और दूसरी सौंदर्य मात्र पर । पहली बुद्ध को सदैव सम्मुख देखने के लिए पति के साथ बुद्ध धर्म में प्रविष्ट होती है और दूसरी बुद्ध के प्राण लेने की कामना करती है कि न सौंदर्य रहेगा , न देखने की इच्छा होगी । अनेक मनोवैज्ञानिक नाटकों द्वारा पात्रों के आन्तरिक भावों का दिग्दर्शन करा कर क्रूर मनुष्य के अन्तर्गत भी सत् प्रवृत्तियों को प्रकाशित किया गया । लक्ष्मीनारायण मिश्र का अशोक-~~सेना~~ (१९३९) ऐसा ही नाटक है। अत्याचारी , संघर्षमय अशोक के जीवन में उसी सत् प्रवृत्ति के कारण एकाएक परि-वर्तन हो जाता है।

सेठ जी का दूसरा नाटक 'दु:ख क्यों ?' मनोवैज्ञानिक उद्देश्य लेकर चलता है। मानव प्रवृत्ति होती है कि दूसरों की उन्नति से प्रसन्न नहीं होता , बल्कि एक प्रकार की ईर्ष्या की उत्पत्ति उसके मन में होती है । फिर भी जो ईर्ष्या को दबा देने की शक्ति नहीं रखते, वह अनेक दु:ख उठाते हैं और जो दबाकर उसे अच्छे रूप में ढाल देते हैं, ईर्ष्या की बुराई को जानकर उसे दूर हटा देते हैं,वही वस्तुत: सुखी रहते हैं। ईर्ष्या की इसी आग में यशपाल स्वयं जल जाता है और परिवार का सुख भी छीन लेता है।

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'अशोक' (१९३९)

२. गोविन्दवल्लभ पन्त : 'अन्त:पुर का छिद्र' (१९४०)

अध्याय — ५

भूमिकाएं तथा अन्त

पूर्वरंग —

प्राचीन नाट्यशास्त्र में नाटक की मुख्य वस्तु कथा का आरम्भ करने से पूर्व नांदी, प्ररोचना और प्रस्तावना नामक भूमिकाएं रखने का विधान है । इसे मुख्य कथावस्तु में कोई अन्तर नहीं आता परन्तु प्राय: सभी संस्कृत नाटककारों ने अपने नाटकों में इसका विधान किया । नाट्यवस्तु के पूर्व रंग के विघ्नों को दूर करने के लिए नर्तक लोग जो कुछ करते हैं उसे पूर्वरंग कहते हैं ।[१]

पूर्वरंग का पहला अंग नांदी है, प्ररोचना उसका दूसरा अंग । आचार्यों ने रंगस्थली के विघ्नों को दूर करने के लिए नांदी को आवश्यक बताया जो अष्ट-पदा तथा द्वादश पदा हो सकती है ।[२] प्ररोचना में रूपकादि की प्रशंसा के द्वारा सामाजिकों को अभिनय दर्शन के प्रति उन्मुख या आकृष्ट किया जाता है ।[३] कवि

---

१. (क) विश्वनाथ का `साहित्य दर्पण` — व्याख्याकार शालिग्राम शास्त्री, १९५६ ई० पृ० १७२

(ख) भरत : `नाट्यशास्त्र`, पंचमोऽध्याय : , श्लोक ७

` यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते`। तस्माद् अयं पूर्वरंगो विज्ञेयो द्विजसत्तमा

(ग) धनिक धनंजय :`दशरूपकम्`, तृतीय: प्रकाश:, श्लोक — २

२. विश्वनाथ: `साहित्यदर्पण`, व्याख्याकार, डा० सत्यव्रत सिंह, १९५७ ई० , चौखंभा विद्या भवन, वाराणसी, श्लोक २४-२५ षष्ठ परिच्छेद ।

३. विश्वनाथ ; `साहित्यदर्पण` षष्ठ परिच्छेद , श्लोक ३०

अथवा नाटककार अपनी प्रकृति उदात्त, उद्धत, प्रौढ़, विनीत जैसी होती है, उसके अनुसार प्ररोचना करता है। कालिदास जैसे, उदात्त कवि की प्ररोचना का हिन्दी अनुवाद पं० सीताराम चतुर्वेदी ने प्रस्तुत किया है।[१] आचार्य भरत ने अभिनेय वस्तु के उपस्थापन के साथ प्रयोजन तथा उद्देश्य से समाश्रित वचनोंके द्वारा प्रेक्षण के लिए सामाजिकों को आमंत्रित करना प्ररोचना कहा है।[२]

प्रस्तावना पूर्वरंग का तीसरा अंग है। विषय वस्तु पर विचित्र उक्तियों के द्वारा नटी मार्ष (पारिपार्श्वक) या विदूषक इनमें से किसी एक के साथ बातचीत करता हुआ सूत्रधार का पांडित्यपूर्ण ढंग से वस्तु का संकेत करना या रूपक का आरम्भ करा देना ही प्रस्तावना है।[३] भरत का मत है कि इसमें काव्य वस्तु की उद्घोषणा आधार रूप से निहित रहती है एवं इस बात की भी सूचना मिल जानी चाहिए कि नाटक दिव्य अर्थात् देवचरित्रों से संबंधित है या मानवी चरित्रों से संबंधित है अथवा दोनों के चरित्रों से संबंधित है तथा मुखसंधि और बीज अर्थ प्रकृति की स्थिति को स्वीकार किया गया है।[४] भरत के उपर्युक्त कथन से विश्वनाथ[५] रामचन्द्र गुणचन्द्र[६] सभी सहमत हैं। प्रस्तावना के प्रमुख पांच भेद हैं जिनका प्रयोग हिन्दी नाटकों में भी पाया जाता है — १. कथोद्घात , प्रयोगातिशय , ३. प्रवृत्तक, ४. उद्घात्यक, ५. अवलगित। अपनी कथा के ही सदृश सूत्रधार नटी से किसी प्रसंग की चर्चा करते हुए अभिनेय व्यक्ति का नाम लेकर

---

१. पं० सीताराम चतुर्वेदी :- 'अभिनवनाट्यशास्त्रम्', प्र०सं०, २००८सं०, पृ० ३८६

१. " प्राचीन जानि कदापि वस्तु न दोषहीन न मानिए" आदि

२. भरत : 'नाट्यशास्त्र', पंचम अध्याय, कारिका संख्या २६

३. धनिक धनंजय : 'दशरूपकम्', तृतीय: प्रकाश:, कारिका ७

४. भरत : 'नाट्यशास्त्र' वाल्यूम १, द्वि० सं०, १९५६ , ओरियन्टल इंस्टीट्यूट , बड़ौदा, श्लोक १६७ — १६८

५. विश्वनाथ : 'साहित्य दर्पण' षष्ठ: परिच्छेद :, श्लोक ३२

६. रामचन्द्र गुणचन्द्र : 'नाट्यदर्पणम्' तृतीयोविवेक :, सूत्र १५७

संकेत करे कि अरे ये तो वे ही हैं या उनके समान हैं, और उसके कथन के साथ ही उस व्यक्ति के अभिनय करने वाले पात्र का प्रवेश हो जाय, उसे प्रयोगातिशय कहते हैं।[१] सूत्रधार के द्वारा ऋतु-विशेष के वर्णन में समान गुणों के कारण जिसकी सूचना मिलती हो, उस पात्र के प्रवेश करने को प्रवृत्तक कहते हैं।[२] गूढ़ार्थ की पर्याय-माला (क्रम से एक के बाद दूसरे का आना) अथवा प्रश्नोत्तर श्रृंखला के द्वारा जो दो व्यक्तियों की बातचीत होती है, उसे उद्घात्यक कहते हैं।[३] एक ही क्रिया के द्वारा जहां दो कार्यों की सिद्धि होती है तथा अन्य वस्तु के प्रस्तुत रहते अन्य किया जाए उसे अवलगित कहते हैं।[४]

पाश्चात्य नाट्य शास्त्र में प्रोलोग—

जिसे भारतीय नाट्यशास्त्र ने 'प्रस्तावना' कहा है, उसे पाश्चात्य ने 'प्रोलोग' नाम दिया। इसकी स्थिति भी भरतादि के प्रस्तावना के समान मुख्य कथावस्तु के पूर्व रहती है। अरस्तु ने प्रस्तावना को ट्रेजेडी का वह सम्पूर्ण हिस्सा माना है जो सामूहिक गान का पूर्ववर्ती होता है।[४क] 'प्रस्तावना' या 'प्रोलोग' का नाटक के अन्य विभागों से कोई संबंध नहीं होता अतएव नाटककारों ने इस प्रारंभिक कार्यव्यापार को प्रथम अंक न कहकर 'प्रस्तावना' या 'प्रोलोग' कहा है। इससे नाटक के अभिनय में कोई अन्तर नहीं आता।[५] बेकर महोदय ने कहा है कि प्रोलोग छोटा होता है किन्तु अंक को छोटा कर देने से प्रोलोग नहीं हो जायेगा। यह छोटा

---

१. धनिक धनंजय : दशरूपकम्, तृतीय प्रकाश:, श्लोक ६,१०,११
२. वही श्लोक ११
३. वही श्लोक १२
४. वही श्लोक १३
४क. अरस्तु : 'पोएटिक्स', लास्ट रिप्रिंटेड, १९५३, पृ० २४
५. वही पृ. २४

या बड़ा हो सकता है। यदि छोटा है तो इसका तात्पर्य यह है कि नाटककार प्रोलोग समाप्त करके मुख्य कथावस्तु की ओर सत्वर गति से बढ़ना चाहता है।[१]

वृन्द गान अथवा कोरस—

हमारे यहाँ नांदी का प्रयोग नाटक के प्रारम्भ में किया गया है और पाश्चात्य नाटकों के आरम्भ में सामूहिक गान का विधान है। सामूहिक गान में भारतीय नांदी के समान गायक वृन्द का पहला समवेत उच्चारण करने की योजना दोनों की समानता की द्योतक है। नाटक की मूल कथा से इसका कोई संबंध नहीं होता है।

भरत वाक्य अथवा प्रशस्ति-श्लोक—

प्राचीन भारतीय टैकनीक के अन्तर्गत जिस प्रकार नाटक का आरम्भ नांदी या मंगलाचरण से होना चाहिए उसी प्रकार अन्त शान्ति तथा कल्याणमयी भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ होना चाहिए। प्राचीन नाट्यशास्त्र का विवेचन करते हुए आचार्य महावीरप्रसाद दिवेदी ने कहा है कि "किसी वस्तु का अन्त दुःख में न होना चाहिए। इसीलिए मंगलात्मक नांदी और मंगलात्मक भरतवाक्य नाटकों में रखे जाते हैं। रूपकर अथवा उप रूपक के अंत में जो प्रार्थना रहती है, उसे भरतवाक्य कहते हैं।"[३] "शुभ की आशंसा प्रशस्ति कहलाती है।"[४] इसी प्रशस्ति को भरतवाक्य कहते हैं। जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर इस उक्ति के द्वारा कल्याण कथन करता है —

---

१. जी०पी० बेकर : "ड्रैमेटिक टैकनीक," १९४७, पृ० १४४-४५

२. अरस्तू—"पोएटिक्स," १९५३, पृ० २४

३. आचार्य महावीरप्रसाद दिवेदी—'नाट्यशास्त्र,' चतुर्थ संस्करण, १९२९, पृ०४१

४. धनिक धनंजय —'दशरूपकम्', प्रथम प्रकाशः, श्लोक ५४

यदि आप ज्यादा खुश हैं, तो यह हो । मनुष्य विशाल बुद्धिवाला होकर सौ वर्ष तक जीवे । भगवान विष्णु में द्वैतरहित विमल भक्ति हो । समस्त राष्ट्र को प्रसन्न करने वाला, पुण्यशाली, गुणों में विशेष ज्ञाननिष्ठ, तथा विद्वानों में बान्धव एवं समस्त भुवन का पालन करने वाला राजा हो ।"[१]

पाश्चात्य नाटकों में उपसंहार अथवा एपिलोग—

जैसे हमारे यहां भरतवाक्य की व्यवस्था है, वैसे पाश्चात्य नाटकों में उपसंहार का विधान है । उपसंहार ट्रैजेडी का वह समग्र अंश है जिसके बाद कोई सङ्गान नहीं होता ।[२] 'एपिलोग' या 'उपसंहार' प्राय: छोटे होते हैं क्योंकि उपसंहार में कहानी का अंत हो जाने पर अधिक देर तक दर्शकों को उलझाना कठिन हो जाता है किन्तु यह छोटा या बड़ा हो सकता है । उपसंहार में नाटककार नाटक के सारांश की ओर संकेत करता है जिसे वह एक संयुक्त अंक नाम न देकर उपसंहार कहता है ।[३]

पूर्वरंग के अंगों पर ध्यान देने से यह स्पष्टत: दिखाई पड़ता है कि इसका प्रयोग देवताओं को अपनी वन्दना द्वारा प्रसन्न करके नाटक को कुशलतापूर्वक सम्पादित होने के लिए, नाटक तथा नाटककार की प्ररोचना द्वारा सामाजिकों को उसकी ओर उन्मुख करने के लिए किया जाता है तथा सूत्रधार नटी अथवा पारि-पार्श्विक या विदूषक के साथ विचित्र उक्तियों द्वारा पांडित्यपूर्ण ढंग से वस्तु की सूचना देता है । मुख्य कथा प्रारम्भ होने के पूर्व इनका विधान होने के कारण इन्हें पूर्वरंग कहा गया है । पाश्चात्य नाटकों में 'प्रौलोग' तथा 'कोरस' का विधान पूर्वरंग के समान ही पाया जाता है । दोनों की योजना मुख्य, कथाप्रारम्भ होने के पूर्व की गई है । भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक के अन्त में 'भरतवाक्य' तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में 'उपसंहार' की औपचारिकता का विधान है जिनका मुख्य कथा से विशेष सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् इनके रहने या न रहने से कोई अन्तर नहीं आता । इसी

---

१. धनिक धनंजय—'दशरूपकम्', प्रथम: प्रकाश:, ५४ वें श्लोक की धनिक द्वारा व्याख्या ।

२. अरस्तू—'पोएटिक्स', लास्ट रिप्रिंटेड, १९५१, पृ० २४

३. वी०पी० बेकर : 'ड्रैमेटिक टैक्नीक,' १९५७, सं० ७, पृ० १४५

से पूर्वरंग विधान के अन्तर्गत ही अन्तिम विधान का विवेचन भी कियागया है ।
पाश्चात्य प्रारम्भिक नाटकों में भी धार्मिक क्रियाओं के रूप में सम्पान होता था ।
नाटक के आरम्भ में मंगल पाठ रखना हमारी सुरुचि में बाधक नहीं है तथा प्रस्तावना
में अप्रचलित कथावस्तु की चर्चा मात्र कर देने से दर्शकों को कोई असुविधा नहीं हो
सकती ।

हिन्दी नाटकों में नाटकीय भूमिकाएं—

प्रमुख कथावस्तु से पूर्व संस्कृत नाट्य परम्परा की शिल्पविधि के समान
कुछ हिन्दी नाटककारों में भी नाटकों में नाटकीय भूमिकाएं रखने की प्रवृत्ति दृष्टि-
गोचर होती है । ये नाटकीय भूमिकाएं हैं —नांदी, प्ररोचना और प्रस्तावना ।
नांदी से कथावस्तु का कोई सम्बन्ध नहीं है । इसका योजना केवल रंगमंच के विघ्नों
को दूर करने के लिए ईश -विनती के रूप में की गई । कहीं कहीं वस्तु से सम्बन्धित
देवी देवताओं की स्तुति की गई ।[१] 'प्रयाग रामागमन' न अष्टपदा है और न
द्वादशपदा और नेपथ्य का प्रयोग भी नहीं हुआ है किन्तु नेपथ्य गान की रीति
नांदी के अनुकूल दिखाई पड़ती है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रहसन तथा नाटकों में
कथावस्तु के विषय के अनुसार ही नांदी का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है । वैदिकी
हिंसा हिंसा न भवति' में 'बहु बकरा बलि हित कटे ' आदि 'सत्य हरिश्चन्द्र' में
सत्यासक्त........ हरिश्चन्द्र' , 'प्रेमयोगिनी' में भरित नेह.... प्रेमयोगिनी,
पाल' , 'भारत दुर्दशा' में 'जय सतयुग.... कल्कि अवतार' , 'विषस्य विषमौ-
षधम्' में 'परतिय-प्रसंग के उपयुक्त दिखाई पड़ते हैं । इन्हें प्रसंगोपात्त नान्दी
माननी चाहिए ।

भरतमुनि के अनुसार नांदी आठ या बारह पदों की ही हो सकती है
किन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सभी नाट्य रूपों में दोहे की दो पंक्तियों में ही
मंगल पाठकराया है । इन्हें चतुष्पदा नांदी कहा जा सकता है । यह प्राचीन

---

१. बदरीनारायण चौधरी :'प्रयागरामागमन', १९४८, सं०,प्रका०सं० ?
२. ब्रजरत्नदास :' भारतेन्दु नाटकावली' (द्वि० भाग), द्वि०सं०,सं०२०१३, रामना-
 रायणलाल,इलाहाबाद, पृ० ३२६ (नाटक निबन्ध से)

नियम के प्रतिकूल है। भारतेन्दु जी ने नांदी रचना के नियम को हिंदी में प्रयोजनीय नहीं माना है[1] किन्तु उनकी सर्वत्र समन्वयात्मक रीति रही है। अपने प्रारम्भिक नाटकों में वह नांदी का मोह परित्याग नहीं कर सके किन्तु बाद के नाटकों — 'नीलदेवी', 'अंधेर नगरी', 'सती प्रताप', में पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप नांदी का बहिष्कार किया फिर भी उपर्युक्त तीनों नाट्य रूपों में क्रमश: प्रथम दृश्य में हिमगिरि के शिखर पर तीन अप्सराएं भारत की क्षत्राणियों की वीरता की प्रशंसा, महंत का दो चेलों के साथ राम भजो...... गाते हुए आना, हिमालय के अधो-भाग में तृण-लता-वेष्टित एक टीले पर बैठी हुई तीन अप्सराएं बारी बारी से राग झिंझोटी, पीलू और रागिनी बहार में रुक्मिणि अनुसूया, सीता, सावित्री के पतिव्रत का गुणगान करती हुई पाई जाती हैं। इनमें यूनानी कोरस का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु ने अन्य नाटकों से भिन्न और प्राचीन नाट्य नियम के अनुकूल अष्टपदा नांदी का विधान भी किया।[2]

अष्टपदा स्तुत्यात्मक नांदी का प्रयोग भी हिन्दी नाटक साहित्य में प्राप्त होता है।[3] नेपथ्य से मंगलगान की चर्चा ऊपर की जा चुकी है तथा इसका उदाहरण ध्रुपद चौताला, राग चांचरीक में उमाकान्त महोदय की स्तुति के रूप में पाया जाता है। यह न अष्ट पदा है न द्वादश पदा वरन् सोलह पदा है।[4] भारतेन्दु युग के प्राय: सभी नाटकों में नांदी की योजना दिखाई पड़ती है क्योंकि युगीन

---

१. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु नाटकावली' (द्वितीय भाग), द्वि०सं०, सं० २०१३, राम-नारायण लाल, इलाहाबाद, पृ० ३६६ (नाटक निबन्ध से)

२. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'प्रेमयोगिनी' (१८७५)

३. लाला श्रीनिवासदास : संयोगिता स्वयंवर, प्र०सं०, सं० १६४२, सदानन्द मिश्र द्वारा प्रकाशित।

४. लाल खड्गबहादुर मल्ल : 'हरितालिका नाटिका', पहली बार, १८८७, खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर।

नाटककारों ने उनका अन्धानुकरण ही किया । गोपालकृष्ण की स्तुति सबसे अधिक इन मंगलाचरणों में पाई जाती है । `माधव, राधिका, व्रजबाला, वृन्दा-विपिन, गोकुल सबके लिए `धन्य` का प्रयोग करते हुए भी नांदी कही गई ।[१] द्वादशपदों में सोरठा में नागर नटवर नंदसुत रसिकेश गोपाल की वंदना हुई । छन्द घनाक्षरी में आठ पद और छन्द हरिगीति में कहकर चार पद हैं दोनों को मिलाकर द्वादशपद होते हैं । आठ पदों में परमेश्वर की वंदना और गंगा, कालिंदी, सरस्वती अर्थात् संगम की अनुपमेय प्रशंसात्मक कार्यों की सूची देते हुए अन्त में आर्य , यवन , अंग्रेज का संगम नवल मंगल करे , ऐसी आकांक्षा व्यक्त की गई है ।[२] ऐसा भी देखा गया है कि प्रथम दृश्य में राग भैरव और खम्माच में एक के बाद दूसरा गान दो वैतालियों द्वारा रखा गया है तथा ध्वनि संकेत तक इसमें दे दिया गया है ।[३]

कहीं कहीं दस पदों की ठुमरी समाप्त करके बारह पदों की एमन ठुमरी का संकेत भी नांदी में पाया जाता है ।[३] द्वादश पदों में शिव की स्तुत्यात्मक नांदी वामनाचार्य गिरि के `वारिदनाद वध` व्यायोग तथा गोपाल राम गहमरी के `बनवीर` नाटक में प्राप्त होती हैं । नांदी का विवेचन कथावस्तु के अन्तर्गत करने का कारण यही है कि हिन्दी नाटकों में प्राय: नांदी को पढ़कर या सुनकर कथावस्तु का अनुमान लगाना हमारे लिए सरल हो जाता है । `कौंसिल की मेंबरी` में कहीं कहीं अष्टपदा नांदी में एक प्रकार से कथा का सार निहित है[४]—

" रैन दिना अब चैन परै है न,
सुलहु हौत हिये मंह भारी ।
सम्पतहु सगरी बिगरी हा ।
तहुं नहि पाई मियम्बरि प्यारी ।

---

१. विद्याधर त्रिपाठी : `उवबसीठि नाटिका ` प्रथमावृत्ति, सन् १८८७ ई०,
२. बदरीनारायण `प्रेमघन` भारत सौभाग्य ` (१८८६)
३. राधाचरण गोस्वामी : `अमरसिंह राठौर` (१८९५)
४. श्रीकृष्णचन्द्र द्विवेदी : `विद्याविनोद नाटक` `संकलित, १८९४ ई०, भारतमित्र, यंत्रालय ।

लाट के पाद सरोज के चुम्बन,
की मिली धूर में सारी त्यारी ।
लोगहुन में अकीरत हू भयी-
ईश हरौ यह बाध हमारी ।[1]

स्वामी कार्तिकेय[2] तथा गणेश[3] की वन्दना नांदी में यत्रतत्र पाई जाती है । नांदी के पदों के संबंध में हिन्दी नाटककार बिल्कुल स्वतंत्र दिखाई पड़ते हैं क्योंकि `राग ऐमन ताल ठेका` लिखकर इकतालीस पदों तक की लम्बी चौड़ी जगदीश्वर की वन्दना भी की गई है ।[4] ईश्वर के अनादि, अनन्त, अपार होने, असंख्य जीवों की उत्पत्ति वृद्धि, मृत्यु पर ध्यान करने से ईश्वर की अपार शक्ति सिद्ध होती है आदि बातें कही गई हैं । द्वादशपदा नांदी में कृष्ण की स्तुति के माध्यम से नाटक का विषय तथा प्रयोजन भी अभिव्यक्त किया गया है ।[5] कृष्ण के गुणों की प्रशंसा करते हुए उनकी जय जयकार में नांदी शब्द का प्रयोग न होकर प्रार्थना शब्द का प्रयोग हुआ है ।[6] न यह अष्टपदा है, न द्वादश पदा । यह अष्टादश पदा है जिसे नांदी न कहकर रंगद्वार कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इसमें सर्वप्रथम अभिनय अवतरित हुआ है । अतः वाचिक और आंगिक अभिनय से युक्त यह रंगद्वार कहलायेगा ।

प्रसाद के `राज्यश्री` का प्रथम संस्करण नांदी पाठ से प्रारम्भ हुआ परन्तु नवीन संस्करण में नांदीपाठ निकाल दिया गया है । शास्त्रीय पद्धति की ओर

---

१. पं० राधेश्याम मिश्र : `कौंसिल की मेंबरी`, प्र०बार, १९२०, रामप्रसाद एण्ड ब्रदर्स, इटावा ।
२. बचनेश मिश्र : `खून की होली`, द्वि०बार, सन् १९२५,कु० का०का०रा०
३. द्वारिकाप्रसाद मौर्य : `हैदरअली`, प्र०सं०,१९३४ ई०, चौ०ए०सं०,व०सी०
४. रायदेवीप्रसाद पूर्ण : `चन्द्रकलाभानुकुमार`, प्रथमबार, १९०४ ई०, रसिक समाज, कानपुर ।
५. राधाकृष्णदास : `महाराणाप्रताप` आठवां संस्करण, १९३५, इंडियन प्रेस, प्रयाग ।
६. ललिता चरण गोस्वामी : `यवनोद्धार नाटिका` , प्र० सं०, सन् १९२५, श्रीहित-नाट्य समिति, वृन्दावन ।

उत्तरोत्तर नाटककार की अरुचि होती गई है। बद्रीनाथ भट्ट के 'वेन चरित्र' में प्रथम अंक के प्रारम्भ में मंगलाचरण न कह कर गाना कहा गया। सूत्रधार, नटी आदि प्रार्थना करते हुए दिखलाई पड़े जिसमें नाटक के अन्तर्गत कथा के विषय तथा प्रयोजन का पूर्णतया आभास मिल जाता है। यह अनेक पदों है।

> 'परिवर्तन -रूप तुम्हीं हो,
> सदा भूप से रंक, रंक से बनते भूप तुम्हीं हो।
> ब्रह्मा के साथ तुम्हीं
> लक्ष्मी के साथ तुम्हीं
> शंकर के साथ तुम्हीं
> धन्य धन्य धन्य । आदि

मैथिलीशरण गुप्त ने अपने पौराणिक नाटकों में अष्टपदा नान्दी की योजना की 'चन्द्रहास' में गणेश, कमला को भी राम के साथ रख लिया। राम तो गुप्त जी के उपास्यदेव ही हैं। इस नाटक में नायक को दो राजाओं से धन तथा राज्य प्राप्तिकी भी चर्चा है जिसके लिए कमला को स्मरण करना आवश्यक हुआ तथा बहु विघ्न भी इसमें उपस्थित हुए। जिनका शमन करने के लिए गणेश की सहायता अपेक्षित है। अत: इन तीनों देव देवियों का गुण गान इस नांदी में करके, रूपक की मंगल कामना की गई है। गुप्त जी ने मैथिली से भी नाटक के मंगल के लिए प्रार्थना की जिसे उन्होंने मंगल-श्लोक कहा। इस मंगलश्लोक में वस्तु के विषय तथा उद्देश्य का रूप स्पष्ट भलकता है। बालकृष्ण भट्ट के 'शिक्षादान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम' में द्वादशपदा नांदी का स्वरूप दिखाई पड़ता है तथा इसमें वस्तु के विषय से संबंधित बातों की चर्चा पाई जाती है। दशरथ ओझा ने द्वादश पदों में देवी की वन्दना की है।[1] मुक्तियज्ञ में विन्ध्यवासिनी देवी की स्तुति बारह पदों में बाल नर्तकों के एक दल[2] द्वारा कराई गई है। कुछ नाटकों में अंक आरम्भ होने के पूर्व सोलह च चरणों की एक प्रार्थना है, पुन: दूसरी प्रार्थना नन्द सुत कृष्ण की इक्कीस चरणों

---

१. दशरथ ओझा :' चित्तौड़ की देवी', द्वि०सं०, १९३४ ई०, साहित्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली।

२. प्रो० सत्येन्द्र :' मुक्तियज्ञ', प्र०सं०, १९३७ ई०, साहित्यरत्न भंडार, आगरा

की है ।[1] चन्द्रमा की स्तुति भी द्वादश पदों में प्राप्त होती है ।[2] नांदी का प्रयोग भारतेन्दु युग में सर्वाधिक हुआ है किन्तु प्रसादयुग में भी अनेक नाटकों में दिखाई पड़ जाता है । उसके बाद प्राय: इसका लोप दिखाई पड़ता है फिर भी एक दो नाटककार इसका मोह सर्वथा परित्याग नहीं कर पाये हैं । 'अन्त:पुर का छिद्र'[3] में नाटक के सब पात्र मिलकर ईशवन्दना करते हैं । इस गीत में कथा की सूचना भी मिल जाती है —

> विजय में छिपी पराजय हो,
> दु:ख छाया हो, सुखमय हो । आदि

इसमें अठारह पद हैं अत: प्राचीन नियम का उल्लंघन हुआ है किन्तु अन्य बातों में नांदी का प्रच्छन्नस्वरूप अवश्य दिखाई पड़ता है । इसमें राग कल्याण, विलम्बित तीन ताल का संकेत भी किया गया है । 'द्वापर की राज्य क्रांति'[4] नवीन उद्देश्य, नवीन रीति से लिखा गया है किन्तु गोपालकृष्ण की वन्दना के द्वारा अष्टपदा नान्दी की योजना उसमें भी प्राप्त होती है ।

हिन्दी के कुछ नाटकों में नाटक, नाटककार तथा सामाजिकों की प्रशंसा का विधान भी पाया जाता है । जिसे संस्कृत नाट्यशास्त्र में प्ररोचना कहा गया है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक तथा करुणापूर्ण राजा हरिश्चन्द्र के आख्यान की प्रशंसा के साथ सूत्रधार और नटी के मुख से अपनी प्ररोचना भी कराई है ।[5] 'चन्द्रावली' में नाटक की प्रशंसा ही अधिक दिखाई पड़ी ।[6] इन्हीं दोनों

---

१. आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव : 'अछूत', प्र०सं०, सन् १६३८, मैनेजर विश्वग्रन्थावली, ५०६ दारागंज, इलाहाबाद

२. दे० वियोगी हरि : 'प्रबुद्ध यामुन', प्रथमावृत्ति, सन् १६२६, गं०पु०मा०का०, लखनऊ

३. गोविन्दवल्लभ पन्त : 'अन्त:पुर का छिद्र', प्रथमावृत्ति, सन् १६४०, गं०पु०मा० ,,

४. किशोरीदास वाजपेयी : 'द्वापर की राज्यक्रांति', दूसरा संस्करण, १६४०ई०, हिमालय एजेन्सी, कनखल, यू०पी०

५. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु नाटकावली' (सत्यहरिश्चन्द्र से) प्रथम भाग, द्वि०सं०, सन् १६५१ रामनारायण लाल, इलाहाबाद, पृ० ३७

६. वही (चन्द्रावली नाटिका से), पृ० १५६-५७

नाट्य रूपों में भारतेन्दु ने प्ररोचना की योजना की । बाल्य विवाह नाटक[१] में नाटक तथा नाटककार की प्रशंसा पाई जाती है । लाला श्रीनिवास दास के संयोगिता स्वयंवर में नाटक के साथ सामाजिकों की प्रशंसा भी की गई है । `चन्द्रकला भानुकुमार`[२] में नाटक के नवीन, उत्तम, मनोहर आख्यायिका के द्वारा सत्प्रेम, वीरता, धर्मनिष्ठा आदि सद्गुणों की प्रशंसा और व्यभिचार, पिशुनता इत्यादि दूषित कर्मों की निंद्यता दिखाई है जिसकी भाषा निर्मल सुन्दर कविता से अलंकृत और शृंगारादि नवरस से संपन्न है । नाट्य-संभव` में नाटक की प्रशंसा तथा परम माननीय संगीत और साहित्य विशारद सूर्यपुराधिपति शील श्रीयुक्त श्री राजा राजराजेश्वरी प्रसाद सिंह साहब बहादुर जिन्होंने `नाट्य संभव` रूपक खेलने की अनुमति दी है उनकी प्रशंसा, प्रशंसनीय और उदार विचारों की प्रशंसा तथा नाटककार की प्रशंसा की गई है ।[३] राजा साहब को सुयोग्य और गुणग्राही तथा गोस्वामी जी को रसिक और सुलेखक कहा गया है । प्ररोचना की प्रथा भी उत्तरोत्तर कम होकर भारतेन्दु-युग के पश्चात् समाप्त ही हो गई क्योंकि यह लोगों को बुद्धि के विकास के साथ अस्वाभाविक प्रतीत होने लगा । प्रशंसा सामाजिकों के मुख से शोभनीय होती है । नाटककार की अपनी तथा अपनी कृति की प्रशंसा हास्यास्पद प्रतीत होने लगी ।

हिन्दी नाटकों में प्रस्तावना—

संस्कृत नाट्य विधान के प्रभाव स्वरूप भारतेन्दु के नाटकों में प्रस्तावना रखने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । उन्होंने भी अपने बाद के नाटकों में नान्दी, प्ररोचना तथा प्रस्तावना की रूढ़ियों का पालन नहीं किया किन्तु प्रारम्भिक नाटकों में संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव इस रूप में दिखाई पड़ता है । `सत्यहरिश्चन्द्र` में सूत्र-

---

१. पण्डित देवदत्त शर्मा : `बाल्य विवाह नाटक` , चौथी बार , १८९७ ई०

२. राय देवीप्रसाद`पूर्ण`, : `चन्द्रकलाभानुकुमार` , प्रथम बार , १९०४ ई० , रसिक समाज, कानपुर ।

३. किशोरीलाल गोस्वामी :`नाट्यसंभव` , संस्करण,? , १९०४ई०, देवकीनन्दन खत्री द्वारा प्रकाशित

धार के वाक्यार्थ को लेकर मोहना नामक अभिनेता इन्द्र का रूप धारण कर रंगमंच पर प्रवेश करता है अत: यहां कथोद्घात नाम्नी प्रस्तावना है। सूत्रधार, नटी अब चले जाते हैं।[१] इसमें सूत्रधार अपने समय के हरिश्चन्द्र की राजा हरिश्चन्द्र से तुलना करता है पर उसी वाक्यार्थ को लेकर इन्द्र - पात्र प्रवेश करता है जिससे हरिश्चन्द्र के प्रति इन्द्र के ईर्ष्या भाव का संकेत मिलता है। 'प्रेम योगिनी' नामक अधूरी नाटिका की प्रस्तावना में नाटककार की अंतर्वेदना ही अधिक अंश में वर्णित है । अन्त में 'प्रेमयोगिनी' खेलने की बात कहकर प्रस्तावना समाप्त हो जाती है। सूत्रधार तथा पारिपार्श्विक चले जाते हैं। 'चन्द्रावली' में भी कथोद्घात नामक प्रस्तावना पाई जाती है क्योंकि सूत्रधार और पारिपार्श्विक के भावार्थ को लेकर नेपथ्य से गाता हुआ सूत्रधार का छोटा भाई शुकदेव बनकर रंगशाला में प्रवेश करता है।[२] 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में बहुत छोटी-सी प्रस्तावना है। सूत्रधार नटी से मांसलीला दिखलाने का प्रस्ताव करता है और इसी बात को लेकर नाटक का नायक गृधराज सपरिकर रंगमंच पर प्रवेश करता है तथा सूत्रधार और नटी भयभीत होकर प्रस्थान करते हैं। अत: यहां कथोद्घात नामक प्रस्तावना हुई।

भारतेन्दु-युग के अन्य नाटककारों ने भी प्रस्तावना का विधान किया है। 'हरितालिका नाटिका'[३] में नटी तथा अन्य स्त्रियों का नेपथ्य से हरितालिका व्रत का शिव-पार्वती की पूजा का गीत सुनाया गया है। सूत्रधार नटी के आने पर तत्सम्बन्धी बातें पूछता है। नटी प्रत्युत्तर में कहती है कि 'आज हरितालिका व्रत का दिन है।'[४] सूत्रधार 'अच्छी सुधि दिलाई'[५] कहता हुआ इसी नाटक की तैयारी

---

१. व्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु नाटकावली' प्रथम भाग, द्वि०सं०, सं० १९९१, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, पृ० २७

२. वही, पृ० १५७

३. लाल खड्गबहादुर मल्ल : 'हरितालिका नाटिका', पहली बार, १८८७, खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर

४. लाल खड्गबहादुर मल्ल : 'हरितालिका नाटिका', पहली बार, १८८७, खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पृ० ५

५ वही पृ ५

के लिए रंगमंच से प्रस्थान करते हैं। यही इस नाटक की प्रस्तावना है। नाटक प्रस्तावित किया गया है किन्तु प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार पात्र प्रवेश नहीं हुआ है। उक्त नाटककार के 'महारास' नाटक में सूत्रधार तत्कालीन ऋतु का वर्णन प्रथम से तृतीय पृष्ठ तक करता जाता है किन्तु उसी वर्णन के आश्रय से पात्र प्रवेश नहीं होता है। अत: प्रवृत्तक नामक प्रस्तावना के गुणों से पूर्णत: युक्त नहीं हो पाया है। शरद की पूर्णिमा की रात के सुहावने दृश्य का वर्णन करते हुए सूत्रधार नटी से प्रश्न करता है कि कौन सा नाटक ऐसे समय में खेला जाय। नटी उत्तरस्वरूप बोलती है कि इस समय के लिए श्रीकृष्णचन्द्र के महारास से बढ़कर दूसरा कोई नाटक न होगा। सूत्रधार स्वीकार करता है " क्योंकि श्री रसिकशिरोमणि वृन्दावन बिहारी ने द्वापर युग के अंत में इसी पूर्णिमा की रात को सोलह सहस्त्र गोपियों के साथ वृन्दावन को पवित्र किया था। बस उसी रात की लीलाएं आज होनी चाहिए।"[1]

'संयोगिता स्वयंवर'[2] में नाटक का नाम प्रस्तावित किया गया है। नेपथ्य में कंकण किंकिणी के शब्द सुनकर नटी सखियों के संग संयोगिता के रंगमंच की ओर आने की सूचना देती है। 'भारत सौभाग्य' में सूत्रधार के अर्थ को लेकर पात्र बदमक बालेकिन्द क्रोधावेशित होकर प्रवेश करता है अत: कथोद्घात नामक प्रतावना है।[3] 'उद्धव वशीठि नाटिका' में भी प्रस्तावना पाई जाती है किन्तु यह प्रस्तावना के पांचों प्रकारों में एक भी नहीं है। वर्षा ऋतु में कोकिल के शब्दों, श्यामघटा का नभ मण्डल में आच्छादित होने, चपला की चमक आदि के वर्णन के बाद चन्द्रावली 'ललिता' नाटिका की बात को काटकर सूत्रधार 'उद्धववशीठि' का प्रस्ताव करता है। 'पुलिस

---

१. लाल खड्गबहादुर मल्ल : ~~'हरितालिका'~~ 'महारास नाटक', पहली बार, १८८५, ~~खड्ग विलास प्रेस बांकीपुर~~ सा० प्र० सि० रवा बानिकपुर, पृ० ३

२. लाला श्रीनिवासदास : 'संयोगिता स्वयंवर', प्र०सं०, १८८५ ई०, सदानन्द मिश्र द्वारा प्रकाशित

३. बदरीनारायण चौधर : 'भारत सौभाग्य,' १८८६ ई०, सं० ?

४. विद्याधर त्रिपाठी 'रसिकेश' : 'उद्धववशीठि नाटिका', प्रथम बार, १८८७ ई० प्रकाशन स्थान ?

नाटक`[1] में भी इसी प्रकार की प्रस्तावना का स्वरूप दिखाई पड़ता है। शास्त्रीय पद्धति से इसका संबंध नहीं है। `नाट्य संभव`[2] में पारिपार्श्वक से सूत्रधार (सामने देखकर) कहता है कि "देखो श्रीमान् राजा साहब महोदय अपने दल बल सहित रंग-भूमि में पधारे, तो चलो हम लोग भी अपना अपना काम देखें। पारिपार्श्वक कहता है `हां ! चलो ! अब विलम्ब केहि काज ।` इसको कौन सी प्रस्तावना कहें। उप-र्युक्त नाटकों की प्रस्तावना भी इसी प्रकार की है जिनका रूप पांचों प्रकारों में से कोई नहीं है।

प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना के उदाहरण भी हिन्दी नाट्य साहित्य में पाये गए। गोपाल राम गहमरी के `देशदशा` नामक नाटक में सूत्रधार नेपथ्य की ओर देखकर कहता है कि हरे शंकर यह क्या हमारी प्यारी भी आज विखिन्न मुख क्यों सिसकती आती है मानों देशदशा ने भी हम लोगों की दुर्दशा कर दी है और नटी प्रवेश करती है। यहां प्रयोगातिशय प्रस्तावना का संकेत मिलता है। इसी प्रकार`विद्याविनोद नाटक` में नेपथ्य की ओर देखकर नटी कहती है -- `हरे ! यह क्या ! ! देखिए ! ! ! गोकुला और जिवना मंत्री और मुसाहिब बनकर आना चाहते हैं।`[4] `बाल्यविवाह` नाटक में भी प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है क्योंकि नटी नेपथ्य की ओर देखकर कहती है कि ` ऐं यह कौन करता है बाल्य विवाह में दोष क्या -- नट ( नेपथ्य की ओर देखकर ) लो प्यारी चचा साहब तो अज्ञान सेन बनकर आ गये।`[5] प्रकार पात्र रंगमंच पर प्रवेश करता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रयोगा-तिशय का लक्षण है। `किरणमयी` नाटक में सूत्रधार नेपथ्य की ओर देखकर कहता--

---

१. मूलचन्द पण्डित :`पुलिस नाटक`, संस्करण ?

२. किशोरीलाल गोस्वामी :`नाट्य संभव`, १९०४ ई०, देवकी नन्दन खत्री द्वारा प्रकाशित।

३. गोपाल राम गहमरी : `देशदशा नाटक`, प्रथम बार, १८९२ ईसवी बि०बं०का०वा०

४. श्री कृष्णानन्द द्विवेदी :`विद्याविनोद नाटक`, संकलित ई० १८९४, भा०मि० य०, पृ० ४

५. देवकीनंदन त्रिपाठी : `बाल विवाह नाटक`, प्र. सं., १८८२ ई०

'वह देखो तुम्हारी छोटी बहिन यमुना का वेश धारण करके आ रही है।'[1]
'प्रबुद्ध यामुन' में सूत्रधार नेपथ्य की ओर देखकर कह उठता है — 'हैं। देखो, यह कैसा सुन्दर तेजस्वी बालक यज्ञ की समिधा लिए चला आ रहा है। अहा।'[2] यहां भी प्रयोगातिशय प्रस्तावना दिखाई पड़ती है। 'द्वापर की राज्यक्रान्ति'[3] तथा 'खून की होली'[4] में भी उपर्युक्त प्रस्तावना का रूप संकेतित है।

हिन्दी नाटक साहित्य में उद्घात्यक तथा प्रवृत्तक नामक प्रस्तावना के रूपभी दिखाई पड़ते हैं। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' में प्रश्नोत्तर शैली के प्रयोग द्वारा उद्घात्यक नामक प्रस्तावना की योजना निहित है।[5] 'अभिमन्यु नाटक'[6] में साढ़े छः पृष्ठों की प्रस्तावना है। नट ऋतुवर्णन की समानता के आधार पर श्लेष से नटी के उत्तरा रूप में प्रवेश करने की सूचना देता है। जो प्रवृत्तक का लक्षण है। 'चित्तौड़ की देवी' में बसंत ऋतु के वर्णन की समानता के आधार पर श्लेष से नाटक की प्रस्तावना दी गई है।

> 'नटी — इस नाशवान बसंत का संतों की इच्छा लता पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। × × × × × ×
>
> यह वह तरुवर है, जिसे समय अपने नियंत्रित चक्र पर उक्त सुरम्य वन से खींचकर अपने उपवन की शोभा बढ़ाना चाहता है। एक का नाम है ज्ञानदा और दूसरे का राज्य रहित महाराना प्रताप।

---

१. तुलसीदास : 'किरणमयी', प्रथम बार, सन् १९१४, प्र०स्थान ?
२. वियोगीहरि : 'प्रबुद्ध यामुन', प्रथमावृत्ति, सं० १९२९, गंगा पु०मा० का०, लखनऊ, पृ० ६
३. किशोरीदास बाजपेयी : 'द्वापर की राज्यक्रान्ति', दूसरा सं०, १९४० ई०, हि०ए० का०, यू०पी०
४. बचनेश मिश्र : 'खून की होली', द्वि० बार, १९२५ ई०, कृ०ब्रा०भा०र०ग०
५. माखनलाल चतुर्वेदी : 'कृष्णार्जुन युद्ध', द्वि०सं०,१९२० ई०
६. शालिग्राम वैश्य : 'अभिमन्यु नाटक' १९८६ वि०सं०, लं०वे० प्रे०, बम्बई

सूत्रधार—इस मुरझाई लता की गोदी में क्या पुष्प नहीं थे ? यदि थे तो क्या हुए ?
नटी — सुमन तो कई थे, किन्तु अब दो ही अवशिष्ट हैं।'[१]

< < < < < <

सुन्दर की बहिन चम्पा, एक फूलों का हार बना रही है। इसे वह अपने भाई को पहनावेगी जो अभी लड़ाई से लौटेगा।'[१] इस प्रकार ऋतु की समानता के आधार पर प्रताप के मृत तथा जीवित बच्चों के विषय में बताकर नाटक की वस्तु पर प्रकाश डाला गया है। अत: यह प्रवृत्तक नामक प्रस्तावना का रूप ही है।

'वारिदनादवध व्यायोग' में सूत्रधार लक्ष्मण की वीरता का वर्णन कर ही रहा है कि 'हा अनर्थ!' की ध्वनि नेपथ्य से होती है और नट कहता है कि हमारे बड़े भाई आ पहुंचे। पहला पर्दा उठता है तो नेपथ्य की वाणी 'कराल काल कोप सो कठोर सिंहनाद के' इत्यादि को दोहराते हुए विभीषण का रंगमंच पर प्रवेश होता है।[२] अत: यहां कथोपद्घात नामक प्रस्तावना का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'तिलोत्तमा'[३] नाटक में कुशीलव सूत्रधार के वाक्य को दोहराते हुए रंगमंच पर आते हैं। ज्योंही कुशीलव सूत्रधार की बातों 'फूले नहीं समाते' को दोहराते हुए आते हैं, सूत्रधार ~~की बातके~~ और परिपार्श्वक प्रस्थान करते हैं। 'यवनोद्धार नाटिका' में सूत्रधार नटी को आवाज देता है। वह नेपथ्य से अभी आती हूं कहती हुई प्रवेश करती है और नाटक को प्रस्तावित करके गंगा बाई और यमुनाबाई नामक पात्रों का परिचय सामाजिकों को देती है। इसमें शास्त्रीय रीतिवाली प्रस्तावना के लक्षण स्पष्ट नहीं है। बद्रीनाथ भट्ट के 'बेन चरित्र' में भी प्रस्तावना का विधान है किन्तु शास्त्रीय पद्धति को स्वीकार नहीं किया है। सूत्रधार और नटी का राजनीतिक सुधार सम्बन्धी

---

१. दशरथ ओझा : 'चित्तौड़ की देवी', द्वि० सं०, १९३४, साहित्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली।
२. वामनाचार्य गिरि : 'वारिदनाद वध व्यायोग', सं० ?। १९०४ ई०
३. मैथिलीशरण गुप्त : 'तिलोत्तमा', तृतीय संस्करण, सन् १९२४
४. ललित आचरण गोस्वामी : 'यवनोद्धार नाटिका, प्र० सं०, सं० १९२५, श्रीललित नाट्य समिति, वृन्दावन।

लंबा चौड़ा वार्तालाप गुलामी की बेड़ी काटकर स्वतंत्र होने पर हुआ है। अन्यायी राजा और कमजोर निकम्मी दब्बू प्रजा को लेकर बातचीत होती है। अन्त में निर्णय करते हैं कि आज श्रीमद्भागवत में वर्णित वेन राजा की कथा का अभिनय मानसिक गुलामी दूर करने के लिए हो। राजा के प्रजा के प्रति कर्तव्य तथा प्रजा के अधिकार आदि की चर्चा एवं दोनों को सजग होने की बात लम्बे गीत में करके रंगमंच से प्रस्थान करते हैं[१]। `शिक्षादान अथवा जैसा काम वैसा परिणाम` में प्रस्तावना दी गई है किन्तु उसका स्वरूप शास्त्रीय नहीं है। उपर्युक्त अशास्त्रीय पद्धतिको इसमें भी पालन हुआ है।[२]

`वफाती चाचा`[३] में प्रस्तावना का त्रिपाठी जी का ढंग अपना नवीन है। एक हिन्दू और एक मुसलमान खद्दर की पोशाक में है। मुसलमान पायजामा और हिन्दू धोती पहने हैं। दोनों एक स्वर से गाते हुए एक दूसरे के गले मिलते हैं —

हम हिन्दू मुसलमान मिलके चले।
सदियों से बिछड़े हुए भाई-भाई
मलि आज बाहु्य गले से गले
हम हिन्दू मुसलमान मिलके चले। आदि ।

मुसलमान— भाइयों! आज हम एक सच्ची कहानी को नाटक के रूप में खेलकर दिखलायेंगे।
हिन्दू — और हम आपको बतलायेंगे कि स्वराज्य की पहली सीढ़ी कौन-सी है, जिसकी खोज में आप हैं। (दोनों गाते हुए जाते हैं।)

अब सूत्रधार और नटी तथा पारिपार्श्वक के द्वारा ही प्रस्तावना का कार्य सम्पन्न हुआ था किन्तु त्रिपाठी जी ने नाटक के पात्रों द्वारा प्रस्तावना का कराकर प्रस्तावना को नई दिशा दी है। प्रस्तावना के लिए सूचना शब्द का प्रयोग

---

१. बद्रीनाथ भट्ट : `वेनचरित्र`, प्र०सं०, सन् १९२२, रा०प्र०ब्र०आ०
२. पं० बालकृष्ण भट्ट : `शिक्षा दान अर्थात् जैसा काम वैसा परिणाम`, द्वि०सं०, सन् १९२८ ई०
३. रामनरेश त्रिपाठी : `वफाती चाचा`, प्रथम संस्करण, १९३९ ई०, हिन्दी मंदिर, प्रयाग।

भी हिन्दी नाटक साहित्य में यत्र तत्र पाया जाता है। [1] `न्यायसभा नाटक` में सूत्रधार रंगमंच पर आता है और किस प्रकार का खेल दिखाने जा रहा है, इसकी सूचना उनको देता है। अन्त में वह कहता है - `खेल बड़ा, रात्रि छोटी होने के कारण मैं अपना कार्य समाप्त करता हूं, ऐसी जल्दी विदा होने के कारण आप मुझे दोष न दीजिए। क्योंकि अब खेल तैय्यार हो चुका है आपका अमूल्य समय वृथा खोना भूल है। इस समय हम इस आर्य्य मण्डली को यह खेल दिखाना चाहते हैं जिससे बहुत सुन्दर शिक्षा प्रजागणों और राज्याधिकारियों के हाथ आवेगी।` अब खेल तैय्यार हो चुका है` में स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि सूत्रधार जनता का मनोरंजन उस समय तक करता रहता था जब तक अभिनेताओं को नाटक के प्रयोग से पूर्व तैयार होने में समय लगता है। ऊपर नटी का प्रस्तावना में ऋतु सम्बन्धी आदि गीत गाकर या नाचकर जनता को प्रसन्न करने की बात भी पाई गई है जिसका आशय अभिनेताओं को तैयार होने का अवसर देना है।

प्रस्तावना का सर्वथा नवीन प्रयोग हिन्दी नाटक में सेठ गोविन्ददास ने `उपक्रम` नाम से सफलतापूर्वक किया है। `उपक्रम` में पात्रों तथा नाटकीय स्थिति की सूचना सामाजिकों को दिया गया है। पूर्वकथा का निर्देश तथा प्रस्तुत कथा का प्रच्छन्न चित्रण प्राय: इसमें निहित रहता है। पाश्चात्य `प्रोलोग` से अवश्य इसका स्वरूप कुछ समानता रखता है। `प्रकाश` [2] में प्रथम अंक प्रारम्भ होने के पूर्व उपक्रम में एक छोटी-सी चीनी मिट्टी के बर्तनों की दूकान की व्यवस्था है। दूकान के बीच में एक छोटी-सी स्टूल पर एक वृद्ध मनुष्य बैठा है। इसका `उपक्रम` परोक्ष रूप से वर्णित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका कथा से कोई संबंध नहीं है किन्तु संकेत कथा की ओर ही है। एक सांड़ दूकान की ओर आता है। वृद्ध चिल्लाता है ` अरे दौड़ो दौड़ो खरीदार की जगह दूकान में सांड़ आ गया, सांड़ आ गया।` तभी यवनिका-पतन होता है। इसका तात्पर्य है कि सिद्धान्तों, आदर्शों का पालिश समाज में चढ़ा है। परिवर्तन रूपी सांड़ तभी आता है। उस

---

१. बाबू रत्नचन्द : `न्याय सभा नाटक`, प्रथम भाग, प्रथम बार, १८८० ई० प्र०स्थान ?

२. सेठ गोविन्ददास : `प्रकाश`, दूसरा संस्करण, सन् १९३५, म०सा०मं०, गो०, जबलपुर।

परिवर्तन का श्रेय प्रकाश को है।

'गरीबी या अमीरी'[१] में प्रस्तुत नाटक की घटना उपक्रम की घटना से बारह वर्ष बाद की है, इसकी सूचना मिलती है। उपक्रम में अचला छ: वर्ष की है और कथा में में अठारह वर्ष की। उपक्रम की घटना को बारह वर्षों का एक युग बीत चुका है। कथा की घटनाओं को जोड़ने का उपक्रम की रीति सफल है। सेठ जी ने सुझाव दिया है कि खेलते समय इनका उपयोग विवादग्रस्त हो सकता है। यह सही है किन्तु फिल्मों की तरह नाटकों में भी यह पर्दे पर लिखकर हो सकता है या इसकी सूचना शब्दों द्वारा दी जाती है। इसी प्रकार 'कर्ण'[२] के उपक्रम में पीछे की कथा दे दी गई है।

हिन्दी नाटकों में भरत-वाक्य-

जिस प्रकार हिन्दी नाटकों में नाटकीय भूमिकाएं संस्कृत में अनुकरण पर पाई जाती हैं उसी प्रकार नाटकों के अंत में मंगलवाक्यों की योजना भी दिखाई पड़ती है जिन्हें भरतवाक्य शास्त्रीय रीति के अनुसार कहा जाता है। हिन्दी नाटकों में भारतेन्दु से ही इस पद्धि का प्रारम्भ हो गया। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र के मुख से भरत वाक्य नाटककार ने कहलाया है।[३] तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में शैव और वैष्णव मिलकर भरत वाक्य बोलते हैं —

'निज स्वारथ.......... प्रगटित रहै।'[४]

भरतवाक्य रखने की भारतेन्दु जी को इतनी अधिक रुचि है कि 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण में भी लेखक भारत की कल्याण कामना करता हुआ भरत वाक्य

---

१. सेठ गोविन्ददास :'गरीबी या अमीरी', प्र०सं०, १९४७ ई० ,हिन्दुस्तानी एके०, इलाहाबाद

२. सेठगोविन्ददास: 'कर्ण', प्र० सं०, १९४६ ई० , विद्या मन्दिर प्रकाशन ,मुरार (ग्वालियर)

३. ब्रजरत्नदास:भारतेन्दु नाटकावली', प्रथम भाग, द्वि०सं०,सन् १९५१,रामना०,प्रया

४ वही , द्वितीय भाग, द्वि०संस्करण,१९५६,रामना०,इलाहाबाद, पृ० १२३

उपस्थित करता है।[१] `चन्द्रावली` में चन्द्रावली इस मंगल कामना के वाक्य को प्रस्तुत करती है — परमारथ......... प्रकाशित जग रहै।`[२]

`भारत दुर्दशा` , `नीलदेवी`, `सतीप्रताप` में भारतेन्दु ने पाश्चात्य नाटकों से प्रभावित होकर भरतवाक्य का पूर्णतः बहिष्कार किया है। भारतेन्दु के अनुकरण पर चलनेवाले नाटककारों में किसी ने इस मंगलवाक्य का विधान अपने एक नाटक में किया है और दूसरे में नहीं भी किया है। लाल खड्गबहादुर मल्ल के `महारास` नाटक में भरतवाक्य नहीं है और` हरितालिका नाटिका` में भी भरत वाक्य कथा नहीं है किन्तु राग सोहनी गल तिताला में नेपथ्य से गान होता है —

> `गिरिपति तुम सम भूतल कोऊ । धन्य भाग्य लघु भये तुम्हारे ,
> आजसिवासिव दोऊ ।। धनि दुहिता धनि मातु पिता धनि ,
> धनि अलि धनि पुरवासी । धन्य प्रेम अविचल जेहि कारन,
> पायो वर अविनासी ।। हरखित दैव कुमारि असि सहि, सहित
> उमंग घनेरी । बाढ़ै गिरिजा देज कलालो सुख सुहाग नित तेरी ।।[३]

अन्त में`बाढ़े `शब्द भरत वाक्य की याद दिलाता है। सामाजिक कुरीतियों के प्रकाशन हेतु लिखे गए` बाल्य विवाह नाटक ` में भी अन्त में भरतवाक्य का प्रयोग हुआ —

> बाल विवाह कुरीति , रहै न भारत मंह तनिहुं ।।
> सुत सम्पति सुख-प्राप्ति, लहैं नारि नितनित नवल ।।[४]

---

१. ब्रजरत्नदास:`भारतेन्दु नाटकावली`, द्वितीय भाग, द्वि०सं०,१९५८ई०, रामना०, इलाहाबाद , पृ० १६५

२. वही, पृ० २२०

३. लाल खड्ग बहादुर मल्ल :` हरितालिका नाटिका` , प्र०सं०, १८८७ ई०, खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर, पृ० ४०

४. देवदत्त शर्मा :`बाल्य विवाह नाटक` , चौथी बार, १८९७ ई० , पृ० २०

'वारिदनाद वध व्यायोग'[१] में कुमार लक्ष्मण ने संस्कृत के श्लोकों द्वारा भरतवाक्य प्रस्तुत किया है जिसमें चन्द्रमा की जय, देवताओं को सर्वदा नमस्कार, ब्राह्मणों को सुख होवे, पृथ्वी समृद्ध होवे, चन्द्रमा तुल्य नरेन्द्रचन्द्र वीर पुरुष हैं, उनका प्रताप होवे आदि वर्णित है। 'गुरुगोविन्द सिंह'[२] में भरतवाक्य के सदृश बधाई गीत है। भाई बंदा को गुरुगोविन्द सिंह ताज पहनाते हैं तो सब खड़े होकर गाते हैं —

बधाई है बधाई है बधाई है बधाई है

x x x

x x x

अमर स्वाधीन हो जावे,

हर एक मुंह से यही आवे

बधाई है बधाई है।

'कौंसिल की मेंबरी'[३] में भारतबन्धु नामक पात्र भरतवाक्य बोलता है जिसमें भारत के शस्य श्यामल उर्वर भूमि होने तथा प्रगति की कामना की गई है। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'शिक्षादान अथवा जैसा काम वैसा परिणाम' में अन्त में भी भरतवाक्य है। नाटककार ने फुटनोट में उसी पृष्ठ पर लिखा है कि महादेवप्रसाद सेठ जी ने इस भरतवाक्य की रचना की है। प्रधान पात्र द्वारा भरतवाक्य कहलाने की प्रवृत्ति नाटककारों में विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। मैथिलीशरण गुप्त के 'तिलोत्तमा' में ~~तिलोत्तमा' में~~ तिलोत्तमा द्वारा ही भरतवाक्य गाया गया है। सुन्द उपसुन्द को मारकर देवताओं का बहुत बड़ा कार्य तिलोत्तमा ने किया। इन्द्र इसके पुरस्कारस्वरूप उसे कुछ देना चाहते हैं किन्तु उत्तर में 'कृतार्थ हूं' कह कर अनुमति मांगती है कि यदि आप प्रसन्न हैं तो भरत का यह वाक्य पूरा होने दीजिए —

---

१. वामनाचार्य गिरि : 'वारिदनाद वध व्यायोग', प्रथम बार, सन् १९०४, लहरी प्रेस, लाहोरी टोला, काशी।

२. अमरनाथ कपूर : 'गुरुगोविन्द सिंह,' प्र०सं०, १९२२, आ०रा०प्र० का० भा० प० प्रकाशन

३. वामनाचार्य गिरि : 'वारिदनाद वध व्यायोग', प्रथमबार, सन्१९०४, लहरी प्रेस, लाहोरी टोला, काशी।

बरसे प्रेम रूप पयोद ,
प्रबल ईर्ष्यानिल बुझा दे विनय जल सविनोद ।
हरी धरती रहे भरती जौम से निज गोद ,
और हिलमिल कर अखिल जन सतत पावें मोद ।[१]

किशोरीदास वाजपेयी का `द्वापर की राज्य क्रान्ति`[२] पूर्णतया नवीन विचारधारा को लेकर लिखा गया नाटक है किन्तु इसमें भी अन्त में मंगलात्मक भरतवाक्य का विधान पाया जाता है —

कण कण मेरी देह का लगे प्रजा हित राम ।
जप, तप, पूजा-पाठ सब, यही एक अभिराम ।

सेठ गोविन्ददास के उपसंहार का प्रयोग भरतवाक्य के समान नाटक के अन्त में होता है किन्तु इसका तात्पर्य बिल्कुल भिन्न है। एक नाटक का अन्तिम परिणाम बताता है तो दूसरा मंगल कामना मात्र करता है। `प्रकाश`[३] में `उपक्रम` में जो दूकान थी , वही उपसंहार में भी है। बहुत से चीनी मिट्टी के वर्तन गिरकर टूट गए हैं। सांड़ को रस्सियों से बांध लिया गया है। तरह तरह के लोग खड़े हैं जिनमें दो पुलिस वाले कांस्टेबिल भी हैं। कुछ सांड़ की रस्सियां पकड़े हैं। वृद्ध रोता हुआ हाय हाय कर रहा है और कह रहा है — कैसे अच्छे चमकीले, पालिशदार वर्तन थे। सब चकनाचूर हो गए। उपसंहार में समाज के पालिशदार आदर्शों , सिद्धान्तों जो दुनियां को धोखे में रखकर अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दामोदर दास, अजय सिंह आदि ने रखा, वह सब चकनाचूर हो गए। अजय सिंह का पुत्र प्रकाश है किन्तु एक बार चूंकि उन्होंने अपनी पहली पत्नी को कुलटा कह कर घर से निकाल दिया था अत: पुत्र को पहचानकर भी दुनियां के लाज में कुछ बोल नहीं पाते थे। किन्तु प्रकाश

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : `तिलोत्तमा` , तृतीयावृत्ति, १९८१ वि०
२. किशोरीदास वाजपेयी : `द्वापर की राज्यक्रान्ति` , दूसरा संस्करण, सन् १९४०, हिमालय एजेन्सी, कनखल, यू०पी०
३. सेठ गोविन्ददास : `प्रकाश`, द्वि०संस्करण, १९९२ वि०, म०सा०मं०गो०, जबलपुर ।

के जेल जाने की तैयारी पर वृद्ध अजयसिंह बैरिस्टर से अपनी दरख्वास्त जो प्रकाश के खिलाफ दी थी, लौटाना चाहते हैं परन्तु इसके लिए नकारात्मक उत्तर मिलता है तभी प्रकाशचन्द्र की जय आदि के नारे लगते हैं। तब अत्यन्त आतुरता से अजयसिंह कहते हैं कि प्रकाश मेरा लड़का है और मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। उपसंहार का अर्थ हुआ कि प्रकाश सर्वेह नामक साँड़ पकड़ लिया गया किन्तु पालिश को समाप्त कर, सच्चाई को दिखाकर।

'गरीबी या अमीरी'[१] में भी नाटक समाप्त होने पर उपसंहार की व्यवस्था की गई है। पाँचवें अंक के अंतिम दृश्य की घटना के समय सरस्वतीचन्द्र छोटा है। उपसंहार में स्पष्ट किया गया है कि मकान वही है किन्तु सरस्वतीचन्द्र अब अठारह वर्ष से अधिक का हो रहा है, उस समय तक किस प्रकार का अपना जीवन माँ बैटे (अचला और सरस्वतीचन्द्र) ने बना लिया है। विद्याभूषणा के मरने के बाद बारह वर्ष के समय में यह जीवन बना है, यह उपसंहार के द्वारा पता चलता है। पूर्व की बात उपक्रम ने स्पष्ट की और बाद की बात उपसंहार ने। 'कर्ण' में उपसंहार में अधर्म से अर्जुन द्वारा निरस्त्र कर्ण की मृत्यु दिखाया है। कृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि कर्ण सूत नहीं, वह कुन्ती पुत्र था। उपसंहार के तीन दृश्यों में प्रथम दो में युद्धों के प्रदर्शन मात्र हैं जो पूर्णतया सिनेमा से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। सेठ जी ने फुटनोट में लिख भी दिया है कि यहाँ तक का अंश सिनेमा में ही दिखाया जा सकता है।

---

१. सेठ गोविन्ददास :'गरीबी या अमीरी', प्र०सं०, १९४७ ई०, हिन्दुस्तानीएके०, इलाहाबाद।

अध्याय – ६

कथानक में काल-विभाजन

जहाँ तक कथानक में काल-विभाजन की बात है इसका प्रयोग अंक-विभाजन के रूप में सभी देशों के नाटककारों द्वारा पाया जाता है। एक ही कथा कई दिनों, महीनों तथा वर्षों की हो सकती है अत: कथावस्तु के सफल विन्यास के लिए अंक विभाजन का सिद्धान्त प्राचीन भारतीय आचार्यों एवं पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रियों द्वारा बनाया गया है।

अंक के काल परिमाण—

एक अंक में कितने समय की कथा रखी जाय, इस विषय पर आचार्यों ने अपना अपना स्वतंत्र मत व्यक्त किया है। आचार्य भरत का मत है कि क्षण, प्रहर, मुहूर्त आदि लक्षणों से युक्तदिनों के अनुसार सब कार्यों को अंकों में बांटना चाहिए। दिन समाप्त होने तक का पूरा काम यदि एक अंक में न आ जाये तो अंक समाप्त करके शेष काम प्रवेशक द्वारा करवाया जाय। एक महीने या एक वर्ष के काम पर अंक तोड़ना चाहिए। सब काम एक एक अंक में समाप्त हो किन्तु एक वर्ष से ऊपर का काम नहीं होना चाहिए।[१] नाट्यदर्पण में एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी (४८ मिनट) से लेकर चार पहर (२४ घण्टा) तक अंक का काल परिमाण बतलाया है। अर्थात् एक अंक का विस्तार उतना ही होना चाहिए जिसका अभिनय उस समय के भीतर समाप्त हो सके।

---

१. भरतमुनि-: 'नाट्यशास्त्र', श्लोक २७

चतुर्यामों मुहूर्तत: अर्थात् मुहूर्त से लेकर चार पहर (जिसका अभिनय हो) अर्थात् कम से कम (मुहूर्त भर) दो घड़ी (४८ मिनट) में अभिनय करने योग्य और अधिक से अधिक (चार पहर) तीस घड़ी (बारह घण्टे) में अभिनय करने योग्य। मुहूर्त से भी कम (प्रयोग समय) होने पर प्रयोग के अपूर्ण रह जाने से और चार पहर से भी अधिक (अभिनय) होने पर (संध्यावन्दनादि) आवश्यक कार्यों में विघ्न पड़ने से देखनेवालों और अभिनय करने वालों के लिए रुचि कर हो जायेगा। यह (काल की दृष्टि से) अंक का कम से कम मध्यम और सबसे अधिक काल परिमाण कहा है।[१] यह चार प्रहरवाली बात बिल्कुल ही अनुचित प्रतीत होती है क्योंकि सोलह घण्टे का अभिनय का काल-परिमाण अनेक अंकों वाले नाटक में असंगत ही है।

अंक संख्या के नियम —

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने अंकों की संख्या के संबंध में भी नियम निर्धारित कर दिये हैं। इनके अनुसार अंक की रचना अवस्थाओं के आधार पर की जाती है। नियमत: एक अंक में एक अवस्था की पूर्णता हो जाने पर नाटक पांच अंकों में समाप्त हो जाना चाहिए किन्तु यदि किसी अवस्था की पूर्ति में दो अंक लग जायें तो नाटक के छ: अंक हो सकते हैं। दो अवस्थाओं में दो दो अंक लग जाने पर सात या पांचों अवस्थाओं में दो दो अंक लग जाने पर अधिक से अधिक दस अंक रखे जा सकते हैं। इस प्रकार नाटक में कम से कम पांच और अधिक से अधिक दस अंकों के रखने का विधान है। प्राचीन नाट्यशास्त्र दस अंकों से अधिक जाने की अनुमति किसी प्रकार नहीं देता। कार्य आधिक्यवश किसी अवस्था में तीन अंक हो जायें तो भी किसी अवस्था में एक अंक कम करके कुल संख्या दस ही होनी चाहिए। 'वेणी संहार' नाटक' में प्राप्त्याशा (तीसरी अवस्था) से युक्त गर्भसंधि (तृतीय संधिभेद) में तृतीय, चतुर्थ, पंचम, तीन अंक लग गये हैं। कम होकर तो एक अंक भी हो सकता है परन्तु उससे पांचों सन्धियों का प्रदर्शन नहीं हो सकेगा और दस से अधिक होने पर

---

१. आचार्य विश्वेश्वर- हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ४१- ४४

संख्या की कोई अवधि नहीं रहेगी । अत: मध्यम मार्ग ही ग्रहण करना श्रेष्ठ है । नाटिका और प्रकरणी में चार अंक होने चाहिए ।[1] धनिक धनंजय ने भी अंकों की संख्या ५ से १० ही कहा है तथा उसमें यह भी जोड़ दिया है कि पांच अंकों का नाटक निम्नकोटि का होता है और दस अंकों का श्रेष्ठ ।[2] संस्कृत नाटकों को देखने पर पांच से लेकर दस अंकों तक के नाटक पाये जाते हैं । शकुन्तला,उत्तरराम-चरित, मुद्राराक्षस में सात, वेणीसंहार में छ: तथा विक्रमोर्वशीय में पांच अंक पाये जाते हैं ।

अंक का लक्षण—

साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ[3] ने अंक का लक्षण बताते हुए कहा है कि अंक में नेता का लक्षण प्रत्यक्ष होना चाहिए । रस और भाव पूर्ण हों । गूढ़ार्थक शब्द न हों । छोटे छोटे शब्द हों । अंक में अवान्तर कार्य पूरा हो किन्तु विन्दु (अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के विच्छेद का जो निमित्त है, उसे विन्दु कहते हैं) कुछ लगा रहना चाहिए अर्थात् प्रधान कथा की समाप्ति न होनी चाहिए । बहुत कार्यों से युक्त न हो और बीज का उपसंहार न हो । अनेक प्रकार के संविधान हों किन्तु पद्य बहुत न हों । संध्या वंदनादि कार्यों का विरोध न होना चाहिए । जो कथा अनेक दिनों में सिद्ध हुई हो उसे एक ही अंक में नहीं कहना चाहिए । नायक सदा सन्निहित रहे और तीन चार पात्रों से युक्त हो । अंक में कुछ वर्जित बातें भी हैं जैसे दूर से आह्वान् , वध, युद्ध ,राज-

---

१. रामचन्द्र गुणचन्द्र :`नाट्यदर्पणम्` की हिन्दी व्याख्यारूप में हिन्दी नाट्य दर्पण, आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ४५-४७

२. धनिक धनंजय :`दशरूपकम्` , तृतीय: प्रकाश:, कारिका ३८

३. आचार्य विश्वनाथ :`साहित्यदर्पण,` व्याख्याकार—आचार्य शालिग्राम शास्त्री, चतुर्थ संस्करण, , १९६१, पृ० १७१-१७२

विप्लव, देश विप्लवादि, विवाह, भोजन, शाप, मलत्याग, मृत्यु, रमण, दन्त-घात, नखघात, तथा शयन, अधर पानादिक लज्जाजनक कार्य एवं नगरादि का घिराव, स्नान एवं चन्दनादि लेपन इनसे रहित हो और अति विस्तृत न हो। रानी और उसके परिजन (नौकर चाकर) एवं मंत्री वैश्य आदि के भावपूर्ण एवं रसपूर्ण चरित्रों से युक्त होना चाहिए एवं इसकी समाप्ति पर सब पात्रों का निष्क्रमण होना चाहिए। विवाह भोजन आदि कुछ अंशों का यहाँ भरतमुनि के ग्रन्थ से विरोध पड़ता है। नाट्यदर्पणकार ने अंक का पारिभाषिक अर्थ दिया कि "(कार्य का प्रारम्भ आदि रूप) अवस्था की समाप्ति अथवा कार्यवश (असमाप्त अवस्था का भी) विच्छेद (जो अगले अंक की कथा के बीज अथवा) बिन्दु से लेकर युक्त (और दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट के) मुहूर्त से लेकर चार प्रहर (बारह घण्टे) तक के दर्शनीय अर्थ से युक्त हो, वह अंक कहलाता है।"[2] अंक के अन्त में सारे पात्रों के निर्गम की बात धनिक धनंजय[3] ने भी उपरोक्त नाटककारों की भाँति स्वीकार किया है।

पाश्चात्य दृष्टि—

एलिजाबेथकालीन नाटक प्रायः पाँच अंकों के हुआ करते थे किन्तु परवर्ती नाटक तीन, चार, पाँच अंकों के कथानक के विस्तार के अनुसार होने लगे। अंग्रेजी भाषा-भाषी देशों में यह नई विचारधारा मान्य हो गई किन्तु कुछ ही पहले यह विचार स्वीकार किया गया था कि "पाँच (अंक) कीमती लम्बे फहराते हुए पोशाक की तरह मर्यादित लगता है जबकि एक, दो और तीन अंक छोटे स्कर्ट (स्त्रियों का कमर के नीचे से लटकने वाला पोशाक) के समान और निम्न श्रेणी का [illegible][4]।"

---

१. क्रोधप्रमाद शोकाः शापोत्सर्गां च विद्रवोद्वाहौ।
अद्भुत संभय दर्शनमङ्केप्रत्यक्षजानि स्युः।
युद्धं राज्यभ्रंशो, मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि।
— आचार्य भरत—नाट्यशास्त्र, १८ वां अध्याय

आचार्य विश्वेश्वर : "हिन्दी नाट्यदर्पण", पृ० ४०

धनिक धनंजय—दशरूपकम् —तृतीय: प्रकाशः, कारिका ३७

होगा ।"[१] परन्तु आज का नाटककार तीन, चार, पांच अंकों की योजना अपने नाटक को उत्तमोत्तम बनाने के लिए कर सकता है । दृश्य परिवर्तन के संबंध में भी यह प्रश्न उठा कि क्या एक लम्बा अंक ही एक नाटक के लिए वांछनीय नहीं है ? स्ट्रिन्डबर्ग ने एक स्थान पर मिस जूलिया की भूमिका में एक लम्बा अंक रखने की समस्या पर विचार प्रकट किया है कि उन्होंने इस नाटक में अंक विभाजन से बचने का प्रयत्न किया है तथा मध्यान्तर से प्रेक्षकों को नाटक के प्रभाव से सम्मोहन पैदा करने में बाधा पड़ती है । उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया है कि यदि डेढ़ घंटे तक व्यक्ति भाषण, वाद-विवाद आदि शांति से सुन सकता है तो वह रंगमंचीय नाटक देखने में क्यों थकावट अनुभव करेगा अथवा उसका ध्यान विकेन्द्रित हो जायेगा । स्ट्रिन्डबर्ग ने आगे कहा है कि १८७२ में पांच अंकों का एक नाटक लिखा और यह सफल नहीं हुआ । इसका प्रभाव कुछ बिखरा हुआ-सा पड़ा अतः मैंने उसे अग्नि को समर्पित कर दिया और उसकी ~~एक घंटे में समाप्त होने~~ राख से निकला एक अकेला, सुनिर्मित, पचास पृष्ठों का एक घंटे में समाप्त होने वाला अंक ।[२]

जी०पी० बेकर महोदय ने तीन अंकों की उपयोगिता दिखाते हुए कहा है कि चार अथवा पांच अंकों की अपेक्षा तीन अंक के नाटक में प्रत्येक अंक के लिए पर्याप्त स्थान मिल सकता है जिसमें दर्शकों के नेत्रों के सम्मुख चरित्र का विकास हो सकता है अथवा अच्छी संख्या में दृष्टान्तों, व्याख्यात्मक कार्यों द्वारा मूल उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है । तीन अंकों में दो ही टुकड़े भी होते हैं । जितनी घटनाएं हों, कार्य व्यापार द्वारा चरित्र चित्रण का प्रदर्शन हो उसी अनुपात में दृश्यों और

---

*

१. Five is dignity , with a trailing robe whereas one , two or three acts would be short skirts and degrading .

१. जी०पी० बेकर : 'ड्रैमेटिक टैक्नीक', १९५०, पृ०११७

२. इन्ट्रोडक्शन टु 'मिस जूलिया' : ई जैकि मेन द्वारा अनुवादित, १९१२, स्क्रीबनर्स , (स्क्रीबनर्स सन्स, न्यू मार्केट)

अंकों की योजना बनानी चाहिए। तीन, चार, पांच कितने अंक रखे जायं इसका निर्धारण समय और स्थल की विभिन्नता के अनुसार किया जाता है।[१]

अंकों का विस्तार—

स्वाभाविक है कि प्रथम और अंतिम अंकों का कार्य मध्य के अंकों से भिन्न होता है। प्रथम अंक का मुख्य कार्य कथाके प्रमुख पात्रों का परिचय देना कथा का कुशलतापूर्वक आरम्भ करना है अतः अन्य अंकों की अपेक्षा यह विस्तृत होता है और अंतिम अंक बहुधा सबसे छोटा हुआ करता है क्योंकि जैसे ही चर मसीमा पहुंचते हैं, अति सत्वर गति पर्दा गिराना चाहिए। विभिन्न काल के कुछ प्रमुख नाटकों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि प्रायः निर्धारित कर लेता है कि किस अंक का क्या कार्य है और तदनुरूप उसका विस्तार करता है।[२] उपरोक्त बातें इस बात का संकेत कर दी हैं कि उत्तरोत्तर अंक छोटे होते जाने चाहिए। यह नियम भारतीय पद्धति में भी स्वीकार किया गया है। उदाहरण के लिए दो आधुनिक नाटकों को ले सकते हैं —

कैन्डिडा		सिल्वर बाक्स	
अंक १	२७ पृष्ठ	अंक १	२७ पृष्ठ
अंक २	२५ पृष्ठ	अंक २	२७ पृष्ठ
अंक ३	२१ पृष्ठ	अंक ३	२१ पृष्ठ

एलिजाबेथ काल में पांच अंकों के नाटकीय काव्य ही अधिक लिखे गए। अंक विस्तार के बारे में सुरक्षित सिद्धान्त यह है कि 'प्रथम अंक स्पष्ट, अंतिम छोटा और सर्वत्र रुचिपूर्ण विस्तार हो।[३] बाने बेकर महोदय ने पुनः कहा है कि एक

---

१. जी०पी० बेकर : ड्रैमैटिक टैकनीक, १९४७, पृ० १२०

२. वही, पृ० १४८-४९

३. जी०पी० बेकर : 'ड्रैमैटिक टैकनीक', १९४७, पृ० १५०

सुनिश्चित ,सुनियमित अंक योजना पूर्ण खेल बिना अंक योजना के खेल की अपेक्षा उच्चतर कलात्मक यान्त्रिक गठन है, जैसे रीढ़वाला जानवर कोमल बिना रीढ़ वाले से ऊंची श्रेणी का माना जाता है। प्रत्येक अंक का निश्चित रूप से मुख्य कार्य का विकास करते हुए उत्तेजित करने वाला कार्य है और क्षणिक रूप में अपने संबंध को भी तृप्त करता चले।[1] प्रत्येक अंक सम्पूर्ण की एक इकाई होना चाहिए जो अपना निश्चित कार्य पूर्ण करता है।[2]

गर्भाङ्क—

'अङ्कोदरेति' अर्थात् अंक के उदर में (बीच में) ही प्रविष्ट हो, जिसमें रंग द्वारा और आमुख आदि अंग हों और बीज तथा फल का स्पष्ट आभास होता हो उसे गर्भाङ्क कहते हैं।[3] भवभूति के उत्तर रामचरित में गर्भाङ्कों की योजना है तथा बाल रामायण में सीतास्वयंवर नामक गर्भांक है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अङ्कों में गर्भाङ्कों की योजना हमारे यहां नवीन नहीं है। धनिक धनंजय आदि कुछ नाट्यशास्त्रकारों ने गर्भांक पर विचार नहीं किया है। पाश्चात्य नाट्य शास्त्र में गर्भाङ्क के लिए 'सीन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कथावस्तु के संबंध में प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों का दृष्टिकोण प्राय: समान है किन्तु कहीं कहीं नितान्त भिन्न भी है जिसकी चर्चा पीछे की गई है। ~~अब नायक को लेकर इनके दृष्टिकोणों का पर्यवेक्षण करें~~ ।

---

१. " Each act ought to stimulate and temporarily satisfy an interest of its own while definitely advancing the main action . "

१. विलियम आर्चर: 'प्ले मेकिंग', स्माल मेनार्ड एण्ड कं०, बोस्टन,पृ० १३६

" Each act should be a unite of the whole which accomplishes its own definite work . "

२. जी०पी० बेकर : 'ड्रैमेटिक टैकनीक', १९५०, पृ० १५१

३. विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण—व्याख्या शा०शालिग्राम शास्त्री, चतुर्थ संस्करण, १९६१, पृ० १०२

अंक दृश्य विधान—

हिन्दी नाटककारों ने भी प्राचीन भारतीय तथा अन्य देशों के नाटक-कारों की भांति कथा का विभाजन अंकों में किया । एक समय की कथा एक अंक में ग्रहण करने का प्रयत्न नाटककारों में दिखाई पड़ा । भारतेन्दु ने वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति नामक प्रहसन में चार अंकों की योजना की है । प्रथम अंक में रक्त से रंगा हुआ राजभवन, द्वितीय में पूजाघर, तृतीय में राजपथ, चतुर्थ में यमपुरी का दृश्य उप-स्थित किया गया है । वस्तुत: ये चार दृश्य हो सकते हैं जिन्हें नाटककार ने अंक नाम दिया है । प्राचीन रीति के अनुसार प्रहसन में एक अंक ही होना चाहिए किन्तु नवीन के अनुकरण पर इसमें चार अंक रखे गए हैं । लगभग पांच छ: पृष्ठों के सभी अंक हैं । `सत्य हरिश्चन्द्र` तथा चन्द्रावली` में चार अंक रखे गए हैं और दोनों में क्रमश: तृतीय अंक तथा द्वितीय अंक में अन्तर्गत अंकावतार की योजना है । प्राचीन नाट्यनियम का पालन चन्द्रावली नाटिका में पूर्ण रूप से प्राप्त होता है । किन्तु अधिक अंश में अंक विधान में पाश्चात्य प्रणाली का उपयोग शास्त्रीय शृंखला को तोड़कर किया गया दिखाई पड़ता है ।` भारत दुर्दशा` छ: अंकों का छोटा सा भावात्मक रूपक है । इसमें प्रथम तथा दूसरा अंक परवर्ती अंकों से छोटे हैं जो प्राचीन रीति के विपरीत है । यह नाट्यरासक व लास्य रूपक है । इसके सभी अंकों में पर्याप्त मात्रा में गान का समावेश है । गीत ही अधिक हैं परन्तु प्राचीन नाट्य रीति के अनुसार नाट्यरासक में एक अंक होना चाहिए जिसका यहां उल्लंघन हुआ है ।

` प्रेमयोगिनी` भारतेन्दु जी की अपूर्ण रचना है । एक अंक में चार गर्भाङ्कों का योग है । चारों गर्भाङ्कों में चार पृथक चित्र दिए गए हैं । एक से दूसरे का कोई संबंध नहीं है और न नाटक के नामकरण से ही कथा का संबंध दिखाई पड़ता है । गर्भाङ्क शब्द अंग्रेजी के `सीन` का समानार्थी कहा जा सकता है । संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार किसी अंक के मध्य में आने वाले अंक को गर्भांक कहते हैं तथा रस वस्तु और नाय का उत्कर्ष बढ़ाने में इसका उपयोग होना चाहिए ।

बंगला के आधुनिक नाटकों में गर्भाङ्क सीन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । भारतेन्दु जी ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है । `भाण` रूपक में प्राचीनरीत्या-नुसार एक अंक प्राप्त होता है ।[१] किन्तु प्रहसन में नवीन स्वतंत्र प्रवृत्ति के फलस्वरूप

---

१. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र `विषयस्य विषमौषधम् ,१८७६

छ: अंकों की योजना की गई है[1]। नाटककार के ऐतिहासिक तथा पौराणिक गीत रूपक अंकों के स्थान पर दृश्य रखे गए हैं। नवीन नाट्य नियम के अनुसार दृश्य परिवर्तन जल्दी जल्दी हुआ है। जिस दृश्य के लिए कैसा स्थान हो तथा सजावट कैसी हो, इसका विवरण भी भारतेन्दु जी ने दे दिया। पहले में दस तथा दूसरे में सात दृश्यों का विधान है। भारतेन्दु के समकालीन प्राय: अधिक नाटककारों ने गर्भाङ्क का दृश्य के अर्थ में प्रयोग किया है।[2]

नाटिका में प्राचीन शास्त्रीय रीति के अनुसार चार अंकों को रखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।[3] क्रमश: अंक अब यब छोटा होते जाना चाहिए इसका पालन नहीं हुआ है। उद्धववशीठि नाटिका में तीन अंक छोटे छोटे दृश्यों के समान हैं किन्तु चतुर्थ बाइस पृष्ठों का है जबकि पूर्ववर्ती तीन अंक इक्कीस पृष्ठों में ही समाप्त कर दिये गए हैं। प्रत्येक अंक में अंत में पटाक्षेप हुआ है।[4] लाला श्रीनिवास दास ने पांच अंकों में क्रमश: तीन, दो, दो ,एक दो गर्भाङ्कों की योजना की है। `भारतसौभाग्य` में छ: अंकों में क्रम से चार, चार , चार, चार, तीन,चार गर्भाङ्क प्रयुक्त हुए हैं जिनमें तीसरा दो के बराबर लम्बा है।[5] तीन अंकों के नाटक भी भारतेन्दु के समय में प्राप्त होते हैं जिनमें गर्भाङ्कों की योजना दृश्यों के अर्थ में की गई है, अंकों तथा गर्भाङ्कों के अन्त में कहीं भी पर्दा गिरने और उठने आदि का संकेत नहीं है।[6] इन नाटकों में गर्भाङ्कों की योजना दृश्य के अर्थ में हुई है।

---

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :` अन्धेर नगरी `(१८८१ ई०)

२. दे० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'नीलदेवी', 'सतीप्रताप'

३. (क) विद्याधर त्रिपाठी रसिकेश :'उद्धव वशीठि नाटिका', प्र०बार, सन् १९०७,
 (ख) ललिताचरण शास्त्री `यवनोद्धार नाटिका` (१९२१ई०)
 (ग) माखनलाल चतुर्वेदी : `कृष्णार्जुनयुद्ध (१९२०ई० द्वि०सं०)

४. लाला श्रीनिवासदास :`संयोगिता स्वयंवर, प्र०बार, सन् १९५२ , न०मि० दा०म० ।

५. उपाध्य चौधरी बद्री नारायण -'भारत सौभाग्य', सं० १, सन् १८८६

६. बाबू रत्नचन्द :'न्याय सभा नाटक', प्रथम भाग, सन् १८८० ई० , प्रथम बार, प्र०स्थान ?

भारतेन्दु युग में सात अंक के नाटक प्राप्त होते हैं तथा द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम में प्रत्येक में दो गर्भाङ्क नियोजित हैं।[1] ऐसे अनेक नाटक प्राप्त होते हैं जिनमें अंक न होकर केवल दृश्य ही हैं। दृश्य परिवर्तन भी इतने शीघ्र हुए हैं कि चौबीस पृष्ठों में ही बारह दृश्य बदले हैं और प्रत्येक दृश्य के अंत में पटाक्षेप हुआ है अतः दृश्यों को अंकों के अर्थ में रखा गया है।[2] कहीं बीस पृष्ठों में आठ अंक रखे गए हैं और दृश्यों का उल्लंघन किया गया है।[3] चार अंकों में प्रत्येक अंक में तीन, चार, दो और दो क्रमशः झाँकी का प्रयोग भी हुआ है।[4] दृश्य के लिए झाँकी शब्द रखा गया है। अंकों और झाँकियों के अंत में यवनिका गिरती है। यवनिका के लिए "जवनिका" लिखा गया है। नए दृश्य नए पृष्ठ से प्रारम्भ न होकर उसी पृष्ठ पर आरम्भ हो जाते हैं। ऐसे भी नाटक उपलब्ध हैं जिनमें न अंक का संकेत है, न दृश्य का। आरम्भ मध्य और अन्त कहीं भी संकेतित नहीं है कि कहाँ का दृश्य, किस स्थल का रंगमंच तैयार किया जाय। केवल संवाद के द्वारा हम अनुमान लगाते हैं कि राम वनयात्रा के लिए अयोध्या से चलकर प्रयाग पहुँचते हैं और भारद्वाज आश्रम की कथा वर्णित है। प्रायः सात दृश्य परिवर्तित हुए हैं। पर्दा उठा कर या गिराकर नहीं बल्कि सभी पात्रों के एक साथ प्रस्थान के द्वारा जिसमें दूसरी ओर से दूसरे पात्र रंगमंच पर आते हैं।[5] ऐसे रूपक प्रकार भी प्राप्त होते हैं जिनमें एक अंक रखा गया है तथा दो बार पर्दा उठाने का प्रबन्ध हुआ है।[6]

---

१. संकलित श्री कृष्णानन्द त्रिवेदी -विद्याविनोद नाटक, १८९४ ई०, ना०प्र०स०

२ (क) लाला घनश्यामदास-वृद्धावस्था नाटक , दूसरीबार, १८८८ई०,

(ख) राधाचरण गोस्वामी -अमरसिंह राठौर, प्र०सं०,१८९५

३. शिवधन शर्मा-बाल्य विवाह नाटक, चौथी बार, १८९७ ई०

४. लाल खड्ग बहादुर मल्ल-महारास नाटक , सं० ? , सन् १८८५ ना०प्र०स०, बांकीपुर

५. बदरीनारायण"प्रेमघन" प्रयागरामागमन, सं० १ , सं० १९५८,

६. वामनाचार्य गिरि-पार्थिवनामवधव्यायोग, सं० ? , सन् १९०४

सन् १६४७ तक के हिन्दी नाटकों में एक,दो,तीन,चार, पांच, छ:, सात, आठ, दस तक अंकों का विधान है। प्रसाद युग के भी नाटकों में अंक और दृश्य किस प्रकार और कैसे रखे जायं का संतुलन ठीक नहीं दिखाई पड़ता। एक अंक में दस तक दृश्य रख कर प्रत्येक दृश्य में पटाक्षेप का प्रयोग हुआ है।[1] दो अंकों के नाटकों में भी दृश्य परिवर्तन हुए हैं। प्रथम में चार और द्वितीय में तीन दृश्य हैं। प्रथम अंक अड़तालीस पृष्ठों में और द्वितीय अठारह पृष्ठों में ही समाप्त हो गया है।[2] रेलवे प्लेटफार्म का बड़ा अच्छा चित्र नाटककार ने खींचा है किन्तु इसका प्रबन्ध अभी भारत के लिए कहां तक सम्भव हो सकता है यह सोचने का विषय है। `चित्तौड़ की देवी` में भी अंकों और दृश्यों की यही व्यवस्था है।[3] ऐसे भी नाटक उपलब्ध हैं जिनमें दो अंक हैं किन्तु दृश्य एक भी नहीं है। सिनेमा की टैकनीक का प्रभाव इन पर दृष्टिगोचर होता है।[4] सेठ गोविन्ददास का `सिद्धान्त -स्वातंत्र्य` नाटक दो अंकों में दो बार यवनिका पतन पर समाप्त होता है। सिनेमा में मध्यान्तर होता है उसी प्रकार इसमें भी मध्यान्तर में पर्दा गिरता है।[5] इसके दो अंकों में बहुत पहले स्व० प्रेमचन्द जी द्वारा प्रकाशित हो चुकी थी जिसकी चर्चा सेठ जी ने निवेदन में की है। तीन अंकों वाले नाटक पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप सबसे अधिक संख्या में हिन्दी में चल पड़े हैं। भारतेन्दु-युग (१८५०- १६००) में तीन अंकों का विधान प्राय: नहीं हुआ है किन्तु प्रसाद युग में इसकी प्रवृत्ति बढ़ी और प्रसादोत्तर-युग में तो तीन अंक को ही विशेष महत्व प्रदान किया गया। जयशंकरप्रसाद ने तीन अंक अपने अधिक नाटकों में रखे हैं जिनमें दृश्यों का भी विधान है। प्राय: सभी में अंक उत्तरो-

---

१, ठा० लक्ष्मण सिंह :'गुलामी का नशा,' प्र०सं०, सन् १६२४ ई०, प्रकाशक सुरेन्द्र शर्मा,प्रताप प्रेस, कानपुर

२; दे० वृन्दावनलाल वर्मा -'बांस की फांस,' प्र०सं०, सन् १६४७, मयूरप्रका०,झांसी

३, दशरथ ओझा -'चित्तौड़ की देवी,' दि०सं०, १६३४ ई०, साहित्य प्रका०,मंडल, दिल्ली।

४; लक्ष्मीनारायण मिश्र :'आधीरात,' प्र०सं०, वि० ६३(१६३६ई०)भारती भं०,प्रयाग

५, सेठ गोविन्ददास : 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य', सं० १६५८, भारतीय विश्व प्रका०, दिल्ली।

तर बढ़े होते गए और दृश्यों की संख्या में भी वृद्धि होती गई जो सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि उत्तरोत्तर नाटक का विस्तार कम होते जाने से दर्शकों के ऊबने का प्रश्न ही नहीं उठेगा[१]। 'विशाख' में दृश्य शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ बल्कि उसके १, २, ३ संख्या का प्रयोग हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' [२] नाटक की कथावस्तु तीन अंकों में विभाजित है। तीन अंक, तीन दृश्य के अतिरिक्त, कोई दृश्य परिवर्तन नहीं हुआ है। दो पर्दों से पूरे नाटक का अभिनय हो सकता है — एक युद्ध भूमि अथवा शिविर का और दूसरा दुर्ग अथवा प्रकोष्ठ का। पं० रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, चतुरसेन शास्त्री, विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' आदि अनेक नाटककारों ने तीन अंक के नाटक लिखे जिनके नामों की गणना आवश्यक नहीं प्रतीत होती है क्योंकि यहाँ केवल प्रवृत्ति का प्रकाशन अपेक्षित है फिर भी कुछ प्रमुख नाटककारों के नाटकों में अंक विभाजन की चर्चा अनिवार्य हो जाती है। त्रिपाठी जी के तीन अंकों के नाटकों में उत्तरोत्तर अंक लम्बे होते गए। दृश्य परिवर्तन जल्दी हुए हैं। गुप्त जी के 'पुण्यपर्व' में क्रमश: तीन, दो, तीन, दृश्य हैं किन्तु इसमें दृश्य तथा गर्भाङ्क शब्द का प्रयोग न करके १, २, ३ संख्याओं का प्रयोग हुआ है। शास्त्री जी तथा कौशिक के नाटकों में भी क्रमश: अंक छोटे नहीं हुए हैं। 'भीष्म' में पट परिवर्तन आदि का संकेत नहीं है तथा अमरसिंह राठौर में हरेक दृश्य के अंत में पटाक्षेप हुआ है। रंग मंच पर घोड़ा लाया गया (दबा कर ऐड़ देते है, घोड़ा सिंह की भांति गर्ज कर उड़ान भरता है और बुर्जी पर से कूदता है)

अधिकतर तीन अंकीय नाटकों का द्वितीय अंक छोटा पाया जाता है

---

१. दे० जयशंकर प्रसाद : 'कामना', चतुर्थ सं०, सं० २००७

(ख) जयशंकरप्रसाद : 'अजातशत्रु', चौदहवां सं०, २००६ विक्र०

(ग) जयशंकरप्रसाद : 'विशाख,' अष्टम संस्करण, सं० २०१२

(घ) जयशंकरप्रसाद : 'जनमेजय का नागयज्ञ,' अष्टम संस्करण, सं० २०१७ वि०

२. जयशंकरप्रसाद —ध्रुवस्वामिनी—: सोलहवां संस्करण, सं० २०१७ वि०, भारती भंडार, इलाहाबाद।

· विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' : 'भीष्म' (१६१८)

४. चतुरसेन शास्त्री : 'अमरराठौर', प्र०बार सन् १६३३

अथवा द्वितीय और तृतीय समान रूप में होते हैं।[1] तीन अंकों का प्रयोग लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों में सबसे अधिक किया। `राजयोग`[2] नाटक में उन्होंने दृश्य नहीं रखे हैं। केवल तीन अंक हैं जिनमें पहला अंक सबसे छोटा है और दूसरा अंक सबसे बड़ा है किन्तु बाद के नाटकों में उत्तरोत्तर अंक छोटे होते गए। गर्भाङ्क तथा दृश्यों का उन्होंने सर्वथा बहिष्कार किया है[3]। गोविन्दवल्लभ पन्त ने तीन अंक के नाटक लिखे और क्रमशः अंक छोटा करते जाने का ध्यान नहीं रखा बल्कि किसी किसी नाटक में तो एक के बाद दूसरा अंक बड़ा होता गया है।[4] `अन्तःपुर का छिद्र` में दृश्य विधान सरल है किन्तु `अंगूर की बेटी` में दूसरे अंक का छठा दृश्य केवल एक पृष्ठ में है जिसमें रंगसंकेत देकर केवल दो सिपाहियों का रंगमंच पर आना और तीन चार वाक्य बोलकर मोटर के पीछे दौड़ जाना दिखाया गया है। इसी में सातवां दृश्य केवल रंग संकेत युक्त है जिसमें माधव और प्रतिभा का मोटर पर चढ़े हुए आना तथा रात होने के कारण खतरे की सूचना का न पढ़ पाना और मोटर का लट्ठे को तोड़कर टूटे हुए पुल से नदी में गिर जाना दिखाकर दृश्य समाप्त हो जाता है। पन्त जी के `वरमाला` में तृतीय अंक के प्रथम दृश्य में तीन उप दृश्य हैं जिनमें राजकुमारी वैशालिनी का तीन भिन्न भिन्न परिस्थितियों का दृश्य स्वप्न के रूप में दिखाया गया है।

---

१. उदयशंकर भट्ट : 'अम्बा,' प्रथमावृत्ति, सन् १६३५ ई०, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'राजयोग,' प्रथम बार, सन् १६३४, भारतीय भंडार, रामघाट, बनारस

३. (क) लक्ष्मीनारायण मिश्र : `सिन्दूर की होली,' प्र०सं०, १६३४ ई०, भारती भण्डार, बनारस

(ख) लक्ष्मीनारायण मिश्र : `राक्षस का मन्दिर` , तृतीय संस्करण, १६५८, कि०प्र०पु०, वाराणसी

(ग) लक्ष्मीनारायण मिश्र : `नारद की वीणा,` प्र०सं०, १६४६ ई०, किताब महल, इलाहाबाद

४. (क) गोविन्दवल्लभ पन्त : 'अन्तःपुर का छिद्र ', प्रथमावृत्ति, सन् १६५०, गंगापु० माला कार्या०, लखनऊ ।

(ख) गोविन्दवल्लभ पन्त `अंगूर की बेटी ', तृ०आवृत्ति, २०११वि०गं०पु०, लखनऊ

(ग) गोविन्दवल्लभ पन्त `राजमुकुट`, प्रथमावृत्ति, सन् १६३५ ,,

उदयशंकर भट्ट के `अम्बा` नाटक में यों तो दृश्य छोटे हैं किन्तु अंकों का विस्तार उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया है। छ: दृश्य हैं, द्वितीय में पांच और तृतीय में जाकर सात दृश्य हो गए हैं। प्रो० सत्येन्द्र[1] तथा पृथ्वीनाथ शर्मा[2] ने तीन अं[०]कों में कई दृश्यों की योजना की है। कुछ नाटकों में तीन अंक अवश्य हैं किन्तु सभी बहुत लम्बे हैं और चित्त उबा देने वाले हैं। दृश्यों के अन्त में कहीं पटाक्षेप कहीं पटोत्तोलन का प्रयोग हुआ है तथा कहीं कोई संकेत नहीं है।[3]

हरिकृष्ण प्रेमी के केवल तीन अंक वाले नाटकों में भी दृश्यों का विधान विस्तार की दृष्टि से अनियमित रूप में हुआ है। कहीं बीच का अंक बड़ा है[4] और कहीं अन्तिम अंक बड़ा है।[5] छाया तथा आहुति ऐसे नाटक हैं जिनमें उत्तरोत्तर अंक बढ़े नहीं रखे गए हैं। प्रेमी जी का प्रत्येक दृश्य पट परिवर्तन के साथ तथा प्रत्येक अंक पटाक्षेप के साथ समाप्त होता है। सेठ गोविन्ददास के तीन अंक वाले नाटकों[6] में प्रेमी जी के समान ही अंक तथा दृश्य विभाजन हुआ। अंक तथा दृश्य विधान में पाश्चात्य अनुकरण के फलस्वरूप स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। एक दृश्य

---

१. प्रो० सत्येन्द्र--मुक्तियज्ञ, प्र०सं०, सन् १६३७, साहित्यरत्न भण्डार, आगरा

२. पृथ्वीनाथ शर्मा अपराधी, १६३६ ई०, हिन्दी भवन लाहौर

३. राव राजा श्यामबिहारी मिश्र और रायबहादुर शुकदेव बिहारी मिश्र--ईशान वर्म्मन नाटक, प्रथमबार, १६३७ ई०, रामनारायणलाल पब्लिशर एण्ड बुक०, इलाहाबाद

४. दे० (क) हरिकृष्ण प्रेमी :- विषपान, चतुर्थ संस्करण, १६५१, आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली

(ख) हरिकृष्ण प्रेमी : स्वप्नभंग, द्वि०सं०, १६४६ ई०, आ०रा०ए०सं०क०गे०, दिल्ली।

५. हरिकृष्ण प्रेमी : प्रकाश, द्वि० सं०, १६४६ ई० आ०ए०सं०, क०गे०, दिल्ली

६. (क) सेठ गोविन्ददास- : प्रकाश, दूसरा संस्करण, १६६२, सं०, म०सा०म०गो०, जबलपुर

(ख) गोविन्ददास : महत्वकिसे ?, प्र०सं०, १६५७ ई०, सा०मं०लि०, प्रयाग

(ग) ,, : सेवापथ, सं०?, १४ अगस्त, १६४३, हिन्दी भवन, लाहौर

के अन्त में पर्दा उठता है तो दूसरे में गिरता है और हरेक अंक के अंत में यवनिका पतन दिखाया गया है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'फूलों की बोली' में क्रमश: तीन चार दृश्य हैं। प्रथम अंक सबसे लंबा इक्यावन पृष्ठों का है। प्रथम अंक के दृश्य लम्बे हैं किन्तु ऐसे नहीं जो रंगमंच के लिए असंभव हों। आवश्यकतानुसार पात्र रंगमंच पर आते और जाते रहते हैं[१]। तीन अंक के अनेक नाटक उपलब्ध हैं किन्तु कुछ प्रमुख नाटकों का यह विवेचन हुआ है।

चार अंक वाले हिन्दी नाटक अपेक्षाकृत कम हैं किन्तु हिन्दी नाटक के आरम्भ से सन् १६४७ तक इनका क्रम बिगड़ा नहीं। 'प्रसाद' जी ने 'राज्यश्री' तथा 'चन्द्रगुप्त' की रचना में काल विभाजन चार अंकों में किया तथा दोनों में दृश्य शब्द का बहिष्कार किया और एक दो, तीन, चार संख्याओं द्वारा इसका संकेत किया गया। 'राज्यश्री' के प्रथम संस्करण में तीन ही अंक है किन्तु नवीन संस्करण में चौथा अंक जोड़ दिया गया जिसका विशेष प्रयोजन नहीं दिखाई पड़ता। इसमें अंक उत्तरोत्तर छोटे होते गए।[२] 'चन्द्रगुप्त' में कथानक के अनावश्यक विस्तार के फलस्वरूप चार अंकों में ही बहुत अधिक दृश्यों का विधान हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पांचवां अंक रखने की योजना बनाकर नाटककार किसी कारणवश ऐसा नहीं कर सका। सेठ गोविन्ददास ने अपने कुछ नाटकों में चार अंकों का समावेश किया।[२] अंकों के अंत में यवनिका पतन हुआ दृश्यों के अंत में पात्र रंगमंच से स्वयं खिसक जाते है या कभी पर्दा उठता और गिरता भी है। सेठ जी ने ऐसे नाटक भी लिखे जिनमें केवल अंक हैं, दृश्य नहीं। हरेक अंक के अन्त में यवनिका-पतन की योजना बनाई।[३] उपेन्द्रनाथ अश्क के 'स्वर्ग की झलक' में चार अंक तथा कई दृश्य पाये जाते हैं।

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा - 'फूलों की बोली,' प्रथमावृत्ति, १६४७, मयूर प्रका०, झांसी
२. (क) सेठ गोविन्ददास :'कुलीनता' द्वि०सं०, १६४८ ई०, हि०ग्र०र०का०, गिरगांव, बम्बई ४
(ख) सेठ गोविन्ददास: 'हर्ष', कापीराइट, १६५०, प्रगति प्रकाशन, नई दिल्ली
(ग) ,, :'महत्वकिसे ?', प्र०सं०, १६४७, साहित्य भवन, लि०, प्रयाग
३. वही.

पांच अंकों वाले नाटक हिन्दी नाटक साहित्य में शेक्सपियर के प्रभाव से अधिक संख्या में पाये जाते हैं। प्रेमप्रधान रणधीर और प्रेममोहिनी[१] पांच अंकों तथा कई गर्भांकों का नाटक है जिसकी टकनीक पर रोमियो एण्ड जूलियट का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मिश्रबन्धु का 'नेत्रोन्मीलन', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध-यामुन', लक्ष्मीप्रसाद का 'उर्वशी', गोपाल शर्मा का 'मानीवसंत नाटक', वचनेश मिश्र का 'खून की होली', लोकनाथ सिलाकारी का 'वीरज्योति' कृष्णा लाल वर्मा का 'दलजीत सिंह', उमाशंकर मेहता का 'अंजना सुन्दरी' पांच अंकों तथा कई दृश्यों एवं गर्भाङ्कों में विभक्त नाटक हैं। 'मानीवसंत' नाटक में दृश्यों के लिए 'प्रवेश' कहा गया है। इन प्रवेशों का आरम्भ नए पृष्ठों से न होकर बीच से या जहां तहां से आरम्भ हो जाता है। अंकों का प्रारम्भ नए पृष्ठों से होता है। 'उर्वशी' में दृश्यों के अन्तर्गत अन्त में या मध्य में आवश्यकतानुसार गच्छति, गच्छतः, गच्छन्ति का प्रयोग प्राप्त होता है। पात्रों के प्रवेश के समय 'प्रविशन्ति' कहा गया है। 'प्रसाद' के 'स्कन्दगुप्त' में पांच अंकों का विधान है। उदयशंकर भट्ट का 'सगरविजय' पांच अंकों वाला नाटक है जिसमें दृश्यों के अन्त में पात्रों का प्रस्थान बताया गया है किन्तु अंकों तथा दृश्यों के अन्त में पटाक्षेप आदि का संकेत कहीं नहीं है। पाश्चात्य नाट्य शैली से प्रभावित लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक' नाटक में पांच अंक तथा अनेक दृश्य हैं। इसमें एक स्थान पर दृश्य सामने आता है। तत्पश्चात् दृश्य समाप्त होने पर परदा गिरता है।[२] 'शिवासाधना' में पांच अंक में तुलजापुर, पूना, बीजापुर, राजगढ़, औरंगाबाद, प्रतापगढ़ की तलहटी, दिल्ली का लालकिला, बाकन का किला, पांढरपाणी की घाटी, प्रबलगढ़, आगरा में दीवाने खास, सासवड़, जैंजीराद्वीप के दृश्यों का विधान है।[३] पन्त जी के पांच अंकों में दृश्य योजना बड़ी कुशलता से हुई है। तीन पर्दे से इसका कार्य पूरा हो जायेगा। रंगमंच की सजावट में सुविधा जल्दी और समय की बचत का ध्यान

---

१. लाला श्रीनिवासदास :- 'रणधीर और प्रेममोहिनी,' तृतीय संस्करण, सं० १९७९

२. लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'अशोक', संस्करण ?, सन् १९२७, हिन्दी पुस्तक भण्डार, लहरिया सराय

३. हरिकृष्ण 'प्रेमी' : 'शिवासाधना,' दूसरा संस्करण, १९३९ ई०, हिन्दी भवन, लाहौर

रखा गया है ।[१]

सेठ गोविन्ददास ने पांच अंकों वाले अपने नाटक में दृश्यों के अन्त में लघुयवनिका और अंकों के अन्त में यवनिका का प्रयोग किया । उपसंहार में दो बार पट परिवर्तन करके तीन दृश्य दिखाये गए हैं जो सिनेमा में ही दिखाया जा सकता है, रंगमंच पर इतनी शीघ्रता कठिन है । युद्ध, हत्याएं तथा अन्य वर्जित दृश्य भी यत्र-तत्र दिखाए गए हैं । देखते देखते घटोत्कच इतना ऊंचा हो जाता है कि उसके बाल बादलों को छूते हुए दीख पड़ते हैं । कुछ ही देर में उसके टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं उन टुकड़ों से अगणित घटोत्कचों की उत्पत्ति होती है । शनै शनैः फिर एक होकर घटोत्कच उड़ जाता है थोड़ी देर में वह फिर आकाश से उतरता है । अब बार बार दीखता और अन्तर्धान होता है । कुछ ही देर में उसके चारों ओर सिंह, रीछ एवं सर्प दीख पड़ते हैं । ऊपर लौह के एक विचित्र प्रकार के मुखवाले पक्षी उड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं आदि ।[३] उपर्युक्त नाटक के समान दृश्य के अन्त में लघुयवनिका और अंक की समाप्ति सेठ जी के अन्य नाटकों में हुई है । सुमित्रा-नन्दन पन्त ने एक , दो, तीन, चार, पांच संख्याओं के संकेत द्वारा अंक विभाजन किया ।[४] सात अंकों का उपयोग हिन्दी नाटकों में बहुत कम हुआ किन्तु नमूने के लिए कुछ नाटक मिल गए हैं इनमें गर्भाङ्कों का भी विधान है ।[५] आठ अंकों में नियोजित ऐसा नाटक मिला है जो एकतीस पृष्ठों में ही समाप्त हो गया ।[६] अश्क जी ने भी पांच अंकों तथा कई दृश्यों वाले नाटकों की रचना की की है ।[७]

---

१. गोविन्दवल्लभ पन्त :`सुहागबिन्दी`, तृतीयावृत्ति, सन् १९४९, गंगापु०मा०का०, लखनऊ ।

२. दे० सेठ गोविन्ददास :`कर्ण` (१९४६ ई०)

३. सेठ गोविन्ददास:`कर्ण`, प्र०सं०,सं० २००३, वि०म०प्र०पु०,ग्वालियर,पांचवां अंक

४. पं० सुमित्रानन्दन पन्त : `ज्योत्स्ना` ,प्र०सं०,१९३४ ई०

५. दे० राधाकृष्णदास—'महाराणाप्रताप सिंह' प्र०सं०,१८९७, इंडियनप्रेस,प्रयाग

६.(ख) दे० उपेन्द्रनाथ-अश्क- मूलचन्द—'पुलिस'नाटक,संस्करण ? ,सन् ?

६. दे० उ०ना० अश्क,`जयपराजय`(१९३७)

६. परमेश्वर मित्र-: `रूपवती नाटक`, प्र०सं०, १९०६ई०,

अश्क का 'छठा बेटा' में पांच बार पर्दा गिरता है और उठता है। अंक का नाम नहीं दिया गया है न दृश्य ही नाम दिया है किन्तु इन्हें पांच भागों में अलग किया जा सकता है। अश्क जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'इसकी बनावट (Pattern) मुझे पसन्द नहीं और आज यदि मैं स्वप्न नाटक लिखूं तो शायद कोई दूसरा ही शिल्प अपनाऊं[1]।' बालकृष्ण भट्ट का 'दमयन्ती स्वयम्बर' दस अंकों में विभाजित है जिसे संस्कृत नाटकों का प्रभाव कहा जा सकता है।

हिन्दी नाटककारों ने अंक तथा दृश्य विधान में पाश्चात्य नाटककारों का विशेष रूप से अनुकरण किया। किन्तु प्राचीन का पूर्णत: परित्यागभी नहीं किया। ऊपर कहा जा चुका है कि यत्र तत्र भारतीय भाण, प्रहसन, नाटिका आदि के उदाहरण प्राप्त होते हैं। किन्तु अधिकांशत: नाटक के आख्यान तीन धाराओं में विभक्त करके तीन अंकों में रखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। पांच अंकों वाले नाटक की कमीनहीं है। इससे अधिक अंक वाले नाटक बहुत कम हैं। दृश्य परिवर्तन थोड़े थोड़े समय में ही हुआ है। पांच से अधिक अंक और एक अंक में तीन बार से अधिक दृश्य अपेक्षित नहीं हैं क्योंकि नाटक ढाई तीन घंटे के भीतर न समाप्त होने से आज मनुष्य के व्यस्त जीवन में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। मानव मन चंचल होता है, वह विभिन्नता की ओर दौड़ता है अत: एक ही दृश्य बहुत देर तक नहीं चलना चाहिए। सामाजिकों के ऊबने की घड़ी आने के पूर्व ही दृश्य परिवर्तन की व्यवस्था नाटककार के लिए आवश्यक है। तीन अंकों का आख्यान सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होता है किन्तु इससे कम अंकों में भी कथा का विभाजन वस्तु के विस्तार तथा विषय के अनुसार किया जा सकता है।

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क-'छठा बेटा, छठा सं०, १९६१, नीलाभ प्रकाशन,इलाहाबाद पृ०(लेखक की ओर से) ५.

अध्याय - ७

कथानक की विशेषताएं तथा उसका विकास

पाश्चात्य नाट्यशास्त्री के अनुसार कथा वस्तु के मूल गुण छ: हैं[1]:— एकान्विति, पूर्णता,[2] सम्भाव्यता, सहजविकास, कुतूहल और साधारणीकरण। एकान्विति का अर्थ है कि कथानक की संघटना ऐसी हो कि एक अंग को भी इधर उधर करने से सर्वाङ्ग छिन्न भिन्न हो जायें। पूर्णता नामक गुण के कारण जिज्ञासा शान्त हो जाया करती है एवं सम्भाव्यता में सम्भव घटनाओं को ही रखा जाता है जिससे सामाजिकों को कुछ अस्वाभाविकता का अनुभव न होने लगे। कथावस्तु की चौथी विशेषता उसका सहज विकास है। कथानक के विभिन्न अंगों का सहज स्वाभाविक विकास होने की क्रिया को सहज विकास कहते हैं। सहज विकास में वस्तु को घसीटकर बढ़ाने का कोई प्रयोजन नहीं पाया जाता है। कुतूहल उसकी पांचवीं विशेषता है। इसके अन्तर्गत कार्य-कारण की पूर्वापर के संबंध को जोड़ते हुए हमारे समक्ष घटनाएं अचानक ही उपस्थित हो जाती है और यह हमारे लिए कुतूहल का विषय बन जाती हैं। छठवीं विशेषता साधारणीकरण की है। इसमें नाटककार कथानक की सर्वसाधारण रूप रेखा तैय्यार करके उसमें विशिष्ठ व्यक्तियों और उनकी जीवन की घटनाओं का समावेश करता है। ऐसा कथानक सार्वभौम रूप धारण कर लेता है। व्यावहारिक रूप में अरस्तू ने साधारणीकरण को प्रबन्ध

---

१. डॉ० नगेन्द्र : अरस्तु का काव्य शास्त्र`, प्र०सं०, २०१४ सं०, भारतीय भंडार, इलाहाबाद, (अनुवाद अंश) पृ० १६

२. The fable is called the imitation of one entire and perfect action whose parts are so joined and knit together, as nothing in the structure can be changed or taken away, without impairing or troubling the whole of which there is a preportionable magnitude in the members."

— बी०एच०क्लार्क : `दि यूरोपियन थ्योरीज आफ ड्रामा, पृ०१०६

कल्पना का मूल आधार माना है। ट्रैजेडी एवं कामेडी दोनों के लिए न्यूनाधिक मात्र में ये गुण आवश्यक हैं।

संस्कृत नाटकों में भी उपरोक्त पाश्चात्य सभी गुण लगभग पाए जाते हैं, किन्तु एक बात का अभाव फिर भी रह जाता है। संस्कृत नाटकों में एकान्विति पूर्णता, सहजविकास, कुतूहल और साधारणीकरण--ये सभी विशेषताएं प्राप्त होती है परन्तु सम्भाव्यता कहां है? यदि सम्भाव्यता को ध्यान में रख कर नाटकों के कथानक तैय्यार किये जाते तो दुर्वासा के शाप की कल्पना कालिदास के शकुन्तला नाटक में कैसे की जाती। संस्कृत नाटकों की तो प्रमुख विशेषता कथानक द्वारा रस की सृष्टि करना है अत: दुष्यन्त के साथ शाप की कथा न जोड़ने से नायक के चरित्र को दाग लगने ही वाला था कि नाटककार ने उस परिस्थिति को सम्भाल लिया है। कथानक की सम्भाव्यता तो अवश्य ही नष्ट हो गई है किन्तु संस्कृत नाटककार को इसकी चिन्ता कहां? वह तो रस की सृष्टि में व्यस्त है।

कथानक का विन्यास—

संस्कृत एवं पाश्चात्य दोनों नाट्यशास्त्रकारों ने कथानक के विन्यास के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्राचीन भारतीय कथानक सुखान्त होता है। कथानक में एक कार्य होता है, कुछ बाधाएं आती हैं, संघर्ष होता है जिसमें नायक की विजय निश्चित है, तत्पश्चात् कार्य की सिद्धि हो जाती है। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार सब होता जाता है, परिस्थितियों को कोई उल्टा प्रभाव नहीं पड़ता है। नायक का भाग्य भी पलटा नहीं खाता है। उसका कार्य, कार्य सिद्धि तक के क्रिया व्यापार को सुव्यवस्थित एवं क्रमिक रूप में दिखाने के लिए उसे पांच भागों में विभक्त किया गया है जिन्हें सन्धि नाम से अभिहित किया गया है। ये संधियां पांच होती हैं — मुख सन्धि, प्रतिमुखसंधि, गर्भ विमर्श और निर्वहण।[१] प्रत्येक संधि में एक अवस्था

---

१. धनिक धनंजय : 'दशरूपकम्', प्रथम प्रकाश: कारिका २४,१८,१६

और एक अर्थ प्रकृति का होना अनिवार्य समझा जाता है। अर्थप्रकृतियां वस्तु के तत्वों से, अवस्थाएं कार्य व्यापार से तथा संधियां नाटक रचना के विभागों से संबंध रखती हैं। कथावस्तु को प्रधान फल की ओर अग्रसर करने वाले चमत्कारयुक्त अंशों को अर्थप्रकृति कहते हैं। कथा के उद्देश्य की प्राप्ति में किये गये उपाय यही अर्थप्रकृतियों के नाम से जाने जाते हैं। ये पांच होती हैं — बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य।[१] इसी प्रकार फल प्राप्त करने वाले व्यक्ति द्वारा कार्य के आरम्भ से फलप्राप्ति तक जो कार्य किया जाता है उसकी पांच अवस्थाएं कही गई हैं — (१) आरम्भ (२) प्रयत्न (३) प्राप्त्याशा (४) नियताप्ति (५) फलागम।[२]

अर्थप्रकृतियों को कथानक का बाह्य संगठन कह सकते हैं एवं अवस्थाएं आन्तरिक कार्यव्यापार हैं तथा इन दोनों का विकास समान-गति से एवं सम्बद्ध रूप से हो इसलिए दोनों के समानान्तर अंगों को मिलाने के लिए संधियों की योजना की गई है। सर्व प्रथम अर्थ प्रकृतियों पर विचार करें जैसा कि प्राचीन आचार्यों ने भी किया है। बीज —रूपक के आरंभ में स्वल्प रूप में संकेतित वह सूक्ष्म तत्व जो आगे चलकर अनेक रूप में बीज कहलाता है। उदाहरणस्वरूप — 'वेणीसंहार नाटक में द्रौपदी का केश संयमन के लिए भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह बीज रूप में अंकित है। यही विस्तार पाकर अनेक रूपों में पल्लवित हुआ है। बिन्दु- अवान्तर कथा की समाप्ति पर प्रधान कथा के साथ विशृंखलता न आने देने के लिए जिस वस्तु का निर्माण किया जाता है वही बिन्दु कहलाता है। जैसे रत्नावली नाटिका में कामदेव की पूजा की समाप्ति पर एक अवान्तर कथा समाप्त होती है यहां कथा में विशृंखलता आने ही वाली है कि नेपथ्य से मागधों की उक्ति के द्वारा 'महाराज उदयन के चरणों की बाट लोग इसी तरह देख रहे हैं जैसे चन्द्रमा की किरणों की यह सूचना देकर सागरिका रूप में रत्नावली के द्वारा ' क्या यही वह राजा उदयन है जिसके लिए पिता जी ने मुझे दे दिया है ' यह कहलवा कर कथा की शृंखला जोड़ने का कार्य किया है।[३]

पताका- जो प्रासंगिक कथा नाटक में दूर तक चलती रहे वह पताका है जैसे रामायण में सुग्रीव का वृत्तान्त।[४] और जो प्रासंगिक कथा थोड़ी ही दूर चले उसको प्रकरी कहते हैं।[५] जैसे रामायण में श्रवणकुमार का वृत्तान्त । पांचवीं

---

१. धनिक धनंजय-: 'दशरूपकम्, प्रथम प्रकाश: कारिका २४,१८,१६,पृ० १८
२. वही कारिका 1८
३. ४ वही कारिका 13

अर्थप्रकृति कार्य की दशरूपककार ने व्याख्या नहीं दी है किन्तु नाट्यदर्पणकार ने कहा है कि साध्य (प्रधान फल की सिद्धि) में बीज का सहकारी (द्रव्य गुण आदि अचेतन साधन) कार्य कहलाता है।[१] आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की व्याख्या के अनुसार वर्णित विषय के फल का नाम कार्य है जैसे 'रत्नावलीनाटिका' में वत्स और रत्नावली का विवाह है[२] अर्थप्रकृतियों की उपरोक्त व्याख्या संस्कृत के अन्य आचार्यों को भी मान्य है।

फल की इच्छा रखने वाले नायकादि द्वारा किये गए कार्य की पांच अवस्थाएं होती हैं जिनका ऊपर नाम गिनाया जा चुका है। फलप्राप्ति के लिए इच्छा उत्पन्न होकर जहां उत्सुकता उत्पन्न होती है उस उत्सुकता मात्र को 'आरंभ' ~~किया को~~ कहते हैं। जैसा रत्नावली के प्रथम अंक में यौगंधरायण का कथन कि स्वामी की वृद्धि के लिए जो कार्य मैंने प्रारम्भ किया और भाग्य ने भी सहारा दिया इत्यादि।[३] उदयन ऐसे राजा हैं जिनकी सिद्धि सचिव के बल पर होती है। अत: कार्य का आरंभ यौगंधरायण के मुख से कराया गया है। आरम्भ किये गए कार्य की शीघ्र प्राप्ति के लिए उपाय आदि करने को 'प्रयत्न' कहते हैं। जैसे रत्नावली में चित्रांकन द्वारा उदयन से मिलने का प्रयत्न करना।[४] वह स्थिति जब फलप्राप्ति की संभावना उपाय और विघ्न की आशंका दोनों के मध्य झूलती रहती है, फल-प्राप्ति के संबंध में ऐकांतिक निश्चय नहीं हो पाता है वहां 'प्राप्त्याशा' नामक अवस्था होती है।[५] यद्यपि इसमें कार्यसिद्धि के लक्षण दिखाई पड़ते हैं तथापि फल प्राप्ति में विघ्न का भय लगा रहने से अनिश्चय की अवस्था रहती है। 'रत्नावली' के तृतीय अंक में सागरिका का वेशपरिवर्तन कर उदयन के पास अभिसरण करने में कार्य सिद्धि का लक्षण दिखाई पड़ता है पर वासवदत्ता के देख लेने की आशंका बनी

---

१. रामचन्द्र गुणचन्द्र : 'नाट्य दर्पणम्' (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर) द्वि०सं०, १९६२, पृ० ८०

२. आचार्य म०प्र०द्विवेदी — 'नाट्यशास्त्र,' १९२९, चतुर्थबार, पृ० ४४

३. धनिक धनंजय : 'दशरूपकम्', प्रथम प्रकाश, कारिका २०

४. वही कारिका २०

५. वही, कारिकाएं २१

हुई है। इस प्रकार समागम की प्राप्ति अनिश्चित सी है।

नियताप्ति शब्द स्वयं ही अपने अर्थ का स्पष्ट द्योतन करने वाला है। विघ्नों के अभाव में सफलता के निश्चित हो जाने वाली अवस्था को नियताप्ति कहते हैं।[१] रत्नावली तहखाने में बन्द है। विदूषक कहता है सागरिका (रत्नावली) बड़ी मुश्किल से जीवन काटेगी। तुम उसके छुटकारे के लिए क्यों नहीं उपाय सोचते। राजा उत्तर देता है मित्र! इस सम्बन्ध में देवी वासवदत्ता (उदयन की पहली पत्नी) को खुश करने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं दिखाई देता।' देवी प्रसाद ने विघ्न समाप्त होकर फल प्राप्ति का निश्चय सूचित किया गया है। समस्त फल की प्राप्ति फलागम कहलाता है।[२] उदयन को रत्नावली को प्राप्त कर लेना तथा फलस्वरूप चक्रवर्तित्व प्राप्ति नाटिका का फलागम है।

संधियाँ— पांच अर्थप्रकृतियाँ और कार्य की पांचों अवस्थाओं के क्रमश: एक दूसरे से मिलने से पांच संधियों की उत्पत्ति होती है।[३] बीज नामक अर्थ प्रकृति और आरम्भ नामक अवस्था के संयोग से मुखसंधि का निर्माण होता है।[४] मुख सन्धि में नानाप्रकार के रस को उत्पन्न करने वाली बीजोत्पत्ति पाई जाती है। बीजारम्भ के लिए प्रयुक्त होने के कारण इस मुख-सन्धि के बारह अंग हैं। इन अंगों पर विस्तार से विचार करना अनावश्यक जान पड़ता है। अत: उल्लेख मात्र ही ठीक है। प्रतिमुखसन्धि—इसमें मुख संधि में दिखाये गए बीज का कुछ कुछ दिखाई देना और कुछ न दिखाई देना निहित रहता है। यह बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और यत्न नामक अवस्था के योग से पैदा होती है। इसके तेरह अंग होते हैं।[५] इसको और स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि मुख संधि में जो बीज बोया गया था वह

---

१. धनिक धनंजय—दशरूपकम्, प्रथम:प्रकाश कारिकाएं, २१, पृ० २२
२. वही, पृ० २२
३. वही, पृ० २२
४. वही, पृ० २४
५. धनिक धनंजय—:`दशरूपकम्` प्रथम: प्रकाश: कारिका ३०

उचित वातावरण पाकर प्रतिमुख संधि में प्रस्फुटित होने लगता है। रत्नावली नाटिका के प्रथम अंक में वत्सराज और सागरिका के पारस्परिक प्रेम का बीज पड़ चुका था, द्वितीय अंक में सुसंगता और विदूषक द्वारा विदित हो जाने से किंचित लक्ष्य होता हुआ फिर वासवदत्ता द्वारा चित्र को देखकर इस रहस्य को जान लेने से और उसके द्वारा प्रेम व्यापार में बाधा पहुंचने की सम्भावना से अलक्ष्य अवस्था को प्राप्त होता हुआ प्रतिमुख संधि का उदाहरण बनता है।

गर्भ सन्धि--सिद्धान्तत: जो गर्भ सन्धि का जन्म पताका नामक अर्थप्रकृति और प्राप्त्याशा नामक अवस्था के संयोग से होता है किन्तु पताका का होना अनिवार्य नहीं है। वह हो भी सकती है और नहीं भी किन्तु प्राप्त्याशा का होना बहुत आवश्यक है। जब बीज के दिखने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण बार बार किया जाता है तो गर्भ सन्धि होती है। यह भी बारह अंगों वाली होती है।[१] रत्नावली के तीसरे अंक में वत्सराज की फलप्राप्तियों में वासवदत्ता के द्वारा विघ्न होता है किन्तु सागरिका के अभिसरण के उपाय से विदूषक के वचन द्वारा राजा को फलप्राप्ति की आशा होती है। वासवदत्ता उसमें विच्छेद उपस्थित करती है,फिर से प्राप्ति होती है, फिर विच्छेद होता है, फिर विघ्न के निवारण के उपाय तथा फलहेतु का अन्वेषण किया जाता है। इस अन्वेषण की व्यंजना राजा के कथन द्वारा होती है -- 'मित्र अब वासवदत्ता को मनाने के अलावा और कोई नहीं है।

अवमर्श या विमर्श सन्धि --जहां क्रोध, व्यसन या लोभ से फलप्राप्ति के विषय में विचार या पर्यालोचन किया जाय, तथा जहां गर्भ सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो वहां विमर्श या अवमर्श सन्धि कहलाती है। उदाहरण-स्वरूप वेणीसंहार में युधिष्ठिर--(सोचकर दीर्घ श्वास लेते हुए) भीष्म रूप समुद्र पार कर गए, द्रोण रूपी अग्नि भी बुझ गई, कर्ण रूपी विषैला सर्प भी शान्त हो चुका, शल्य भी स्वर्गगामी हुए। अत: विजय लाभ अत्यन्त सन्निकट है फिर भी साहसी भीमसेन की प्रतिज्ञा ने हम लोगों के जीवन को संकट में डाल दिया है। इस प्रकार जो विचार करना है, विमर्श सन्धि के अन्तरगत आता है। इसके भी

---

१. धनिक धनंजय : दशरूपकम्, प्रथम: प्रकाश: कारिका, पृ० ३६

तेरह अंग हैं।[1] निर्वहण सन्धि--बीज से संबंधित मुख आदि अर्थ जो अब तक यत्र-तत्र बिखरे हुए थे उनके प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए समाहार हो जाने को निर्वहण संधि कहते हैं।[2] यहाँ आकर बिखरे हुए तत्त्व एक अर्थ में समेट लिए गए। वेणी-संहार में कंचुकी कहता है --महाराज की विजय हो, सुयोधन के खून से लाल शरीर वाले ये कुमार भीमसेन हैं जो पहिचान में नहीं आ रहे हैं। यहाँ लक्ष्य की पूर्ति हो गई। बिखरे हुए मुखसंधि आदि बीज एकत्रित हो गए।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटक के कथानक के विन्यास की ओर संस्कृत आचार्यों ने विशेष रूप से ध्यान दिया है। साथ ही इस वस्तु विन्यास से यह भी स्पष्ट है कि कथानक में संघर्ष और बाधाएं भी आती हैं किन्तु पाश्चात्य नाटक के संघर्ष से इसमें मूलत: एक बहुत बड़ा अन्तर है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में संघर्ष के बिना कोई कथानक नाटकीय कथा का रूप नहीं धारण कर सकता है। भारतीय नाटकों में संघर्ष बहुत कम समय तक पाया जाता है। प्रयत्न नामक अवस्था से आरंभ होकर प्राप्त्याशा तक संघर्ष कुछ अनिश्चित स्थिति में रहता है किन्तु इसके उपरान्त तो संघर्ष के स्वरूप में अन्तर आ जाता है। भारतीय नाटकों में संघर्ष में तीव्रता कुछ ही क्षणों के लिए आती है जबकि पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार संघर्ष कथावस्तु का प्राण माना गया है। संघर्ष से ही कथा का आरम्भ होता है तथा कथा के अन्त के साथ ही संघर्ष का भी अन्त होता है। श्री हरमन आइल्ड इस महत्व को प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं कि " सम्पूर्ण कलाओं का अपना सिद्धान्त होता है। संभवत: सबमें अत्यधिक स्थिर बार बार दोहराया गया वाक्य अथवा वचन यही है कि नाटक, सभी नाटक, संघर्ष है।"[3]

---

१. क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थ: सो वमर्श इति संग्रह: ।।४३।।

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथा यथम् ।।४८।।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

--धनिक धनंजय : `दशरूपकम् ,प्रथम:प्रकाश:, कारिका ४३

२. वही , पृ० ४८

३. All arts have their dogmas . Perhaps the most persistently repeated dictum of all is that drama , all drama, is conflict.
--हरमन आइल्ड : `दि आर्ट आफ द प्ले`, १६३८, पृ० ३४

पाश्चात्य नाटकों में नाटक और प्रतिनायक के माध्यम से संघर्ष की सृष्टि करके आरम्भ से अन्त तक अनिश्चित स्थिति पैदा की जाती है। इस संघर्ष में कौतूहल और विशेष रूप से तनाव की स्थिति का होना अत्यावश्यक है। इस संबंध में रोनाल्ड पीकाक महोदय का कथन है कि "सामान्यतया यह (विचार) पकड़ा गया है कि संघर्ष नाटक की उत्पत्ति करता है है किन्तु कुतूहल और विशेष रूप से ताव नाटकीयता के वास्तविक लक्षण हैं। वस्तुत: ये दोनों संघर्ष से ही उत्पन्न होते हैं परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता है। द्वन्द्व कुतूहल और तनाव के कारण ही नाटकीय होता है। एक क्रिकेट के खेल में द्वन्द्व हो सकता है किन्तु तनाव और कुतूहल नहीं। वह स्थिति केवल उसी विशेष क्षण में प्रकट होती है जब खेल बराबर पर चल रहा हो। एक आध गेंद से ही खेल का निर्णय होने वाला हो अत: केवल वही नाटकीय स्थिति होगी। दूसरी ओर एक रेलगाड़ी एक टूटे हुए पुल की ओर अपने पूरे वेग से चली आ रही है, इसमें द्वन्द्व नहीं है किन्तु तनाव की अपेक्षा है।[१] भारतीय नाटकों में कथानक में विकास लाने के लिए संघर्ष को आधार बनाया जाता है किन्तु पाश्चात्य कथानक के संघर्ष का आधार तनाव एवं कौतूहलपूर्ण द्वन्द्व है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों ने संसंघर्ष को नाटक रचना का महत्वपूर्ण तत्त्व माना है। यह कथा को गति प्रदान करता है। संघर्ष के द्वारा कुतूहल और

---

१. It is commonly held that conflict makes drama but surprise and particularly tension , are the truer symptoms . They both arise from conflict ,ofcourse , but not always and conflict is only dramatic when the-y do . A crecket match involves a conflict ,yet with most variable tension , it is only a dramatic conflict at particular moments when the pace increases and puts the game in the balance . On theother hand what is more dramatic than a train moving at speed towards a broken viaduct ? Yet there is only tense expectation here , no conflict .

— रोनाल्ड पीकाक: 'दि आर्ट आव ड्रामा' ,प्र०सं०, पृ० १६०

तनाव उत्पन्न करके नाटक प्रभावोत्पादक बनाया जाता है अन्यथा कथानक निर्जीव सा हो जाता है। निकल महोदय ने भी संघर्ष को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उनका कथन है कि—"अन्तत: प्रत्येक नाटक संघर्ष से निर्मित किया जाता है।[१] एफ०एल० लुकस ने अनिश्चित तथा शोकपूर्ण व्यंग (ट्रैजिक आयरनी) को दुखान्त की के लिए आवश्यक बताया है तथा आश्चर्य एवं कुतूहल को प्रहसन के लिए छोड़ देने की राय दी है।[२] संघर्ष के मूल भेद के कारण प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य के कथा विन्यास में भी अन्तर आ जाना स्वाभाविक ही है। भारतीय नाटककार कथानक में संघर्ष की अवतारणा नायक की विशेषता प्रदर्शित करने के लिए करता है। नायक कभी विजित तो होता नहीं, विजेता ही रहता है। उस विजय की प्राप्ति के लिए छोटे बड़े किसी संघर्ष की सृष्टि कर ली जाती है। पाश्चात्य नाटक इस सिद्धान्त के पूर्णत: प्रतिकूल हैं। प्राचीन भारतीय नाटकों में कार्य की गति की विवेचना पीछे की जा चुकी है। उन पाँचों कार्यावस्थाओं, प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम के रेखाचित्र के सहारे इस प्रकार समझा जा सकता है :—

आरम्भ में कथा का बीज निहित रहता है तथा कार्य के लिए उत्सुकता मात्र होती है। सभी प्रमुख पात्रों और घटनाओं का समावेश आरम्भ में कर दिया जाता है। वस्तुत: भारतीय नाटकों में प्रयत्न नामक अवस्था में ही संघर्ष की पूरी स्थिति होती है इसी से प्रयत्न और प्राप्त्याशा के बीच वक्रता सबसे अधिक है। तीसरी अवस्था तक पहुँचकर संघर्ष की तीव्रता कम होने लगती है। चौथी अवस्था नियताप्ति में तो ऐकान्तिक सफलता का निश्चय हो जाता है और अन्त में फलागम की स्थिति आ जाती है। सिद्धान्तत: सन्धियों का जैसा निरूपण किया गया

---

१. All,drama ultimately arises out of conflict

— ए० निकल : "थ्योरी आव ड्रामा, १९३१ई०, पृ० ६२

२. एफ०एल०ल्यूकस : ट्रैजेडी, १९५०, पृ० १०६

है उन्हें रेखाचित्रों के सहारे इस प्रकार दिखा सकते हैं :—
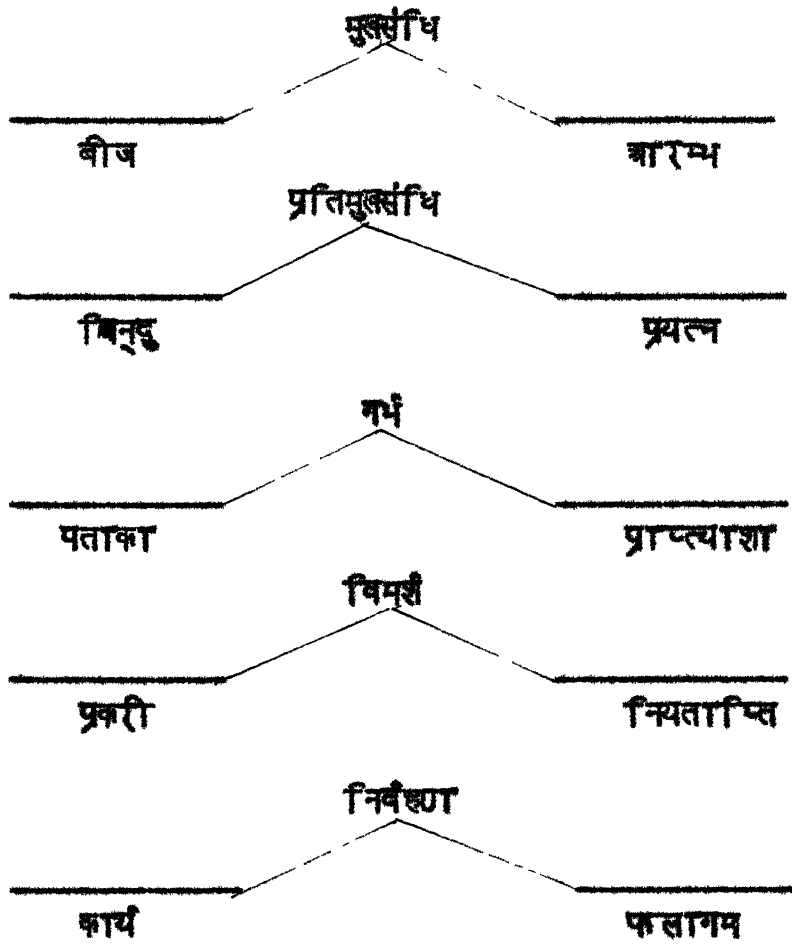
व्यावहारिक रूप में इन संधियों का प्रयोग ठीक इसी रूप में नाटकों में न हुआ है, न होना आवश्यक है। विमर्श सन्धि के लिए तो स्वयं आचार्यों ने ही स्वीकार किया है जैसा कि पीछे कहा जा चुका है किन्तु प्रकरी और नियताप्ति का भी संयोग,या संधिस्थल बहुत कम ही दिखाई देता है। जितना सूक्ष्म विवेचन संधियों का भेदों, उपभेदों के साथ हुआ है इनको नाटक की कथावस्तु में संयोजित कर पाना बहुत दुष्कर कार्य है। सब मिलाकर पांचों संधियों के ६४ अंग होते हैं जिनका विस्तृत विवरण भरतादि नाट्याचार्यों के ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्रों में कथानक के दो भाग किये गए हैं —पाश्चात्य संवृति और (२) विवृति या निर्गति संवृति का विस्तार कार्य व्यापार के आरम्भ से लेकर उस स्थल तक होता है जहां कथानक के उत्कर्ष या अपकर्ष की ओर मोड़ होती है। और विवृति का विस्तार इस परिवर्तन से लेकर कथा के अन्त तक होता

है।[१] कथानक के पूर्वार्द्ध में नाटककार घटनाओं को उलझा कर कुतूहल की वृद्धि करता है। यही संवृति वाला भाग है। विवृति का अर्थ है खोलना या सुलझाना । इसमें कुतूहल का परितोष होता है। इसी विभाजन को आधार बनाकर पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में वस्तु की पांच अवस्थाओं का विकास हुआ है। वे हैं — (१) आरम्भिक घटना (२) कार्य विकास (३) चरम घटना (४) उतार या निगति (५) अन्तिम फल। पहले ही इसका विवेचन हो चुका है कि संघर्ष कथानक का अनिवार्य तत्त्व है। यह कुतूहल की सृष्टि करता है अत: इन पांचों अवस्थाओं में संघर्ष का ही विकास हुआ है। इसमें भारतीय अवस्थाओं से बिल्कुल ही भिन्न क्रम में तनाव बढ़ता ही जाता है, द्वन्द्व में कभी नायक सफल होता ह दिखाई देता है तो कभी प्रतिनायक। कथावस्तु के आरम्भ में जो संघर्ष या विरोध उत्पन्न होता है दूसरी में वही संघर्ष बढ़ जाता है। तीसरी अवस्था में संघर्ष के विकास की चरम सीमा आ जाती है, जहां से किसी एक पक्ष की विजय का संकेत मिलने लगता है। चौथी में विजयीदल की जीत निश्चित हो जाती है और पांचवीं अवस्था में झगड़े का अन्त हो जाता है। शेक्सपियर के युग में तथा उसके बाद भी कुछ काल तक इसी पद्धति की प्रधानता रही किन्तु तृतीय युग में इब्सन की यथार्थवादी शैली के नाटकों में निरूपण (Exposition) नहीं पाया जाता है। नाटकों की कथावस्तु आरम्भ से ही चरमसीमा की ओर प्रवृत्त दिखाई पड़ती है। वस्तु विन्यास की पांचों अवस्थाओं को रेखाचित्र के द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं :—
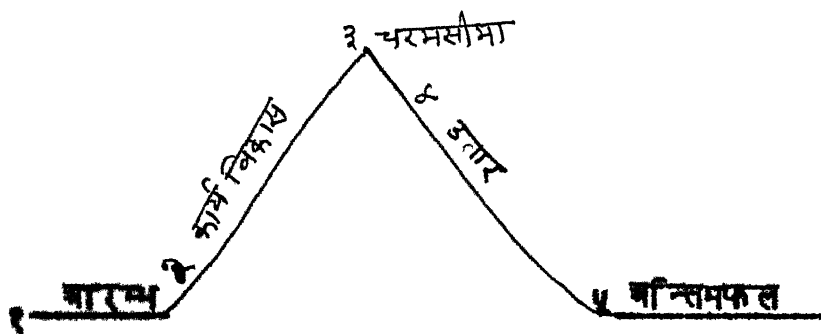
पहले में संघर्षों का आरम्भ हुआ दूसरे में संघर्षका विकास दिखाया गया है और तीसरे में संघर्ष अपनी चरमसीमा पर पहुंच जाता है फिर शनै:शनै: संघर्ष उतार पर आने लगता है और अन्त में कोई एक पक्ष विजयी हो जाता है।

---

१. डॉ० नगेन्द्र: 'अरस्तू का काव्यशास्त्र,' प्रथम संस्करण, सं० २०१५, भार०भं०, पृ०२६

यदि दु:खान्तकी है तो नायक की मृत्यु दिखाई जाती है और सुखान्तकी है तो उसके विपरीत फल होता है। तथा यदि ट्रैजी कामेडी हुई तो गम्भीर कथा का अन्त सुखपूर्ण होता है। कामेडी में आकस्मिक विपत्ति की उपेक्षा करने या दुर्दैव से बचाने के लिए सुख पूर्ण अन्त में लय होता है।[1] अरस्तू ने कहा है कि वस्तु संगठन की विकृति ट्रैजेडी के गम्भीर प्रभाव के लिए जितनी घातक हो सकती है उतनी कामेडी के लिए नहीं जिसका आधार भी विकृतिमूलक होता है।[2] अरस्तू द्वारा अनुमोदित कथानक के दोनों चमत्कारक अंग स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान तथा उनसे संबद्ध विवृति और संवृति की उपादेयता भी कामेडी के लिए स्वत: सिद्ध है। भ्रम का जितना उपयोग ट्रैजेडी के लिए अभीष्ट है उतना ही कदाचित कामेडी के लिए भी माना जा सकता है, क्योंकि गम्भीर भ्रान्ति जितनी भयंकर और करुणोत्पादक होती है, साधारण भ्रान्ति उतनी ही हास्यमय हो सकती है।[3]

भारतीय दृष्टि से रूपक दस प्रकार के हैं और इन दसों में कथा के विषय तथा विन्यास में भी अन्तर पड़ता है। दशरूपकों की तालिका देकर उनके विभिन्न विषय एवं विन्यास को स्पष्ट किया गया है —

१. नाटक—पंचसंधि युक्त पौराणिक या ऐतिहासिक वस्तु, ५ से १० अंक।
२. प्रकरण—पंचसंधि युक्त कल्पित वस्तु, ५ से १० अंक तक।
३. भाण— धूर्तचरित विषयक कल्पित वस्तु, एक अंक
४. प्रहसन—कल्पित वस्तु, एक अंक
५. डिम— पौराणिक वस्तु, चार अंक, विमर्श रहित चार संधियों में विभक्त वस्तु।
६. व्यायोग—प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु। गर्भ तथा विमर्श रहित तीन संधियां एक अंक।
७. समवकार—देव-दैत्यों से सम्बद्ध प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, विमर्श सन्धि का अभाव और शेष चार सन्धियों की स्थिति, ३ अंक।
८. वीथी—कल्पित वस्तु, एक अंक
९. अंक— प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु, एक अंक

"The distinction commonly made was that the happy ending to the serious play consisted simply of the avoidance of impending disaster, whereas in comedy no such disaster is ever really threatened.

१. एलनिकल : दि थ्योरी आव ड्रामा, १६३१ ई०, पृ० २३१
२. डॉ० नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, प्रथम संस्करण, संवत् २०१४, पृ०१२५-२६
३. वही, पृ० १२६

१०. ईहामृग—मिश्रित कथावस्तु, चार अंक, गर्भ व विमर्श से रहित तीन संधियाँ।

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र ने कथानक के निरूपण वाले भाग की विशेष रूप से व्याख्या की है क्योंकि प्रारम्भिक दृश्य या विवरण स्पष्ट होने पर सामाजिक नाटक का पूरा पूरा आनन्द ले सकेंगे। एफ०एल० ल्यूकस महोदय की धारणा है कि "निरूपण समानरूप से उच्च ध्वनि युक्त हो सकता है और शान्त भी, परन्तु शान्त निरूपण अधिक शक्तिशाली होता है। पांच मील की दौड़ से आरम्भ करना उतावलापन हो जाता है और कहीं दर्शक निर्दिष्ट समय पर उपस्थित न हो सका तो प्रारम्भ की बातें अश्राव्य ही रह सकती हैं।"[1] इसी में आगे उन्होंने पुनः कहा है कि "प्रारम्भ स्वयं अभिनयात्मक होना चाहिए अन्यथा यह मस्तिष्क चाटने वाला और अस्वाभाविक गांठ प्रतीत होने लगेगा।"[2]

नाटक की वस्तु की रचना के सम्बन्ध में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने नाट्य-दर्पण में कहा है कि नाटक की वस्तुओं की रचना गोपुच्छ के केशों के समान करें और जो उदात्त तथा मनोरंजक भाव हों उनको आगे आगे (मुख्य रूप से) प्रस्तुत करें।[3] गोपुच्छ के बालों में कुछ थोड़ी ही दूर तक जाते हैं कुछ बीच तक पहुंचते हैं और कुछ अंततक फैले रहते हैं। इसी प्रकार वस्तुओं की रचना करने का उपदेश दिया गया है।

"Beginnings can ofcourse be loud as well as quiet. But the quieter type tends to prevail. It is rash to sprint at the start of the five miles race. And the unpunctuality of the public may make the first speeches in-audible."

१.—एफ०एल० ल्यूकस : "ट्रैजेडी", १९५७ ई०, पृ०१००

." The exposition must itself be dramatic or it will both be a bore or seem exerescence."

2. —एफ०एल० ल्यूकस : "ट्रैजेडी", १९५७, पृ० १०४

३. रामचन्द्र गुणचन्द्र विरचित 'नाट्य दर्पणम्' सूत्र १४, हिन्दी व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर, प्रथम संस्करण, १९६१

अरस्तु ने कथानक के आयाम के सम्बन्ध में कहा है कि " कथानक में एक निश्चित विस्तार आवश्यक है — जो सरलता से स्मृति में धारण किया जा सके ।"[१] नाटक का कथानक अभिनय की वस्तु है । पाठ्य वस्तु चाहे जितना अधिक विस्तृत हो, उसमें पाठक यदि विस्तार के कारण कुछ विस्मरण सा कर रहा है तो तुरन्त पीछे पन्ने पलटकर विस्मृत बात को स्मरण कर सकता है । किन्तु दृश्य काव्य में जो दृश्य समाप्त हो चुका है वह आने को नहीं अत: अरस्तु का मत सर्वमान्य होना चाहिए । कथा का प्रारम्भ अच्छा हो जाता है तो नाटक को अच्छी सफलता प्राप्त ही समझी जाती है । श्री बैकर ने इसके लिए साधन बताये हैं —

१. स्पष्टता है । स्पष्टता से बैकर महाशय का तात्पर्य सम्भवत: यह है कि प्रमुख पात्रों का स्पष्ट रूप से परिचय एवं उनका आपस का संबंध किस समय की कथा है यदि दर्शकों बता दिया जाय तभी प्रारम्भ अथवा `एक्सपोज़ीशन` सफल समझा जायेगा क्योंकि प्रारम्भ स्पष्ट रहने से आगे की कथा समझने में दर्शकों को उलझन नहीं होगी और वे आनन्द का अनुभव करेंगे ।

२. प्रारम्भ ऐसा हो कि स्वाभाविक लगे । जो घटनाएं प्रारम्भ में रखी जायं उनके लिए पूर्ण प्रमाण हो । अर्थात् कार्य इस प्रकार किया जाये जिससे स्वाभाविकता को ठेस न लगे ।

३. सबसे महत्वपूर्ण साधन स्वयं में इतना रुचिकर होना चाहिए कि आवश्यक घटनाओं को श्रोता या दर्शक के मस्तिष्क में धीरे धीरे घुसाया जाय । तात्पर्य है कि प्रारम्भ में इतनी शीघ्रता भी नहीं होनी चाहिए कि दर्शक को घुटन होने लगे ।

४. दूसरे ही क्षण श्री बैकर ने यह भी कहा है कि भूमिका स्वरूप प्रारम्भ को शीघ्रतापूर्वक देना चाहिए । ऐसा प्रतीत होता है कि प्रमुख घटनाओं के लिए तो क्रम से चलने को कहा है और सामान्य बातें जो भूमिका स्वरूप हैं, उनकी प्रधानता न होते हुए भी अनिवार्य हैं उन्हें दर्शकों को बताने में शीघ्रता करनी चाहिए । प्रार-

---

In the fa-ble a certain length is requisite but that must be such as to present a whole easily comprehended by the memory

१. अरस्तु :`पोएटिक्स`, १९५३ , पृ० ७८

म्भिक शीघ्रता की बढ़ती हुई रुचि का कारण पांच के स्थान पर तीन या चार अंकों के नाटक लिखने की प्रवृत्ति के कारण है।

कथा का आरम्भ एवं अन्त मानव जीवन के आरम्भ और अंत के समान ही महत्वपूर्ण माना गया है। अतएव इन दोनों पर विशेष बल देना अनुचित नहीं कहा जायेगा। चरित्र, स्थिति और कथोपकथन में भी विरोध विशेष बल प्रदर्शित करने का महत्वपूर्ण साधन है। प्रहसन में विशेष रूप से बेदाग नायक, दोहरे रंग में रंगा खुराफ़ाती खल नायक, और निर्दोष नायिका असीमित नाटकीय स्थितियां पैदा करती हैं। श्री बेकर ने कहा है कि विरोधी स्थितियों से सबसे अधिक नाटकीय व्यंग्य की उद्भावना होती है।[१] विरोध के द्वारा विशेष बल जब नाटकीय व्यंग्य के रूप में फलीभूत होता है तो नाटकीय संशय पैदा होता है।[२] जब दर्शक हंसी या रुदन से थक से रहे हों, उस समय विरोधी संवेगात्मक महत्वयुक्त दृश्य बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है।

नाटक में रुचि बनाये रखने के लिए एक अंक से दूसरे अंक, एक दृश्य से दूसरे दृश्य श्रोता या दर्शक को ले जाना उचित होता है। पर्दा उठा और आकर्षण का आरम्भ हुआ। अंकों के मध्य दर्शक पर्दा पुनः उठाये जाने के लिए उत्सुक रहता है इसे उत्तम गति कहते हैं। बेकर महोदय[३] ने गति को भी तीसरा महत्वपूर्ण गुण स्वीकार किया है। उत्तम गति स्पष्टता, उचित बल-- अनिश्चय अर्थात् `सस्पैन्स` पर निर्भर करता है। क्रमिक गति कुतूहल की सृष्टि में बहुत कार्य करता है। जब एक अंक से दूसरे अंक में रुचि वृद्धि होती जाती है और चरमसीमा अन्तिम यवनिका पर अथवा बहुत थोड़ा पहले पहुंचती है, तो कथा में कुतूहल की उचित सृष्टि का समावेश कहा जायेगा।

It is a sense of the value of contrasting situatio which produces the best dramatic irony .

१. जी०पी० बेकर : `ड्रैमेटिक टैकनीक`, १९५०, पृ० २०३

२. उपर्युक्त पुस्तक से, पृ० २०३

३. जी०पी० बेकर : `ड्रैमेटिक टैकनीक`, १९५०, पृ० २०७

चरमसीमा कुतूहल का अखण्ड भाग है । उस दृश्य, अंक, घटना का वह क्षण चरम सीमा का होता है जहाँ तीव्रतम कुतूहल प्राप्त होता है । यह वह स्थल है जहाँ दर्शक कार्य व्यापार में, कथोपकथन में अथवा मूकाभिनय में या विचारों में प्रबलतम संवेग का अनुभव करते हों । व्यंग्य चरमसीमा पर पहुँचने का प्रभावशाली साधन है । श्री बेकर ने कहा है कि "यदि चरमसीमा की प्रत्याशा दर्शकों के लिए हानिप्रद है, तो पुनरुक्ति इसकी हत्या कर सकता है ।"[१] अर्थात् कुतूहल की सृष्टि का प्रश्न ही समाप्त हो जायेगा ।

कथावस्तु में स्पष्टता, विशेष बल और परिवर्तन की व्यवस्था —

नाटक का आरम्भिक भाग कथानक के निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण होता है क्योंकि दर्शकों में शीघ्रातिशीघ्र रुचि की उत्पत्ति करना सर्वप्रथम अनिवार्य बन जाता है । रुचि जागृत करने के लिए सभी प्रमुख पात्रों का परिचय तथा उनका आपस में संबंध प्रारम्भिक भाग में देना नाटककार के लिए अनिवार्य विषय बन जाता है । श्री बेकर ने इसके लिए साधन बताये हैं कि " न तो प्रबल कथोपकथन , न तो उत्तेजना पूर्ण परिस्थिति ही उत्तम फल देती है । स्पष्टता का प्रभाव होता है । जिन व्यक्तियों के द्वारा नाटक का प्रारम्भ होता है वे कौन हैं तथा उनका आपस का संबंध क्या है, यह दर्शक समूह नहीं जानेगा तो किसी भी सीमा तक प्रयुक्त प्रबल कथोपकथन एवं उत्तेजित स्थिति स्थायी रुचि पैदा नहीं कर सकती ।"[२]

इसकी बात बेकर महोदय ने स्पष्टता के लिए बताई है कि वस्तुत: दृश्यों

---

१. जी०पी०बेकर: "ड्रैमेटिक टैक्नीक", १९४७, पृ० २९७

२. "Neither striking dialogoue nor stirring situation is the prime consequence . Clearness is . When an audience does not understand who the people are with whom the play opens and their relations to one another no amount of striking dialogoue or stirring situation will create lasting interest ."

२. जी०पी० बेकर :"ड्रैमेटिक टैकनीक" ,१९४७ ,पृ० १५४

और वेशभूषा के द्वारा भी कथा के प्रारम्भ में सरलता होती है। इससे पात्र की राष्ट्रीयता अथवा किस प्रदेश का निवासी है यह स्पष्ट हो जाता है।[१] दो अंकों के बीच के समय का व्यवधान भी स्पष्टतया बताना चाहिए यदि कथा के विकास में महत्वरखता हो।[२] उपरोक्त विद्वान ने यह राय दी है कि अधिक कठिन कार्य पात्रों का आपस में संबंध दिखाना है। इसके लिए सामान्यतया भूतकाल के इतिहास की व्याख्या की आवश्यकता है। यदि नाटक को पूर्ण संवेगात्मक प्रभाव से युक्त बनाना है तो यह इतिहास स्पष्ट रूप में समझा जाना चाहिए।[३] किन्तु यह विचार केवल ऐतिहासिक नाटकों के लिए ही हो सकते हैं। आजकल कोरस तथा स्वगत ~~नाटकों~~ कथन, मूकाभिनय आदि के द्वारा प्रारम्भ करने की प्रथा का तो पूर्णत: बहिष्कार कर दिया गया है।

कथा प्रारम्भ का एक अन्य साधन भी है कि एक प्रबल जिज्ञासु विदेश से लौटता है और उस जिज्ञासा की तृप्ति में एक के बाद दूसरी बातें तथा लोगों का आपस का सम्बन्ध आदि पता चलता है।[४] बहुत दिनों पश्चात् विदेश से लौटने पर उसका जिज्ञासु होना, अपनी बीती बातों को बताना, अपने परिवार की बातों को जानने की तीव्र इच्छा स्वाभाविक ही है। इस प्रकार नाटक के आरम्भ में दर्शकों का पात्रों से परिचय भी हुआ और कथा का आरम्भ भी हुआ।

अभी हाल में टेलीफोन, स्टेनोग्राफर और उससे भी अधिक निकट भूतकाल में 'डिक्टाफोन' परेशान नाटककार के लिए साफ सफल प्रयोग सिद्ध हुआ है।[५]

प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों ने कथावस्तु के प्राधान्याप्राधान्य की

---

१. जी०पी०बेकर : 'ड्रैमेटिक टेक्नीक', पृ० १६१
२. ,, पृ० १६३
३. ,, पृ० १६६
४. पृ० १६८
५. पृ० १७१

दृष्टि से दो भेद किये हैं — १. आधिकारिक तथा अंगरूप कथावस्तु को प्रासंगिक कहते हैं। जैसे रामायण में राम-सीता की कथा आधिकारिक है तथा सुग्रीव-विभीषण आदि की कथा प्रासंगिक है। प्रासंगिक के पुन: दो भेद किये गए हैं — पताका और प्रकरी।[१] प्रासंगिक के इन दोनों भेदों की व्याख्या अर्थप्रकृतियों अर्थात् कथानक के विन्यास वाले अंश में की गई है। पताका के साथ ही पताका स्थानक की भी व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि जहाँ प्रस्तुत भावी वस्तु की समान वृत्त या समान विशेषण के द्वारा अन्योक्तिमय सूचना हो उसे पताका स्थानक कहते हैं।[२]

पाश्चात्य दृष्टि से कथानक के प्रकार—

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में भी कथानक दो प्रकार के माने गए हैं —सरल और जटिल क्योंकि उनके अनुकार्य—वास्तविक जीवन के व्यापारों में भी यही भेद है। सरल वह है जिसमें स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य परिवर्तन हो जाता है तथा कार्य व्यापार एक और अविच्छिन्न होता है। जटिल कथानक में भाग्य परिवर्तन स्थिति विपर्यय या अभिज्ञान अथवा दोनों के द्वारा होता है।[३] जटिल कथानक के दो प्रमुख अंग हुए —स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान । अरस्तू ने इनको बहुत महत्व दिया है। स्थिति विपर्यय सर्वथा अप्रत्याशित और

---

१. धनिक धनंजय : 'दशरूपकम्', प्रथम:प्रकाश:, कारिका ११-१२

२. वही कारिका १३-१४

" Fables are of two sorts simple and complicated; for so also are the actions themselves of which they are imitations . An action , I call simple , when its catastrophe is produced without either revolution or discovery ; complicates when with one or both.

३. अरस्तू : पोएटिक्स, १९५३, पृ० २२

अनिश्चित होता है। इडिपस की कथा में दूत द्वारा यही होता है -स्थिति एकदम उलट जाती है, दूत चाहता है इडिपस का मन: परितोष करना किन्तु परिणाम उसकी इच्छा के विरुद्ध - सर्वथा प्रतिकूल- होता है। यही जीवन की विषमता है। स्थिति विपर्यय में वैषम्य का अस्तित्व अनिवार्य है अनजाने स्थिति उलट जाने को अरस्तू ने बहुत महत्वपूर्ण माना है।[१] अभिज्ञान शाकुन्तल में दुर्वासा शाप, मुद्रिका का खो जाना आदि इसी प्रकार के प्रसंग हैं। शाप की कथा तो अवश्य असंभाव्य है किन्तु मुद्रिका लोप होना स्थिति की विषमता के लिए सुंदर प्रसंग है। अभिज्ञान में रहस्य के उद्घाटन से स्थिति में परिवर्तन होता है कथानक एक मोड़ लेता है जो अनुकूल अथवा प्रतिकूल सुखद अथवा दु:खद कैसा भी हो सकता है। अभिज्ञान के अनेक रूप हैं - (१) स्थिति-विपर्यय से संयुक्त अभिज्ञान विषमता के साथ घटित होता है अत: इसमें दुहरा चमत्कार और कुतूहल होता है। (२) चिह्नों द्वारा अभिज्ञान को सबसे कम कलात्मक अरस्तू ने माना है। दुष्यंत द्वारा भरत के बाहु में बांधा रक्षा यंत्र का स्पर्श इसके अन्तर्गत आयेगा। (३) आयोजित अभिज्ञान में कवि मनमाने ढंग से अभिज्ञान संपन्न कराता है। (४) स्मृति जन्य अभिज्ञान में वस्तु विशेष को देखकर रहस्योद्घाटन होता है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् का अभिज्ञान इसी कोटि का है। दुष्यंत को मुद्रिका के दर्शन से शकुन्तला का स्मरण होता है और कथा की गति मोड़ ले लेती है। (५) वितर्क द्वारा अभिज्ञान में होता है पात्रों के तर्क द्वारा अभिज्ञान होता है। (६) मिश्र अभिज्ञान के अन्तर्गत कोई एक चरित्र कुछ गलत निष्कर्ष निकाल लेता है जैसे क ने कहा अन्य कोई धनुष चढ़ा नहीं सकता है। ख ने सोचा कि क धनुष को पहचान लेगा जिसे उसने वास्तव में देखा नहीं था और इस आधार पर अभिज्ञान कराना कि क धनुष को पहचान लेगा दुष्ट तर्क है। (७) सर्वश्रेष्ठ अभिज्ञान वही स्वाभाविक अभिज्ञान है जो घटनाओं

---

१. डॉ० नगेन्द्र :`अरस्तू का काव्यशास्त्र`, प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०, पृष्ठ ७६

२. अभिज्ञान सम्बन्धित बातें -डा० नगेन्द्र की पुस्तक से -
डॉ० नगेन्द्र-:`अरस्तू का काव्यशास्त्र`, प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०पृ०७७-७८

में से ही उद्भूत होता है जहां आश्चर्यजनक रहस्योद्घाटन स्वाभाविक साधनों से ही होता है।[१]

पाश्चात्य एलिजाबेथ कालीन नाटकों में दोहरा कथानक प्रयोग किया गया है। शेक्सपियर के 'किंगलियर' में ग्लोस्टर और उसके दो पुत्रों की दूसरी कथा की योजना है। शेक्सपियर के सभी नाटकों में उपकथाएं चलती हैं। लोगों का विचार है कि कुतूहल का स्थायीत्व बिना उपकथाओं के बहुत कठिन है। एलिजाबेथकालीन युग में ऐसे नाटक बहुत प्रचलित थे। किन्तु आधुनिक नाटक केवल एक कथानक लेकर प्रसिद्ध हुए हैं। वे रंगमंच के लिए तो सरल हैं ही लिखने में भी सरल हैं। आपस में सम्बद्ध कई कथानक जैसे शेक्सपियर के नाटकों में प्राप्त होते हैं, कुतूहल की सृष्टि में तथा उस कुतूहल के टिकाऊपन में सहायक होते हैं किन्तु यह भी भ्रमपूर्ण है कि अकेला कथानक असफल है।

कथानक का आधार--

भारतीय नाट्यशास्त्र में इतिवृत्त को आधार की दृष्टि से तीन प्रकार का माना गया है --प्रख्यात, कल्पित एवं मिश्र। प्रख्यात कथानक पुराण इतिहास आदि से ग्रहण किया जाता है। इसकी वास्तविकता को नष्ट न होने देने का प्रयत्न नाटककार के लिए अपेक्षित है। परिवर्तन केवल उसी परिस्थिति में किया जाता है जब प्रमुख पात्र के चरित्र कलंक की संभावना हो और रसास्वादन में बाधक होने दे। कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कथा की सृष्टि करके दुष्यन्त के कामुक चरित्र की कल्पना पर रक्षा कर ली है जिससे नायक का धीरोदात्तत्व अक्षुण्ण बना है। (२) उत्पाद्य कथानक स्वयं कवि की कल्पना पर आधारित रहता है। इसके निर्माण में कवि की प्रतिभा पूर्णतः कार्य करती है। (३) प्रख्यात तथा उत्पाद्य दोनों के मिश्रण को मिश्र कहते हैं।[२] तात्पर्य यह है कि

---

१. अभिज्ञान संबंधित बातें डॉ० नगेन्द्र की पुस्तक से --
डॉ० नगेन्द्र -'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्रथम संस्करण, २०१४वि०, पृ०७७-७८
२. धनिक धनंजय :'दशरूपकम्', कारिका १५

इसका कुछ अंश इतिहास आदि प्रख्यात पृष्ठभूमि पर और अधिक अंश कल्पना का आधार लेकर निर्माण किया जाता है। इसके पूर्व चर्चा की जा चुकी है कि वस्तु के आधिकारिक पताका और प्रकरी तीन भेद होते हैं। ये तीनों भी प्रख्यात उत्पाद्य और मिश्र इन भेदों के कारण तीन तीन प्रकार के होते हैं। साथ ही इतिवृत्त दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य होता है।[१]

इसी के समरूप पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में कथामूलके तीन आधार माने गए हैं — १. दन्त कथामूलक , २. कल्पनामूलक, ३. इतिहासमूलक। "दन्तकथामूलक इसलिए आधार बनाया गया कि जो सम्भव है वही विश्वसनीय भी है और जो हुआ नहीं उसकी सम्भाव्यता में हम एकदम विश्वास नहीं कर पाते हैं। कल्पनामूलक में जैसे तैसे परम्परागत दन्तकथाओं को ग्रहण करना आवश्यक नहीं है । घटनाएं और नाम सभी काल्पनिक रख सकते हैं।"[२] और "यदि संयोग से वह इतिहासिक विषय भी ग्रहण कर ले तब भी उसका कवि रूप अक्षुण्ण रहता है क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं है कि कुछ घटनाएं जो वास्तव में घटी हैं सम्भव और सम्भाव्य के नियम के अनुकूल न हों उनके इसी गुण के नाते वह उनका कवि या स्रष्टा होता है।"[३] अब तक अरस्तु ने तीनों की जिस प्रकार व्याख्या की है उससे स्पष्ट है कि उसने दन्तकथामूलक आधार को सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि इसमें सत्य तथा कल्पना का सुन्दर समन्वय हो सकता है। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर पाश्चात्य दन्तकथामूलक और भारतीय प्रख्यात मूलक के मूल मन्तव्यों में बहुत अधिक समता है। दोनों प्रसिद्ध को महत्व देते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के प्रथम अंक में इन्द्र और नारद के वार्तालाप में हरिश्चन्द्र की प्रशंसा से इन्द्र में ईर्ष्या भाव के उदय से कथा का प्रारम्भ होता है। तृतीय अंक में हरिश्चन्द्र सत्य और धर्म के रक्षार्थ

---

१. धनिक धनंजय : 'दशरूपकम्', कारिका १६

२. डॉ० नगेन्द्र : 'अरस्तु का काव्य शास्त्र, प्रथम संस्करण, संवत् २०१४ वि० पृ० ६८-६६

३. डॉ० नगेन्द्र : 'अरस्तु का काव्य शास्त्र,' प्रथम संस्करण सं० २०१४ वि० , अनुवाद भाग से, पृ० २७

स्त्री और पुत्र तक का विक्रय करने का निश्चय करते हैं।[१] यहाँ प्रयत्न नामक कार्यावस्था है। तृतीय अंक में हरिश्चन्द्र को विश्वामित्र शीघ्र दान की दक्षिणा चुकाने के लिए चरमसीमा पर अपना क्रोध प्रदर्शित करते हैं और हरिश्चन्द्र अधिकाधिक विनम्रता दिखाते हैं[२] अत: मुनि स्वगत कथन के द्वारा राजा के महानुभाव होने की प्रशंसा करते हैं। यहाँ प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। चतुर्थ अंक में देवताओं का हरिश्चन्द्र की जय जयकार करते हुए अपने को राजा का वशवर्ती बताना और राजा का प्रलोभन में न आना नियताप्ति की अवस्था है।[३] अष्ट महासिद्धि, नवनिधि और बारह प्रयोग को उन्होंने सहर्ष त्याग कर अपने सत्य और धर्म का निश्चय कराया। इस अंक के अंतिम भाग में भगवान् आविर्भूत हो कर कहते हैं कि सत्य धर्म सबकी परमावधि हो गई। देखो तुम्हारे पुण्यभय से पृथ्वी बार बार काँपती है। अब त्रैलोक्य की रक्षा करो।[४] ' में फलागम की अवस्था का घोतन होता है। इन्द्र ने परीक्षा लेकर जान लिया और त्रैलोक्य को बता दिया । हरिश्चन्द्र वस्तुत: सत्यवीर, दानवीर के अच्छे उदाहरण हैं । इन्द्र स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह सब उनकी दुष्टता थी और क्षमा माँगते हैं।[५]

'चन्द्रावली' नाटिका में प्रथम अंक परिचयात्मक है क्योंकि नायिका चन्द्रावली और ललिता के स्नेहालाप में दोनों की घनिष्ठता का परिचय तो प्राप्त होता ही है और दोनों के आत्मीयता पूर्ण और व्यक्तिगत बातचीत में चन्द्रावली अपने मर्म का अवगुंठन खोलती है तथा अपने प्रेम का लक्ष्य भी स्पष्ट बताती है।[६]

---

१. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दुनाटकावली', प्रथम भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, पृ० ५५

२. वही, पृ० ६६

३. वही, पृ०९६

४. वही, पृ० १०५

५. वही, पृ० १०७

६. वही, पृ० १७० ('चन्द्रावली' नाटिका से).

यहीं कथा का प्रारम्भ होता है। दूसरे अंक में चन्द्रावली विक्षिप्त के समान कृष्ण को एक एक पेड़ के पास जाकर ढूंढ़ती है।[१] इसमें प्रयत्न नामक कार्यावस्था के दर्शन होते हैं। एक स्थान पर चन्द्रोदय को ही कृष्ण का आगमन समझ कर वह प्रलाप करती है। कहीं कृष्ण विरह में तड़पती हुई उन्हें अपना प्रकट होकर मुंह दिखाने को कहती है। विक्षिप्त सी चन्द्रावली इधर उधर दौड़ती है और कृष्ण को खोजती है किन्तु द्वितीय अंक के अंकावतार में कृष्ण के नाम चन्द्रावली के पत्र का उल्लेख प्रयत्न में रत होने का सूचक है। इस अंक में चन्द्रावली का प्रेम तीव्र हो जाता है। प्रथम अंक में कृष्ण के प्रति प्रेम को छिपाती है किन्तु दूसरे अंक में विरहोन्माद में प्रलाप करती हुई लोक बन्धन को भी तोड़ डालती है। तृतीय अंक में प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था का संकेत मिलता है क्योंकि सखियों के प्रयत्न के फलस्वरूप चन्द्रावली और कृष्ण के मिलन की संभावना दिखाई पड़ती है। कामिनी के कथन में एक स्थान पर विफलता की आशंका होती है — 'हां चन्द्रावली बिचारी तो आप ही गई बीती है, उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबन्द रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती। अब क्या—'[२] चतुर्थ अंक में श्रीकृष्ण चन्द्रावली की दीन हीन विरहावस्था से द्रवीभूत होते हैं — 'निःसंदेह इसका प्रेम पक्का है, देखो मेरी सुधि आते ही इसके कपोलों पर कैसी एक साथ जरदी दौड़ गई। नेत्रों में आंसुओं का प्रवाह उमग आया आदि ......'[३] यहां नियताप्ति नामक कार्यावस्था का संकेत मिलता है और इसी अंक के अंत में चन्द्रावली और कृष्ण का मिलन अर्थात् गलबांही डालकर बैठना अन्तिम फल की प्राप्ति है— अतः फलागम की स्थिति आ जाती है।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन में कथा का प्रारम्भ पुरोहित की बलि की व्याख्या में होता है। वह देवी की पूजा के लिए बलि को आवश्यक ही है, इसको सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।[४] प्रहसन के अंत में इन

---

१. ब्रजरत्नदास—भारतेन्दु नाटकावली, प्र०भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामना०लाल, इलाहाबाद, पृ० १७८

२. वही, पृ० १९२ (चन्द्रावली नाटिका से)

३. वही, पृ० २०६

४. वही, पृ० ६० (द्वि०भाग, द्वि०सं०, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति से)

पाखंडियों को अपने कर्म का उचित दण्ड प्राप्त होना फलागम की अवस्था है। `विषस्य-विषमौषधम्` में भारतेन्दु ने भाण के प्राय: सभी लक्षणों का समावेश किया है। प्रारम्भ में ही भण्डाचार्य परनारी में रत रहने वालों की अंतिम दुर्गति की चर्चा करते हुए बड़ौदा नरेश की शासन अव्यवस्था और चरित्रहीनता संबंधी बातों पर उतर आता है यहीं कथा का प्रारम्भ है तथा मल्हारराव का पतन ही फलागम है।

ललिताचरण गोस्वामी के `यवनोद्धार नाटिका` में कथा का प्रारम्भ डाकू के कथन से होता है -"मेरे ग्यारह और नौ वर्ष की दो कन्याएं हैं जो मातृ विहीना हैं, उनका मेरे सिवाय और कोई नहीं है क्योंकि कौन मनुष्य मुझसे भयानक डाकू के साथ संबंध रखने का साहस करेगा। आज वे बालिकाएं अनाथ हो गई उनको आप कृपा करके वृन्दावन भेजवा देना अपने इष्टदेव को वहां जाकर स्वयं खोज लेंगी[1]।" दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में गंगा और यमुनाबाई अपने को अनाथ पा रही हैं। चलते चलते थक कर बेहोश हो जाती हैं तभी विशुद्धानन्द आकर कहता है कि "यहां तो दो सुन्दरी पड़ी हैं जिनकी खोज में मैं सारे संसार में घूम आया।[2] और उठा कर ले जाने का प्रयत्न करता है किन्तु परमानन्द नामक हित हरिवंश के शिष्य द्वारा उनकी रक्षा की जाती है और दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में परमानन्द मनोहरदास के पास उन लड़कियों को रखता है तथा मनोहरदास बाप की तरह उन्हें रखने का वचन देता है। यह प्रयत्न की अवस्था है। यद्यपि बीच में वह पथ भ्रष्ट होकर उन्हें बेचने जाता है किन्तु थोड़ी ही देर में ~~पश्चात्~~ पश्चाताप करता हुआ दिखाया गया है। उसके मन में विकट समस्या है, यही ~~क~~ विकास है। मनोहरदास के घर गंगाबाई गा रही है। गाना समाप्त होते ही आकाशवाणी होती है `पुत्रि क्यों होती विकल भक्त मुझे हित मानें।`[3] यहां प्राप्त्याशा की अवस्था है। नियताप्ति की अवस्था में परमानन्द जी पहुंच कर लड़कियों को वृन्दावन ले जाने को कहते हैं। य

---

१. ललिताचरण गोस्वामी :`यवनोद्धार नाटिका`, प्र०सं०, सं० १९८२, श्रीहित-नाट्य समिति, वृन्दावन, प्रथम अंक, चतुर्थ दृश्य, पृ-१५

२. वही, पृ० ३३-३४

३. वही, पृ० ६८

चौथे अंक के अंत में गंगा और यमुना श्रीहित जी के सामने गा रही हैं। यहीं फलागम माना जायेगा क्योंकि लड़कियां डाकू के मंतव्य के अनुसार श्रीहितजी के पास पहुंच जाती हैं।

'चन्द्रहास' में कथा का प्रारम्भ गालव मुनि के कथन – 'यह बालक बड़ा सुलक्षण है'[१] में हो जाता है क्योंकि चन्द्रहास एक भूला भटका बालक दिखाया गया है और अन्त में सुलक्षण होने के कारण ही परिस्थितियां उसके अनुकूल होती चलती हैं और एक दिन वह नाटक में फल का भोक्ता राज्य प्राप्त करके होता है। द्वितीय अंक में सुगामिनी अपने पति धृष्टबुद्धि से चन्द्रहास को अपना दामाद बनाने को कहती है। पति की अन्यमनस्कता पर वह कहती है कि " पर विलम्ब न करना चाहिए क्योंकि अच्छे वर के लिए सभी उद्योगी रहते हैं।[२] यहां प्रयत्न नामक कार्यावस्था के दर्शन होते हैं। तृतीय अंक में उपाय और विघ्न की आशंका से फल प्राप्ति का निश्चित न होना प्राप्त्याशा नामक अवस्था है। धृष्टबुद्धि चन्दनपुर पहुंच कर चन्द्रहास को मरवाने की इच्छा से उसे ही एक पत्र लेकर मदन (अपने पुत्र) के पास भेजता है। उस पत्र में लिखा है कि 'विष या कनी दे देना' यह पत्र सोते हुए चन्द्रहास की जेब से लता मंडप में गिर गया है जिसे विषया पढ़ लेती है। चन्द्रहास को देखकर उसके मन में उसे वरण करने की इच्छा जगती है। वह कनी को तो चाट जाती है और विष को विषया कर देती है। यहां आशंका के साथ प्राप्त्याशा बनी रहती है। चतुर्थ अंक में राजा कौन्तलय के कथन में नियताप्ति है— 'चन्द्रहास अपूर्व उन्नत हृदय लेकर संसार में अवतीर्ण हुआ है। इसी से सबकी सम्मति लेकर मैंने उसे चुना है'[३] इधर धृष्टबुद्धि भी चन्द्रहास को अपना राज्य देना चाहते हैं अतः यहां फलप्राप्ति निश्चित हो जाती है। नाटक के अन्त में कौन्तलय चन्द्रहास को राजदण्ड देते हैं वहां फलागम नामक कार्यावस्था है।

गुप्त जी का दूसरा पौराणिक नाटक 'तिलोत्तमा' भी भारतीय नाट्य-

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : 'चन्द्रहास', तृतीयावृत्ति, सं० १९९०, प्रथम अंक, प्रथम दृश्य, पृ० ७

२. वही, पृ० ५३

३. वही, पृ० १२८

शास्त्र के अनुरूप विकसित हुआ है। इसमें कथा का प्रारम्भ प्रथम अंक में तीसरे दैत्य के कथन से होता है — "मेरी इच्छा होती है सबसे पहले अपने चिरशत्रु देवताओं का गरमागरम खून पियूं।" इससे दैत्यों की लड़ने की उत्सुकता की प्रतीति होती है। प्रयत्न दूसरे अंक में वहां पाया जाता है जहां कार्तिकेय और इन्द्र दैत्यों का सामना करने का प्रयत्न करते हैं। प्राप्त्याशा तीसरे अंक में वहां है जहां इन्द्र वरुण कार्तिकेय आदि ब्रह्मा के पास जाकर दैत्यों को मारने का उपाय पूछते हैं। इन्द्र वरुण से कहते हैं कि "स्मरण रख कि सबके पितामह होकर भी प्रजापति देवता हैं।"[१] पांचवें अंक के विष्कम्भक में मेनका के कथन — "बस अब कार्य सिद्ध होना ही चाहती है" में नियताप्ति नामक कार्यावस्था है क्योंकि यहां नायक इन्द्र को फल-प्राप्ति निश्चित सी हो जाती है। अन्त में सुन्द उपसुन्द के परस्पर मारकर मर जाने में फलागम अवस्था पाई जाती है। दैत्य विजित होते हैं। देवराज इन्द्र की जय जयकार होती है। कथा का प्रारम्भ दैत्यों और देवताओं के संघर्ष से होता है और अन्त देवताओं की विजय से।

भावी कथांश के सूचक के रूप में विष्कंभक तथा अंकावतार का प्रयोग अनेक नाटकों में हुआ[३] किन्तु अंकावतार प्राचीन परम्परा के अनुसार कहीं कहीं दो अंकों के मध्य में न होकर प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही आ गया है।[४] नाट्यसंभव के अंकावतार के फुटनोट में लिखा है — "इस अंकावतार के पहिले छ: अंक छपे हैं उन्हें इस (अंकावतार) की पूर्व पीठिका अन्त के सातवें अंक को उत्तर पीठिका समझनी चाहिए आदि।"[५]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : 'तिलोत्तमा', तृतीयावृत्ति, सं० १९८१, पृ० ५७
२. वही, पृ० ८३
३. किशोरीलाल गोस्वामी : 'नाट्यसंभव', १९०४, प्रथम अंक के पूर्व
४. राय देवीप्रसाद पूर्ण : 'चन्द्रकलाभानुकुमार', १९०४ ईसवी, प्रथम अंक के पूर्व
५. किशोरीलाल गोस्वामी : 'नाट्य संभव', १९०४, पृ० ७३

अर्थप्रकृतियां—

प्राचीन भारतीय पद्धति पर लिखे गए कुछ नाटकों में कार्यावस्थाओं के साथ अर्थप्रकृतियों की योजना भी पाई जाती है। इसकी सफल योजना `चन्द्रावली` में पाई जाती है। प्रथम अंक में ललिता कहती है —` सखी ! तू धन्य है, बड़ी भारी प्रेमिन है और प्रेम शब्द को सार्थक करनेवाली और प्रेमियों की मंडली की शोभा है।[१] ` यहीं बीज नामक अर्थप्रकृति है। कार्यव्यापार की शृंखला में इसी प्रेम का विस्तार होता गया है। दूसरे अंक में आकर बीज फैलता है तथा अविच्छिन्न रूप में चलती है जिससे बिन्दु कार्यावस्था का संकेत प्राप्त होता है। तृतीय अंक के वर्षा-वर्णन पताका और भूला-वर्णन प्रकरी रूप में दिखाई पड़ते हैं क्योंकि ये चन्द्रावली को अधिकाधिक उद्दीप्त करते हैं तथा प्रधान कथावस्तु को अंतिम फल की ओर ले जाने में सहायता देते हैं। चतुर्थ अंक के अंतिम अंश में कार्य नामक अर्थ प्रकृति है।` वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति` के प्रथम अंक में राजा और पुरोहित की बातचीत में बीज का आरम्भ पाया जाता है। पुरोहित कहता है- `हां हां ! हम कहते हैं और वेद शास्त्र पुराण तंत्र, सब कहते हैं।` जीवों जीवस्य जीवनम्` ।[२] इसी सिद्धान्त के प्रतिपादित करने में प्रहसन के अंतिम अंक में दण्ड का भागी बनता है वहां कार्य नामक अर्थप्रकृति है। `अंधेर नगरी प्रहसन में महन्त के लोभ न करने की शिक्षा के अन्तर्गत बीज की[३] और लोभ के फलस्वरूप फांसी पर भूलने का अवसर आ जाना[४] कार्य की स्थिति है।

कथा के आरम्भ में भण्डाचार्य के शब्दों में बीज नामक अर्थप्रकृति पाई जाती है।[५] और मल्हारराव के पतन में कार्य नामक अर्थ प्रकृति भाण के अन्त में

---

१. ब्रजरत्नदास : `भारतेन्दु नाटकावली`, पृ० भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामना०, इलाहाबाद, पृ० १७०

२. वही, द्वि०भाग, द्वि०सं०, सं० २०१३, पृ० ८६

३. वही , प्र०भाग, द्वि०सं०, २००८, पृ० ४६७

४. वही, ४७७

५. वही, द्वि०भाग, द्वि०सं०, सं० २०१३, रामना०,इलाहाबाद ,पृ० १८०

होगी ।

भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के प्रथम अंक में इन्द्र प्रस्तावना में नैपथ्य से पठित दोहा - 'यहाँ सत्य भय एक के.............करन इन्द्र उर सोक' पढ़ता हुआ इधर उधर घूमता है । यही कथा का बीज प्रारम्भ होता है । इसी अंक में नारद के चले जाने के पश्चात् और भृकुटी चढ़ाकर पूछते हैं - " हरिश्चन्द्र में कौन से गुण है ?[1] इन्द्र विश्वामित्र की चापलूसी तथा नारद पर व्यंग्य करके हरिश्चन्द्र के प्रति मुनि के क्रोध को भड़काता है । यहीं से बिन्दु का प्रारम्भ होता है । इसमें पताका नामक अर्थप्रकृति का अभाव है । पताका का होना शास्त्रीय दृष्टि से भी अनिवार्य नहीं है । हरिश्चन्द्र का सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होना कार्य नामक अर्थप्रकृति है । यवनोद्धार नाटिका में अर्थप्रकृतियों का विधान पाया जाता है । कथा का बीज हाबू की इच्छा में स्थित है कि उसके बिना उसकी दोनों लड़कियों का कोई नहीं है अत: वे वृन्दावन पहुँचा दी जायें और वहीं वे इष्टदेव को स्वयं ढूंढ़ लेंगी ।[2] दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में गंगा और यमुना बाई अनाथ अवस्था में चलते चलते अचेतावस्था में आ जाती हैं । बीज के पश्चात् कथा विच्छिन्न होती गई थी जो यहाँ आकर पुन: जुड़ती है । यहीं कथा अविच्छिन्न होती है अत: बिन्दुनामक अर्थप्रकृति का प्रारम्भ कहा जायेगा । परमानन्द का उनकी रक्षा पताका कही जायेगी क्योंकि आरम्भ से अंत तक अवसर पड़ने पर उन्होंने लड़कियों की रक्षा में योग दिया है । राजा मानसिंह की कथा प्रकरी है जो कुछ ही क्षणों में समाप्त हो जाती है । पर जितनी भी है, मूल कथा के विकास में सहायक है । लड़कियों का श्री हित जी के पास पहुँच जाना कार्य की अवस्था है ।

'चन्द्रहास' नाटक में बीज नामक अर्थप्रकृति गालव मुनि के कथन में निहित है —

---

१. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दुनाटकावली', प्रथमभाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामना०, इलाहाबाद, पृ० ६८

२. ललिताचरण गोस्वामी : 'यवनोद्धार नाटिका', प्रथम सं०, सं० १९६२, श्रीहित नाट्यसमिति, वृन्दावन, पृ० १५

अनाथ कोई जग में नहीं है
त्रैलोक्य का नाथ सभी कहीं है
क्या ठीक है जो यह मार्गचारी
बने तुम्हारा विषयाधिकारी ।[१]

इसी से समस्त कथानक का विकास हुआ है। कथा अनेक रूपों में पल्लवित हुई है । बीज का विस्तार प्रथम अंक के अंत तक है। द्वितीय अंक में बिन्दु का स्पष्ट संकेत नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि कथा कहीं विच्छिन्न नहीं है न जोड़ने वाले कार्य की आवश्यकता ही हुई है। कुलिन्दक की कथा पताका है। वह चन्द्रहास की रक्षा करता है तथा अपने पुत्र रूप में उसे स्वीकार करके अपना राज्य देता है। राजा की पुत्र-प्राप्ति रूप में कार्यसिद्धि होती है और वह सन्तानवान बनता है। चन्द्रहास का साथ नियति नहीं छोड़ती है किन्तु प्रत्यक्ष रूप में पताका नायक कुलिन्दक ही हैं । विरोचन और विमर्दन की कथा प्रकरी है। दोनों धृष्टबुद्धि के कहने पर चन्द्रहास की हत्या के लिए जंगल में ले जाते हैं किन्तु मोहवश उसे छोड़ देते हैं। अगर प्रारम्भ में ही वे सहायक न होते तो सारी कथा वहीं समाप्त हो जाती फिर वे विलीन हो गए हैं। कार्य से तात्पर्य उस घटना से है जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाय। धृष्ट बुद्धि का विषयाधिकारी बनाने के लिए सब सामग्री एकत्रित की गई। चन्द्रहास धृष्टबुद्धि की अतुल सम्पत्ति का अधिकारी बनता है। विषयाधिकारी में श्लेष है। मंत्री पुत्री कानाम भी विषया था। वह पुत्री विषया तथा उसकी अतुल सम्पत्ति का अधिकारी बना।

गुप्त जी के पौराणिक नाटक 'तिलोत्तमा' में भी अर्थप्रकृतियों का स्थान दृष्टिगोचर होता है। प्रथम अंक में तीसरा दानव कहता है -"शीघ्र ही हमें शत्रुओं से बदला लेने का मौका मिलेगा क्योंकि इसीलिए तो स्वामियों ने कठोर तप करने का कष्ट उठाया है। "इस तत्त्व से ही समस्त कथानक का विकास हुआ है। द्वितीय अंक में इन्द्र और कार्तिकेय युद्ध में सम्मिलित होने की अपनी इच्छा व्यक्त कर रहे हैं। दानवों की बात का क्रम टूटकर पुन: इसी अंक में इन्द्र सुन्द उपसुन्द के पितामह से वर-प्राप्ति की तथा इसे गुप्त रखने की चर्चा करते हैं, यही बिन्दु नामक अर्थप्रकृति है क्योंकि

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : 'चन्द्रहास', तृतीयावृत्ति, सं० १६८०, प्रथमांक , पृ० ७

यहां बीज अविशृंखल होता है। और इस कथन से प्रधान कार्य की पुष्टि होती है। तृतीय अंक में कार्तिकेय के कथन में पताका है। कार्तिकेय इन्द्र की रक्षा के लिए अनेक यत्न करते हैं। देवपुरी को शत्रु के चंगुल से बचाने में अन्ततक यह प्रासंगिक कथा के रूप में चलती है। तिलोत्तमा की कथा प्रकरी है। कौशल से राक्षसों की मृत्यु और देवताओं की विजय कार्य है।

संधियां —

`चन्द्रावली` के प्रथम अंक में ललिता के शब्दों में — `सखी मैं तो पहले ही यह कह चुकी कि तू धन्य है। संसार में जितना प्रेम होता है, ...... तू प्रेमियों के मंडल को पवित्र करनेवाली `[1] मुखसंधि का आरंभ होता है। द्वितीय अंक में मुखसन्धि में दिखलाए हुए बीज का लक्ष्य अलक्ष्य रूप से उद्भेद प्रारम्भ होता है अतः प्रतिमुख सन्धि है। चन्द्रावली की विरह कातरता तथा वनदेवी संध्या और वर्षा की सहानुभूति बीज का लक्ष्यालक्ष्य उद्भेदक है। तृतीय अंक में चन्द्रावली को नजरबन्द देखकर एक ओर फल-प्राप्ति में आशंका होती है और दूसरी ओर सखियों को दृढ़ प्रतिज्ञ होकर प्रयत्न करते देख कर आशा का उदय होने लगता है। प्राप्ति संभव की स्थिति होने के कारण यहां गर्भ संधि पाई जाती है।[2] चतुर्थ अंक में जोगिन वेश में कृष्ण का चन्द्रावली की प्रेम दशा का अवलोकन तथा सच्चे प्रेम की प्रशंसा नियताप्ति तथा विमर्श सन्धि का द्योतक है।[3] यहां बीज प्रस्फुटित हो गया है। नाटिका के अंत में बीज से युक्त मुख आदि अर्थ जो अब तक इधर उधर बिखरे थे, एक अर्थ के लिए समेट लिए गए। अतः यहां निर्वहण संधि हुई। चन्द्रावली और कृष्ण गलबाहीं डालकर बैठते हैं[4]। `वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति` प्रहसन में बीज और आरंभ के मेल से प्रथम अंक में पुरोहित कहता है कि ` हां जी, यह सब मिथ्या एक प्रपंच है। खूब मजे में मांस कचर कचर के खाना, और चैन करना,

---

१. ब्रजरत्नदास-`भारतेन्दु नाटकावली`, प्र०भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामना०, इलाहाबाद, पृ० १७१ (`चन्द्रावली` नाटिका से)

२. वही, पृ० १९२

३. वही, पृ० २०६

४. वही, पृ० २१६

एक दिन तो आखिर मरना ही है[१] आदि में बीज और प्रारम्भ के संधिस्थल पर मुखसंधि है। तथा अंतिम अंक में संयमनीपुरी का संदेश दूत यमराज को देता है कि मृत्युलोक से लाए गए जीवों को शीघ्र ही नरक भेज दिया जाय अन्यथा उनकी दुर्गन्धि से उनके प्राण निकल रहे हैं। कार्य और फलागम के सन्धिस्थल पर यहां निर्वहण सन्धि पाई जाती है।

भारतेन्दु जी के 'अन्धेर-नगरी' प्रहसन के प्रथम अंक में महन्त द्वारा लोभ न करने की शिक्षा से कथा का बीज पड़ता है फलत: यहीं मुखसन्धि भी होती है। तथा अंतिम अंक में फांसी के लिए गुरु और गोवर्द्धनदास की होड़ निर्वहण सन्धि है। विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण में कथा के आरंभ और बीज के संधिस्थल पर मुखसन्धि तथा अन्त में कार्य और फल के योग से निर्वहण सन्धि है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में प्रथम अंक में इन्द्र तथा नारद के वार्तालाप में आरम्भ और बीज के मिश्रण से मुखसन्धि कही जायेगी। हरिश्चन्द्र के गुणों का बखान मुखसन्धि का विकास है। तीसरे अंक में सर्वस्व त्यागकर धर्म और वचन की रक्षा के लिए पत्नी और पुत्र तक को बेचने के लिए तत्पर दिखाई पड़ते हैं बिन्दु और प्रयत्न के संधिस्थल पर प्रतिमुख सन्धि यहीं है। प्राप्त्याशा के अन्तर्गत राजा परीक्षा देने में रत है। इन्हीं विषय परीक्षाओं में गर्भ संधि मानी जायगी। देवताओं के प्रलोभन में हरिश्चन्द्र का न आना नियताप्ति है। अंतिम परीक्षा में कुलगुरु सूर्य राजा को उनके धैर्य का स्मरण कराते हैं। आशा और निराशा के मध्य यहां विमर्श संधि दिखाई गई है। चौथे अंक के अंतिमभाग में भगवान का हरिश्चन्द्र के सत्य और धर्म से प्रभावित होकर प्रकट होना और आशीर्वाद देना कार्य सिद्ध होना है तथा यहीं हरिश्चन्द्र का गद्गद् होकर प्रेमाश्रु प्रवाहित करना आदि फलागम है तथा दोनों के योग से यहीं निर्वहण संधि मानी गयी है। वस्तु

---

१. ब्रजरत्नदास:'भारतेन्दु नाटकावली',द्वि०भाग, द्वि०सं०, २००८ वि०, रामना०,इलाहाबाद, पृ० ६१

२. वही, (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति से), पृ० ११७

३. वही, पृ० ४६०(प्र०भाग, सं० २००८वि०)

४. वही, पृ० ४७७

संगठन की दृष्टि से अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं और संन्धियों के प्राचीन नियमों का पूर्णतया पालन नहीं कहा जायेगा। वस्तुत: कथा चरमसीमा पर एकाएक समाप्त होती है। ऊपर खींचातानी कर पांचों संधियों का विकास दिखाने का प्रयास ही कहा जा सकता है। यही बात 'सतीप्रताप' में भी पायी जाती है। सात दृश्यों में कथा का क्रमिक विकास नहीं है। कथा अव्यवस्थित ढंग से प्रारम्भ होकर चरमसीमा पर समाप्त हो जाती है। 'भारत दुर्दशा' दुखान्त निर्भीक आलोचनात्मक नाटक है। कथा का क्रमिक विकास नहीं प्राप्त होता है। चरम सीमा पर यह नाट्यरासक समाप्त हो जाता है। 'प्रेमयोगिनी 'भारतेन्दु की अधूरी रचना है।

'यवनोद्धार नाटिका' में बीज अर्थप्रकृति और आरम्भ अवस्था के संधिस्थल पर मुखसंधि है। बिन्दु और प्रयत्न के योग स "आप निश्चिन्त रहें, मैं अपनी संतान की तरह इनका लालन पालन करूंगा।"[1] में प्रतिमुख संधि पाई जाती है। प्राप्त्याशायें ही मनोहरदास के लड़कियों के विक्रय से आशंका भी बनी है। यही गर्भसंधि है जहां मनोहरदास मरता है। यहां ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार बार विकास हुआ है किन्तु फल अभी गर्भ में है। चौथे अंक के दूसरे दृश्य में विमर्श संधि है। गंगा और यमुना बाई एक बार श्रीहित जी के पास आकर फिर चिरानन्द और अजीजबेग की कैद में आ जाती हैं। अन्त में कार्य और फलागम के योग से निर्वहण संधि का समावेश हुआ है। 'चन्द्रहास नाटक में प्रारम्भ अवस्था से युक्त नाना प्रकार के अर्थों और रसों को उत्पन्न करने वाली बीज की समुत्पत्ति से प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में गालव के कथन में मुख सन्धि है।[2] विषया के योग्य चन्द्रहास कैसा पात्र है?"[3] में बिन्दु की थोड़ी झलक तथा आगे सुगामिनी के वाक्य पर विलम्ब न करना चाहिए क्योंकि अच्छे वर के लिए सभी उद्योगी रहते हैं" यहां प्रयत्न की अवस्था है। विषयाधिकारी रूप फल कहीं गुप्त, कहीं स्पष्ट हो जाने से प्रतिसंधि की स्थिति पाई जाती है। तीसरे अंक में फल अभी गर्भ में है क्यों कि धृष्टबुद्धि पुन: चन्द्रहास की हत्या का प्रयत्न करता है। पताका और नियताप्ति के संयोग से विमर्श संधि मिलती है क्योंकि चन्द्रहास को राजपद देने के विषय में विमर्श

---

१. ललिताचरण गोस्वामी : 'यवनोद्धार नाटिका', प्र०सं०, सं० १९८२, श्रीहित नाट्य समिति, वृन्दावन, दूसरा अंक, तीसरा दृश्य

२. मै०श०गुप्त : 'चन्द्रहास' तृतीयावृत्ति, १९८०, पृ० ७

३. वही, पृ० ४१

हो रहा है। अंत में निखरे हुए बीज के सञ्चित मुख आदि अर्थ एक अर्थ में एकत्रित कर दिए गए हैं और यहीं निर्वहण संधि का विधान है।

गुप्त जी के 'तिलोत्तमा' नाटक में प्रारम्भ नामक अवस्था से युक्त नानाप्रकार के अर्थों और रसों से उत्पन्न करने वाली बीज की समुत्पत्ति से प्रथम अंक में मुखसन्धि का विधान किया गया है। द्वितीय अंक के विष्कंभक में दो देवताओं के वार्तालाप में कहीं भय, आशंका तथा विरोधियों का प्रभाव वर्णित है जिससे इन्द्र का विजय रूप फल कहीं गुप्त, कहीं स्पष्ट हो जाने से प्रतिमुख संधि की योजना दिखाई पड़ती है। तीसरे अंक में कार्तिकेय इन्द्रसे कहते हैं—

जब तक रक्षा बल हमारे एक अवयव में कहीं

< < < <

< < < <

यह हो नहीं सकता कि वे गरजा करें हम चुप रहें।

इसी के आसपास ब्रह्मा से जाकर उनको मारने की युक्ति निकालते हैं में प्राप्त्याशा और पताका के संयोग से गर्भ संधि निहित है। पांचवें अंक के विष्कंभक में नियताप्ति और मेनका की कथा, रूप प्रकरी के योग से विमर्श सन्धि दिखाई पड़ती है। यहां फलोपलब्धि के विषय में विमर्श हो रहा है। इन्द्र की विजय, दैत्यों की पराजय की शुभ सूचना से लेकर सुन्द-उपसुन्द की मृत्यु रूप कार्य की सिद्धि पर्यन्त निर्वहण संधि का योग है।

गिरि के 'वारिदनाद वध व्यायोग' में कथा का बीज वामनाचार्य से प्रारम्भ में ही कुमार लक्ष्मण की वाणी में हो जाता है —

"अबहिं सकल दल दरौ कटक कौतिक संहारौं
इन्द्रजीत को पटकि, उदर धरि नखों फारौ।"

यहीं बीज और प्रारम्भ के योग से मुखसंधि दिखाई पड़ती है। प्रतिमुख सन्धि स्पष्ट नहीं है। आरम्भ वहिसंधय' से और अंत में कार्य मेघनाद को पराजित करके होता है। यहीं फलागम की स्थिति मेघनाद के वध से आती है तथा दोनों के योग से निर्वहण सन्धि पाई जाती है।

भारतेन्दु ने राष्ट्रीय जागरण तथा स्वदेश गौरव-गाथा को अभिनयात्मक

रूप देने में प्राय: पाश्चात्य नाट्यकला का अनुसरण किया है। कथा के विकास में संघर्ष की अवस्थाओं के दर्शन नीलदेवी नामक गीतिरूपक में होते हैं। इसका निर्माण अब्दुश्शरीफ की विलासान्धता की एक घटना को लेकर हुआ है। इसके प्रथम दृश्य में हिमगिरि के शिखर पर तीन अप्सराओं का सङ्गान होता है। जिसमें क्षत्राणियों के वीर चरित्र का गान किया है। इसे अंग्रेजी नाट्य-विधान के कोरस गान का स्वरूप भी कह सकते हैं। इसमें नाटककार ने पूर्णतया पाश्चात्य नाट्य प्रणाली का अनुगमन किया है क्योंकि पूर्व के कुछ नाटकों में मंगलाचरण तथा प्रस्तावना आदि की योजना है और इसमें इनका पूर्णतया अभाव पाया जाता है। दूसरे दृश्य में कथा का प्रारम्भ युद्ध शिविर में अमीर अब्दुश्शरीफ़ और काजी के संवाद से होता है जिसमें यवन सेना राजपूतों से आतंकित जान पड़ती है -- 'काजी साहब! मैं आपसे क्या बयान करूं, वल्लाही सूरजदेव एक ही बला है। इसलिए पंजाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं।'[1] अत: शरीफ सामने से लड़कर विजय पाने की आशा न देखकर इसी दृश्य में षड्यन्त्र द्वारा राजपूत राजा सूर्यदेव को पकड़ने की राय करता है। संघर्ष बढ़ता ही जाता है। राजपूत संघर्ष के लिए सावधान हैं किन्तु रानी के कौशल से लड़ने के लिए संकेत करने पर भी राजा अधर्म युद्ध कह कर टाल देता है और सम्मुख युद्ध के लिए बैठा रहता है।[2] पांचवें दृश्य में अल्ला अकबर के शब्द के साथ शस्त्र खींचे अनेक यवनों का प्रवेश तथा देवीसिंह नामक वीर सिपाही का पहरा देते हुए युद्ध और पतन दिखाया है। तत्पश्चात् यवन डेरे में प्रवेश कर जाते हैं। इस आकस्मिक आक्रमण से सूर्यदेव के बंदी होने का संकेत प्राप्त होता है। सातवें दृश्य में सूर्यदेव लौह पिंजड़े में बन्द यवन शिविर में मूर्च्छित पड़ा है और उसी अदृश्य देवता का गीत सुनाई देता है जिससे राजा की मूर्च्छा भंग होती है किन्तु पुन: मूर्च्छित हो जाता है। आठवें दृश्य में नीलदेवी की कूटनीतिज्ञता के फलस्वरूप दो गुप्तचर पागल मुसलमान वेश में भेद लेकर मिलते हैं तो राजा की पहरुए यवनों को मार कर वीरगति की चर्चा करते हैं। नवें दृश्य में राजकुमार सोमदेव तथा राजपूत राजा की मृत्यु से उत्तेजित हो रहे हैं। वीरोचित रणयोजना में रत हैं किन्तु तभी नीलदेवी उस सम्मुख युद्ध-योजना का स्वरूप क्षण मात्र में परिवर्तित कर देती है और कौशल से युद्ध करने के लिए राजपूत सहित सोमदेव को तैयार करती है। दसवें दृश्य

---

१. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु नाटकावली', प्र०भाग, द्वि०सं०, सं०२००८, रामना०,इलाहाबाद, पृ० ४२४

२. वही, पृ० ४२६

में `अमीर विजयोल्लास में शराब के दौर में मस्त है तत्क्षण ही नर्तकी का नाम से नीलदेवी गायिका बनकर आती है और अवसर पाकर अमीर की हत्या कर देती है और सत्त्वर, समाजी तथा राजपूतों सहित सोमदेव यवन शिविर पर आक्रमण कर देता है। राजपूतों द्वारा यवन परास्त होते हैं। वस्तुतः संघर्ष चरमसीमा पर यहीं पहुंचता है और चरमसीमा पर ही कथा समाप्त होती है। पाश्चात्य परम्परा के अनुसार ही नाटककार ने इसे वियोगान्त रखा है। नायिका नीलदेवी राजा की मृत्यु का बदला लेकर स्वयं भी सती हो जाती है।

लाला श्रीनिवासदास का `रणधीर और प्रेममोहिनी` प्रेम प्रधान शेक्सपियर के `रोमियो एण्ड जूलियट` की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह प्रेम प्रधान प्रथम दुःखान्त नाटक है। आरम्भ में ही प्रस्तावना आदि का न होना अंगरेजी ढंग के प्रचलन के फलस्वरूप कहा जा सकता है। शेक्सपियर के उपर्युक्त नाटक के समान दो परिवारों के बीच संघर्ष और प्रतिशोध का चित्रण इसका विषय है। पाटन और सूरत के राजा का प्रतिशोध भाव दोनों राज्यों के प्रेमी-प्रेमिका के प्रेम की परीक्षा में मृत्यु के पश्चात् ही समाप्त होता है। कथा का आरंभ प्रथम अंक के प्रथम गर्भांक में ही हो जाता है जब मालती चम्पा को प्रेममोहिनी की प्रतिमा की आवश्यकता बताती है। वह कहती है कि `प्रेम मोहिनी के स्वयंवर में शास्त्र विद्या की परीक्षा के बीच जो वीर रणधीर ठहरेगा उसको उसी समय ये प्रतिमा दी जायेगी।` इस अंक के अन्य गर्भांकों में मुख्य पात्रों का परिचय तथा कथावस्तु का मूलसूत्र प्राप्त होता है। प्रेम मोहिनी के भाई रिपुदमन की रणधीर से मित्रता इसी अंक में प्रारम्भ होती है जिसका आगे की कथा से घनिष्ठ संबंध है द्वितीय अंक के प्रथम गर्भांक से कथा का संबंध है। ~~द्वितीय-अंक-के~~ विकास (डेवलपमेंट) प्रारम्भ होता है। प्रेम मोहिनी के कथन -- `सखी! मैंने तेरे कहने से वहां जाकर वृथा परिश्रम उठाया, मैं गई जब तो वहां किसी का नाम भी नहीं था` से विदित होता है कि प्रेममोहिनी के मन में रणधीर के लिए प्रेम का बीज प्रथम अंक में सखियों का वार्तालाप सुनकर ही पड़ गया था जो द्वितीय अंक में अंकुरित होने लगा। प्रेम मोहिनी छुप छिप कर रणधीर को देखना चाहती है। इसमें प्रेम का विकास दिखाया गया है। तृतीय अंक में संघर्ष चरमसीमा पर

दिखाया गया है। तृतीय अंक में व रणधीर को सेनापति रंगभूमि में जाने से रोकता है। दोनों में वादविवाद के मध्य रणधीर सेनापति को एक भाला मारकर पांच सात गज ऊंचा उछाल देता है। सूरतपति घबड़ाकर सेनापति की रक्षा करने वाले को भी उस दिन की शस्त्र विद्या में जीतने वाला घोषित करते हैं । घोषणा सुनते ही रणधीर घोड़े समेत उछलकर सेनापति को गिरने से बचा लेता है किन्तु सूरतपति प्रेममोहिनी से विवाह करने से इन्कार कर देते हैं और रणधीर को पकड़ कर लाने वाले से विवाह करने का वचन देते हैं। प्रेम की चरमसीमा भी इस अंक में दिखाई पड़ता है। दोनों प्रेमी राजा के नज़रबाग में प्रथम बार आमने-सामने मिलते हैं और वहां से प्रेममोहिनी के महल में रात व्यतीत करते हैं और एक दूसरे का न छोड़ने की लिए ~~वचन-बद्ध~~ वचनबद्ध होते हैं। चतुर्थ अंक में निगति या उतार की स्थिति आती है। प्रेममोहिनी के पिता पुत्री की उदासी का कारण पूछते हैं पुत्री के द्वारा रणधीर को ही उपयुक्त पति सिद्ध करने पर वह प्रेममोहिनी की बात स्वीकार कर लेते हैं किन्तु अंतिम अंक में एकाएक कथा सुखान्त होते होते दुखान्त हो जाती है। घायल रणधीर की मृत्यु हो जाती है और प्रेममोहिनी रणधीर के साथ चिता में प्रवेश करती है। सबको पछाड़ कर आगे बढ़ते देखकर नायक की मृत्यु का अनुमान नहीं लगता है किन्तु अनजाने स्थिति पलट जाता है। पाश्चात्य नाट्यकला में कुतूहल की सृष्टि के लिए यह अत्यन्त उपयोगी साधन माना गया है। सम्पूर्ण नाटक में कुतूहल और संघर्ष को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। स्वयंवर वाली योजना भारतीय अवश्य है किंतु जितना कुतूहल, स्थिति विपर्यय आदि पाया जाता है वह पाश्चात्य नाट्यकला की ही विशेषता है। भारतीयदृष्टि से तो नायक की मृत्यु कभी उचित नहीं थी ।

राधाकृष्ण दास के 'महाराणाप्रताप' की शेक्सपियर की शैली पर कथा का विकास हुआ है। संघर्ष तथा पद से ही कथा का प्रारम्भ होता है परन्तु शेक्सपियर के समान बहुत सी भीड़-भाड़ एवं कोलाहल से प्रारम्भ नहीं होता है। प्रताप की बातों से उनका अंतर्संघर्ष स्पष्टत: परिलक्षित हो रहा है कि कुछ राजपूतों के अकबर की सेना में जाने से पैशाचिक से वह मन ही मन उद्विग्न हो उठे हैं। तृतीय अंक के प्रथम गर्भांक में कथा का विकास मानसिंह और राणा के वाद-विवाद में प्रारम्भ होता है। पंचम अंक में संघर्ष चरमसीमा पर पहुंच जाता

है। राणा का वफादार घोड़ा चेतक तीरों और भालों से विद्ध होकर भी नदी पार कर दुश्मनों से राणा की जान बचाकर किन्तु राणा को छोड़ कर स्वयं मृत्यु की गोद में सो जाता है। चरमसीमा पर ही भाई सक्तासिंह जो दुश्मन से जाकर मिल गया था राणा को संकट में देखकर उनसे क्षमा माँगते हुए उनकी सेवा में आ जाता है। अपने बच्चों का कष्ट देखकर राणा विचलित होकर अकबर के पास सन्धिपत्र भेज देते हैं। यहाँ संघर्ष (बाह्य) कम हो जाता है। उतार या निगति की स्थिति दिखाई पड़ने लगती है किन्तु छठें अंक में 'दृश्य' के सहारे युद्ध का चित्र उपस्थित किया गया है। सातवें अंक में पृथ्वीराज की मृत्यु, राणा का मेवाड़ त्याग, हिन्द के बादशाह होने की सनद पाकर अकबर की प्रसन्नता के प्रसंग हैं। परन्तु भामाशाह स्वामिभक्ति में अपना संचित धन महाराणा को अर्पित कर देता है और मेवाड़-विजय का जोश दिलाता है। अंत में महाराणा की जय सुनाई पड़ती है। अंतिम दृश्य में प्रतापसिंह राज दरबार करते हैं। पाश्चात्य नाटकीय कथा के संघर्षमय विकास के बावजूद भी प्राचीन सुखान्त का मोह नाटककार नहीं त्याग सका है।

सामाजिक, राजनैतिक सुधार संबंधी अनेक प्रहसनों की रचना पाश्चात्य व्यंग्य शैली में हुई। बद्रीनाथ भट्ट का 'चुंगी की उम्मेदवारी' या 'मेंबरी की धूम' प्रहसन तत्सम्बन्धी हास्य और गम्भीर व्यंग्य की सृष्टि करता है। प्रस्तुत नाटक में कथा का प्रारम्भ प्रथम अंक के प्रथम 'सीन' में नट के कथन में होता है —" देखो चुंगी की मेंबरी की उम्मीदवारी की कीचड़ में आजकल लाला सुगनलाल सेठ और पं० कृष्णालाल वकील ने पांव फँसाये हैं।"[१] इस कथन में दो चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों का परिचय प्राप्त होता है। सेठ जी कृष्णालाल के विरोध में मेंबरी का चुनावलड़ने के लिए तन-मन-धन से प्रयत्नशील हैं। उनका मुनीम तथा एक मौलवी जानतक देने को मुस्तैद हैं। यह विकास की अवस्था है। सेठ जी अपने आदमियों के साथ स्वयं वोट की भीख माँगते फिरते हैं। वकील साहब के पास इतना पैसा नहीं है कि व वोट खरीदें अथवा उतना अधिक प्रचार कार्य में पैसा लगावें फिर भी संघर्ष चरम सीमा पर आ रहा है। कुछ निश्चित नहीं है कि कौन जीतेगा

---

१. बद्रीनाथ भट्ट : 'चुंगी की उम्मेदवारी', तीसरा संस्करण, १९३८ ई०, पृ० ५

किन्तु सेठ जी की अनुकूलता का प्रच्छन्न स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। तृतीय अंक में सेठ जी के गले में फूलों की माला पड़ती है और कथा तथा संघर्ष का अन्त होता है।

बालकृष्ण भट्ट के "जैसाकाम वैसा परिणाम" में कथा का प्रारम्भ वैश्यागामी रसिकलाल के डायरी पढ़ने से होता है कि " दर्जी के मार का तो उन्हें कोई रंज नहीं मगर कुर्तियां न मिलीं आजउनको क्या मुंह दिखायेंगे। बाई जी के यहां कहला भेजा आज कई दस्त और कै आ गये इस वजह से शायद न आ सकूंगा" यही कथावस्तु का निरूपण है। रसिक की वैश्यागामी रुचि बढ़ती ही जाती है। चरमसीमा पर पर उस समय पहुंचती है जब वैश्या रसिक से सब धन लूटकर उसे ठुकरा देती है और घर लौटने पर अपनी पत्नी को किसी पर-पुरुष पर अनुरक्त होकर वार्तालाप करते देखता है। अपनी पूरी शक्ति से अपनी पत्नी और पर-पुरुष पर झपटता है तभी पुरुष की नकली मूंछें गिर जाती हैं और पोल खुल जाती है कि वह उसके मायके की नाईन के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं। यहां वस्तु उतार की स्थिति में आती है। रसिक अपनी भूल का अनुभव करता है और कथा के अन्त तक वह अपनी पत्नी की कुशलता के फलस्वरूप शराब भी पूर्णतया छोड़ देता है। बद्रीनाथ भट्ट के"वेनचरित्र" के प्रथम अंक में वेन के अत्याचार को विरोध किया गया है। दूसरे अंक में चरमसीमा पर विरोध बढ़ता है किन्तु वेन सबको मरवा डालता है। दूसरे अंक में ही भृगु पुलस्त्य आदि वेन के घर में घुसते हैं। वेन पुनः मारने का आदेश देता है किन्तु सिपाही अस्वीकार करते हैं। तीसरे अंक में कथोपकथन को घसीटा गया है। अन्त में प्रजातंत्र की नींव पड़ती है।

बेचन शर्मा 'उग्र' के 'महात्मा ईसा' में पाश्चात्य दृष्टि से वस्तु का विकास दिखाया गया है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से लेकर नवें दृश्य तक निरूपण की स्थिति है। इसमें नाटक के मुख्य पात्रों का परिचय, नाटकीय पृष्ठ-भूमि तथा पात्रों का तुलनात्मक महत्व ज्ञात होता है। मुख्य पात्र ईसा के प्रति हमारी रुचि तीव्र होती है। तथा अन्य पात्र शान्ति, आचार्य विवेक, हेरोद, हेरोदिया, मेरीना, योहन, साबेल आदि से परिचित होते हैं। नाटक के मूल भाव राजनीतिक सुधार पर भी निरूपण में प्रकाश डाला गया है। ईसा कहते हैं-" त्याग और सेवा। यही हमारा मूलमंत्र है।"[१] इस वाक्य से स्पष्ट झलकता

---

१. बेचनशर्मा उग्र: "महात्मा ईसा", प्रथ०, सं०१६७६, मनमोहन पुस्तकालय, काशी, पृ०२५

है कि ईसा की यही शक्ति सबको प्रभावित करेगी । वस्तु विकास दूसरी सीढ़ी पर पहुंचकर दो विरोधी वर्गों का संघर्ष दिखाया गया है । एक ईसा के सद्गुणों से भरा वर्ग, दूसरा राजा हैरोद के दुर्गुणों से भरा वर्ग है । हैरोद के अत्याचारी शासन के अन्त करने के प्रयत्न में धर्म पिता योहन का सिर हैरोद द्वारा कटवा लिया जाता है । भारत में शिक्षा ग्रहण करते हुए ईसा योहन की मृत्यु के पश्चात् स्वदेश लौट जाते हैं और योहन के पथ का अनुसरण करते हैं । वह अपने शिष्यों से अत्याचार करने वाले सत्ताधारी दल के ताण्डव नृत्य को रोकने के लिए उभाड़ते हैं । अत: सत्ताधारी दल से विरोध बढ़ता ही जाता है किन्तु दर्शकों की सहानुभूतिविशेष रूप से ईसा की ओर होने लगती है । द्वितीय अंक के दशम दृश्य में संघर्ष चरमसीमा पर पहुंच जाता है । हैरोद लड़कों को कोड़े से मरवा रहा है किन्तु वे ईसा की जयध्वनि करते ही जाते हैं । इधर ईसा की सेवा, त्याग चरम सीमा पर पहुंच रही है । ईसा का प्रभावशाली चरित्र यहां पूर्ण उत्कर्ष पर है । तृतीय अंक के अष्टम दृश्य में ईसा को क्रूस पर चढ़ा दिया जाता है । इस अंक के अंतिम दृश्य में हैरोद सभी नागरिकों को इकट्ठा करके स्वयं को ईश्वर कहने के लिए बाध्य करता है तभी एकाएक अन्धकार होता है । स्वर्ग से एक प्रकाशमय दूत आकर हैरोद की छाती में तलवार भोंक देता है । एकाएक ईसा की मूर्ति दिखाई पड़ती है । अत्याचारी शासन का अन्त होता है । अन्त बड़ा अस्वाभाविक सा दिखाई पड़ता है ।

रामनरेश त्रिपाठी के "जयंत " का आरम्भ आधुनिक ढंग पर एकाएक कुसुम के कथन से होता है —"मां जयन्त को क्या खाने को दूं ? यह कई दिनों से भूखा है ।" इस कथन से एक साथ कई प्रश्न हमारे सामने घूम जाते हैं । संघर्ष से ही कथा का आरम्भ होता है । अमीरी के साथ गरीबी का संघर्ष आरम्भ हो जाता है । सेठ मनोहरलाल के दो आदमी मां बसंती को धक्का मारकर गिरा देते हैं और कुसुम बेटी के मुंह में कपड़ा ठूंस कर तथा बेटे जयंत के विरोध करने पर एक थप्पड़ मार कर कुसुम को उठा ले जाते हैं । संघर्ष तथा कुतूहल से इसका आरम्भ होता है । पहले अंक के तीसरे दृश्य में सेठ तथा उसकी कल्याणी के पारस्परिक संघर्ष से कथा विकसित होती है । पत्नी पति के कुकर्म का विरोध करती है । सेठ क्रोध से कांपने लगता है तो वह उसे पकड़ती है किन्तु सेठ धक्का देकर कल्याणी

को फर्श पर गिरा देता है और स्वयं चला जाता है। दूसरे अंक के छठे दृश्य में संघर्ष चरमसीमा पर पहुंच जाता है। डाकू (जयंत) सिपाहियों से संघर्ष करते करते उन्हें हराकर मनोहर लाल को महल के नीचे फेंक देता है। भयंकर रूप से तलवारें चलती हैं और जयंत राजकुमारी की मदद से कैदखाने से बाहर आता है। इस अपराध में राजकुमारी वन्दिनी हो जाती है। तीसरे अंक के पांचवें दृश्य में राजा रानी को कैद से राजकुमारी, जयंत आदि छुड़ाते हैं। राजा को मंत्री और जयंत की विभिन्नता का पता चल जाता है। संघर्ष अब उतार पर आ गया है तीसरे अंक के अंत में मनोहरलाल जयंत का पैर पकड़ लेता है। बिछुड़े हुए भाई बहन जयंत और कुसुम, कल्याणी, गौरी सभी मिल जाते हैं। कुसुम कल्याणी की ~~छत्र~~ छत्रछाया में समय व्यतीत कर रही थी।

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा ने प्रसाद के सभी नाटकों की शिल्पविधि पर भारतीय प्रभाव की चर्चा की है।[1] 'प्रसाद ने भी वस्तु के विकास में प्राचीन भारतीय शास्त्रीय पद्धति का सर्वथा परित्याग किया है। राज्यश्री को ही ले लें तो न प्राचीन रीति के अनुसार अंक-योजना है, न अन्य बातें ही पाई जाती हैं। राज्यश्री को ही ले लें तो उसका प्रथम संस्करण तीन अंकों वाला तथा नवीन संस्करण चार अंकों वाला है। प्राक्कथन में ही नाटककार ने उल्लेख कर दिया है कि इस नाटक का उद्देश्य राज्य श्री का चरित्र-चित्रण करना है। अब देखना यह है कि इसमें किस रीति से नायिका के चरित्र का विकास दिखाया गया है। प्रथम अंक में ग्रहवर्मा और मालवराज देवगुप्त का संघर्ष दिखाया गया है। देवगुप्त कान्यकुब्ज पर राज्यश्री को प्राप्त करने के लिए चढ़ाई करता है। उधर शांतिदेव राज्यश्री के रूप की ज्वाला पर पतंगे के समान अनायास प्राण देने को उतावला है। राज्यश्री के चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए प्रथम अंक में ही राज्यश्री के देव-मन्दिर में भिक्षुओं को वस्त्र और धन दान देने की व्यवस्था की है। इसी दान कार्य के अव-अवसर पर शांतिदेव आता है और राज्यश्री द्वारा मन को संयत करके चपलता दूर करने का उपदेश पाकर लौट जाता है। कन्नौजराज ग्रहवर्मा की युद्ध में मृत्यु होती

---

१. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', चतुर्थावृत्ति, सं० २०१० वि०, सरस्वती मंदिर, बनारस

है। शत्रु दुर्ग में घुस आए हैं। राज्यश्री मंत्री का खड्ग ले लेती है और देवगुप्त पर चलाती है। देवगुप्त उसे पकड़ लेता है। वह मूर्च्छित हो जाती है। प्रथम अंक संघर्षों से भरा है। इस अंक में राज्यश्री की पतिपरायणता, पति को युद्ध में सहर्ष भेजने वाली, देवोपासना, दानादि में अपना समय व्यतीत करने वाली होते हुए भी चरित्र रक्षा में तलवार तक चलाती है।

द्वितीय अंक में पुन: ठोकर खाया हुआ शांतिदेव विकटघोष नामक दस्यु बनकर आरम्भ में आता है और राज्यश्री की प्राप्ति के लिए राज्यवर्द्धन की सेना में छल से प्रवेश करता है। इस अंक में राज्यवर्द्धन ग्रहवर्मा की मृत्यु और राज्यश्री के कैद का प्रतिशोध लेने रणक्षेत्र में उतर पड़ा है। इस अंक के अंत में देवगुप्त और राज्यवर्द्धन में परस्पर युद्ध होता है। देवगुप्त की मृत्यु होती है। उधर विकट घोष राज्यश्री को छल से देवगुप्त की कैद से ले भागता है। तीसरे अंक में राज्यश्री वर्द्धन और पुलकेशिन की सेना रेवा-तट की युद्ध भूमि पर संघर्ष के लिए तैयार खड़ी है। राज्यवर्द्धन की हत्या बन्धुनामधारी नरेन्द्र द्वारा करवायी गई। तभी अकस्मात हर्ष वर्द्धन का मन-परिवर्तन होता है। दोनों में गले मिलकर सन्धि होती है । युद्ध समाप्त हो जाता है। दो दस्युओं के चंगुल में पड़ी राज्यश्री महात्मा दिवाकर मित्र द्वारा रक्षित होती है। महात्मा से प्रार्थना करके चिताग्नि में प्रवेश करने का उपक्रम कर रही है तभी हर्षवर्द्धन पहुंचते हैं और दोनों लोक-सेवा करके अन्त में काषाय लेने का विचार करते हुए चले जाते हैं। वस्तुत: कथा का अन्त यहीं हो जाना चाहिए था किन्तु राज्यश्री के चरित्र पर विशेष रूप से प्रकाश डालने के लिए चतुर्थ अंक की योजना करदी है। इसमें राज्यश्री को धोखा देने वाले राज्यवर्द्धन की हत्या करने वाले तथा हर्षवर्द्धन की हत्या के प्रयत्न में पकड़े गए विकट घोष को हर्ष से प्राणदान देने की इच्छा व्यक्त करती है। कृतघ्न सुरमा राज्यश्री को स्त्री की मर्यादा, करुणा की देवी इत्यादि कहकर दण्ड मांगती है। दोनों को भिक्षुवेशपूर्वक काषाय दिलवाती है।[१] हर्षवर्द्धन अपना सम्पूर्ण धन प्रजा में बांट कर काषाय-धारण करते हैं और राज्यश्री भी । राज्यश्री की बुद्धिमानी और विद्वता का परिचय कथावस्तु के अंक में मिलता है। जब कुमार राज आदि के कहने पर वह भी हर्षवर्द्धन को राजमुकुट और दण्ड ग्रहण करने की नेक सलाह देती है क्योंकि " यह लोक सेवा है। ऐसा राज्य करने का आदर्श आर्यावर्त भी

१. [illegible] - "राज्यश्री", नवां संस्करण, सं० २० [illegible], भारती भं०, पृ० ७४

की ही उपम श्री है।"[१] इसमें वस्तु का विकास न पाश्चात्य रीति से हुआ और न प्राचीन रीति से वरन् स्वच्छन्द होकर मनमानी रीति पर चला है। कई कथा धाराएं साथ चलती हैं। विकट घोष और सुरमा की कथा तो समानान्तर चल रही है इसी से वस्तु के क्रम बद्ध विकास में बाधा पड़ती है।

'अजातशत्रु' नाटक का आरम्भ पाश्चात्य नाट्शास्त्र के अनुसार विरोध से होता है। मगध, कौशल, कौशाम्बी पारिवारिक कलह और विरोध की अग्नि में जल रहे हैं। मगध में बिंबसार छोटी रानी छलना और उसके पुत्र अजातशत्रु की अधिकार लोलुपता, कुमन्त्रणा से अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। वासवी छलना के व्यवहार से पीहर चली जाती है। मगध के इस समाचार से कौशल नरेशप्रसेनजित और युवराज विरुद्धक में विरोध उत्पन्न होता है एवं राजा विरुद्धक को युवराज पद से और उसकी माता राजमहिषी पद से वंचित किए जाते हैं। माँ की प्रेरणा से विरुद्धक पिता से विरोध करके राज्य से बाहर हो जाता है। उधर मागधी के षड्यन्त्र से उदयन पद्मावती के विरुद्ध हो जाते हैं। प्रथम अंक में विरोधात्मक विभिन्न कारणों पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय अंक में विरोध का विस्तार होकर चरमसीमा पर संघर्ष पहुंच जाता है। अजातशत्रु और विरुद्धक का एक ओर हैं और प्रसेनजित तथा उदयन दूसरी ओर। तृतीय अंक में विरोध का क्रमिक ह्रास होता चला गया है। प्रति द्वन्द्विता का अभाव होता गया है। बिम्बसार का सारा परिवार तितर बितर हो गया था किन्तु अन्त तक सारे ईर्ष्या द्वेष का शमन कराकर सबको एकीकृत कर दिया है। नाटक का अन्त सुख में होता है। कथा का आरम्भ विरोध से होता है किन्तु पर्यवसान शान्ति में होता है। नाटक का आरंभ तथा विकास तथा चरमसीमा पश्चिमी सिद्धान्त पर चला है किन्तु अन्त में भारतीय कलागम का रूप दिखाई पड़ता है। न पूर्णत: भारतीय है, न पूर्णत: पश्चिमी। कई कथाओं के साथ चलने से बड़ी उलझनपूर्ण स्थिति प्रसाद के नाटकों में दिखाई पड़ती है।

'स्कंदगुप्त' में कथा का प्रारम्भ स्कंद के अन्तर्संघर्ष तथा पुष्यमित्रों और कुमार गुप्त के बाह्य संघर्ष से होता है। कुमारगुप्त विलासी है। स्कन्दगुप्त

---

१. जयशंकर प्रसाद :'राज्यश्री', दसवां संस्करण, सं० २०१८, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ० ७६

पद एवं अधिकार के प्रति उदासीन दिखाई पड़ते हैं। इसी समय मालव राज्य पर विदेशी आक्रमण होता है। अकेला वीर स्कन्दगुप्त मालव राज्य की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो जाता है। प्रथम अंक में गुप्त साम्राज्य के गृह कलह , सम्राट की विलासिता, स्कंदगुप्त की राज्याधिकार के प्रति उदासीनता, महाबलाधिकृत वीरसेन की असामयिक मृत्यु, हूणों के लगातार आक्रमणों के कारण साम्राज्य की रक्षा का जटिल प्रश्न आदि से परिचित कराया गया है। अनन्त देवी, पुरगुप्त और भटार्क के कुचक्र में कुमार गुप्त का निधन हो जाता है। इस अंक के अंत में शकों और हूणों से स्कन्दगुप्त का भयंकर संघर्ष दिखाया गया है। मालवदुर्ग का द्वार टूट चुका है। विजयी शत्रु सेनापति प्रवेश करता है। भीमवर्मा आकर रोकते हैं। गिरते गिरते भीम जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध करता है। सहसा स्कंदगुप्त सैनिकों के साथ प्रवेश करके स्त्रियों को रोकदेता है और जमकर मुकाबला करता है। सब पराजित एवं बंदी होते हैं। द्वितीय अंक में संघर्ष का विकास होता चला गया है। एक ओर अनन्त देवी भटार्क के कुचक्र से गृह-कलह जिसमें देवकी (स्कंद की माता) जैसी देवी तक की हत्या का प्रयत्न दिखाया गया है। स्कंदगुप्त ठीक समय पर पहुंचकर माता की रक्षा करता है दूसरी ओर आक्रमणकारियों का आतंक फैला हुआ है। इस अंक के अंत तक स्कंद को मालवपति गोविन्दगुप्त आदि मिलकर आर्यावर्त के सम्राट पद पर विभूषित करते हैं। इसमें गृह-कलह का दृश्य अधिक है। तृतीय अंक में भटार्क (मगध का महाबलाधिकृत) हूणों से मिलकर स्कंदगुप्त के प्रतिकूल चल रहा है। हूणों का आक्रमण होता है। बन्धुवर्मा गान्धार में युद्ध करते करते वीरगति को प्राप्त होते है। उधर कुभा के रणक्षेत्र में कृपालित और स्कंदगुप्त सेना के साथ हूणों से लड़ रहे हैं तभी कृतघ्न भटार्क हूणों से मिल जाता है। हूणों को कुभा पार करा देता है और स्कंद की सेना जब पार करना चाहती है तो बांध तोड़ देता है। कुभा में अकस्मात जल बढ़ जाता है। स्कंद सहित सेना के सब लोग बहते हुए दिखाई देते हैं। यहीं चरमसीमा कह सकते हैं। क्योंकि नायक के लिए संघर्ष, कष्ट तीव्रतम रूप में बोध हो रहे हैं।

चौथे अंक में उतार की स्थिति दिखाई पड़ती है भटार्क को लेकर विजया और अनन्त देवी में विरोध हो जाता है विजया भी देश के कल्याण में लग जाना चाहती है। माता कमला की फटकार और राजमाता देवकी की मृत्यु

के फलस्वरूप भटार्क की बुद्धि ठीक रास्ते पर आ जाती है। यही लोग संघर्ष को बढ़ावा देते थे। इन लोगों की मनोवृत्ति मंगलमय हो जाने से संघर्ष निगति की ओर आ गया। पंचम अंक में विरोधी दल बिल्कुल निर्बल हो जाता है। विजया का रत्नागार लेकर भटार्क पवित्र मन से सेना का संकलन करता है। उधर पणदित्त स्कंदगुप्त की छत्रछाया में पुन: आर्यावर्त की रक्षा के लिए सन्नद्ध होते हैं। हूण आक्रमणकारी खिंगिल बन्दी होता है किन्तु स्कन्दगुप्त आर्यावर्त में फिर कदम न रखने की सौगन्ध दिलाकर मुक्त कर देते हैं तथा युद्धक्षेत्र में ही पुरगुप्त को रक्त का टीका लगाकर स्कंदगृह-कलह मिटा देता है। अंत तक संघर्ष के बादल छँट गए।

प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त' नाटक अनेक कार्यव्यापारों का अखाड़ा बन गया है। पच्चीस वर्षों की कथा में ये अनेक कथाधाराएं विकसित हुई हैं। एक साथ अनेक पात्रों तथा कथाधाराओं के कारण वस्तु का विकास न प्राचीन भारतीय पद्धति पर ही ठीक उतरता है, न पाश्चात्य विकास की पद्धति पर ही। पाश्चात्य के प्रेरणास्वरूप संघर्षों की भरमार अवश्य दिखाई पड़ती है किन्तु कथावस्तु का क्रम बद्ध विकास नहीं हो सका है। नाटक में मुख्य कथानक चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य और नन्द तथा राक्षस का है किन्तु सिंहरण-अलका, राक्षस-सुवासिनी, चन्द्रगुप्त-कल्याणी, कार्नेलिया-चन्द्रगुप्त आदि जैसे अनेक गौण कथानकों का समावेश नाटक को बहुत विस्तृत और जटिल बना देता है। इतनी अधिक घटनाओं और पात्रों का एक सात स्मृति में धारण कर रखना सामाजिकों के लिए अत्यन्त कठिन है। इसमें से कई दृश्य सरलता से हटाए जा सकते हैं। जैसे प्रथम अंक का दूसरा दृश्य, द्वितीय अंक का छठा दृश्य आदि। पूरा नाटक युद्ध और हत्या के दृश्यों से भरा हुआ है। प्रथम अंक में ही चन्द्रगुप्त तथा सिंहरण राजनैतिक क्रान्ति उभाड़ना चाहते हैं किन्तु आम्भीक तथा अलका के अकस्मात आ जाने से विरोधी वातावरण उपस्थित हो जाता है। चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य मगध में आकर नन्दकुल के विरुद्ध संघर्ष की योजना बनाते हैं। उधर सिंहरण के प्रयत्न से आम्भीक के विरुद्ध सिन्धु-तट पर संघर्ष का आरम्भ होता है। इसी अंक में चन्द्रगुप्त का कार्नेलिया से परिचय होता है तथा सिल्यूकस भी प्रभावित होता है। दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी से चन्द्रगुप्त को विशेष महत्वपूर्ण पात्र होने का परिचय

प्राप्त होता है। कथा का आरम्भ संघर्षों से ही होता है।

द्वितीय अंक में चन्द्रगुप्त की वीरता की धाक जम जाती है। वह कार्नेलिया की फिलिप्स के वासनाजन्य आक्रमण से रक्षा करता है तथा सिल्यूकस की सहानुभूति का पात्र बनता है। निर्भीक चन्द्रगुप्त सिकन्दर की शक्ति सीमा से निकल जाता है। चाणक्य विदेशी यवनों की शक्ति का अनुमान करके पुरु और सिकन्दर के युद्ध में युक्तिपूर्वक अपने वर्ग के साथ योग देता है। पुरु और सिकन्दर की सन्धि हो जाती है। चन्द्रगुप्त क्षुद्रक एवं मालव गणतंत्र का सेनापति बनता है। चाणक्य के लक्ष्य में स्त्री पात्र भी वीर-वेष में योग देती हैं। सिकन्दर क्षुद्रकों और मालवों को कुचलता हुआ अपने देश लौटना चाहता है। राक्षस के साथ कल्याणी सहायता करती है। मालविका तथा अलका मालव दुर्ग पर सिकन्दर के आक्रमण का विरोध बहादुरी से करती हैं जिसमें सिकन्दर घायल होता है। चन्द्रगुप्त आहत सिकन्दर को सिल्यूकस के हाथ सौंप देता है और सुरक्षित लौट जाने का आदेश देता है। इस अंक में संघर्ष का विकास दिखाया गया है।

तृतीय अंक में संघर्ष का केन्द्र मगध हो जाता है। प्रथम अंक में संघर्ष नन्दकुल के उन्मूलन को लेकर ही आरम्भ हुआ था। नन्द के व्यवहार से जनता क्षुब्ध थी। इस अंक में पुन: वह कथा अविच्छिन्न होती है और चाणक्य नंद के नाश के लिए पूर्ण तत्पर दिखाई पड़ता है। राक्षस तथा पर्वतेश्वर को भी अपनी योजना में सम्मिलित कर लेता है। इस अंक में मैत्री भाव से सिकन्दर की विदाई करके वहाँ की राजनीतिक बागडोर सिंहरण के हाथ में दे देता है। चाणक्य की कूटनीति के परिणामस्वरूप नंद राक्षस और सुवासिनी पर कुपित होकर उन्हें अंधकूप में डालने का आदेश देता है जिससे जनता उद्विग्न होकरचाणक्य के अनुकूल हो जाती है। चन्द्रगुप्त इनका नेता बनता है। चन्द्रगुप्त के माता-पिता कारागार में हैं। मंत्री वररुचि अपदस्थ कर दिया गया है। अकस्मात शकटार अंध कूप से निकलता है और वह भी नंद विद्वेषी चाणक्य से मिल जाता है क्योंकि वह स्वयं क्रोधाग्नि में जल रहा है। उपर्युक्त समय देखकर जब राक्षस . और सुवासिनी को अंध कूप में डालने के लिए ले जाया जा रहा था है और क्षुब्ध जनता उत्तेजित हो रही है, शकटार की छुरी से नंद की हत्या होती है और चन्द्रगुप्त का शासन स्वीकार किया जाता है । यहाँ संघर्ष अपनी चरमसीमा पर

पहुँचकर अत्याचारी नंद के नाश का कारण बनता है।

चतुर्थ अंक में चाणक्य की नीति के फलस्वरूप कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर की हत्या होती है और चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम का अनुभव करते हुए भी अपने पिता का विरोधी समझकर स्वयं आत्महत्या कर लेती है। चाणक्य कल्याणी और पर्वतेश्वर को अपनी नीतिका शिकार बनाकर चन्द्रगुप्त को निष्कंटक बना देता है। इसी समय चन्द्रगुप्त और चाणक्य में विरोध हो जाता है। और उधर यवन सेना एकत्र हो रही है। चाणक्य दूर रह कर भी चन्द्रगुप्त को विजय दिलाने में रत है। कात्यायन को चन्द्रगुप्त की सहायता के लिए मगध भेजता है। सुवासिनी के माध्यम से कार्नेलिया के मन में चन्द्रगुप्त के प्रति प्रणय भाव जाग्रत कराता है। यवनों से युद्ध छिड़ जाता है। चाणक्य के आदेश से सिंहरण और आम्भीक घटनास्थल पर पहुँचकर सिल्यूकस को बन्दी बनाकर चन्द्रगुप्त के सामने लाते हैं। चन्द्रगुप्त उसे स्वतंत्र कर देता है। अन्त में चाणक्य चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया को प्रणयसूत्र में बाँध कर राजनीति तथा सांसारिक जीवन से विरक्त हो जाता है। चतुर्थ अंक में भी संघर्ष का विधान है किन्तु अन्त में चाणक्य की राजनीतिक चाल से संघर्ष बिल्कुल समाप्त हो जाता है। यहीं कथा का अन्त है।

शिल्प की दृष्टि से 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसकी कथावस्तु का प्रारम्भ संघर्ष से होता है। शकों के आक्रमण से रामगुप्त का संपूर्ण शिविर-मण्डल घेर लिया गया है। शकराज संधि में ध्रुवस्वामिनी की माँग करता है। इससे कथा विकसित होती है। कायर रामगुप्त शकराज की शर्त मान लेने को तैयार है। राजा और राष्ट्र की रक्षा के नाम पर अमात्य शिखर स्वामी भी इसी निर्णय को स्वीकार कर लेता है जिसका ध्रुवस्वामिनी तीव्रस्वर में विरोध करती है। प्रथम अंक में ही चन्द्रगुप्त प्रवेश करके परिस्थिति से परिचित होकर रामगुप्त तथा शिखरस्वामी की बातों का विरोध करता है। इसमें मानव मन की अन्तर्दशाओं के संघर्ष भी दिखायी पड़ते हैं। अन्त में चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के वेश में और ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त का साथ देते हुए सामन्त कुमारों सहित शकराज का सामना करने का निश्चय होता है। प्रथम अंक में

चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के परस्पर अनुराग का स्पष्ट संकेत भी प्राप्त होता है।

द्वितीय अंक की संपूर्ण घटनाएं शकदुर्ग में घटित होती हैं। ध्रुवस्वामिनी तथा ध्रुवस्वामिनी वेश में चन्द्रगुप्त शक दुर्ग में प्रवेश करते हैं। दोनों ही स्वयं को ध्रुवस्वामिनी बताते हुए फगड़ते हैं। विवाद में दोनों ही कटार निकाल लेते हैं। शकराज मध्यस्थता करने लगता है तभी ध्रुवस्वामिनी तूर्यनाद करती है। शकराज आश्चर्य से उठ सुनता हुआ सहसा घूमकर चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़ लेता है। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त हाथ छुड़ा कर शकराज को घेर लेता है। शकराज भी कटार निकालकर युद्ध के लिए अग्रसर होता है। युद्ध में शकराज की मृत्यु होती है। बाहर दुर्ग में सामन्त कुमारों तथा शकसेना में युद्ध होता है किन्तु राजा ही समाप्त हो गया तो सेना क्या लड़ती। यहां संघर्ष चरमसीमा पर पहुंच गया है। तृतीय अंक में बाहरी युद्ध तो बन्द हो जाते हैं किन्तु गृह-कलह अभी शान्त नहीं हुआ है रामगुप्त शकराज्य में पहुंचकर चन्द्रगुप्त, सामन्तकुमार आदि को लौह शृंखलाओं में बंधवा देता है। ज्योंही वह ध्रुवस्वामिनी को बन्दिनी बनाने का आदेश देता है, चन्द्रगुप्त लौह शृंखलाओं को फटककर तोड़ देता है और इसका विरोध करते हुए अपने अधिकार का सदुपयोग करता है। पुरोहित आदि सभी की इच्छानुसार चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी प्रणयसूत्र में बंधते हैं तथा रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी को मोक्ष प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त को मारने के प्रयत्न में रामगुप्त का बध किया जाता है। कथा की समाप्ति पर संघर्ष भी समाप्त हो जाता है।

सियारामशरण गुप्त के 'पुण्यपर्व' नाटक में दो आदर्शों के संघर्ष पर सम्पूर्ण कथावस्तु का आधार निर्मित है। प्रथम अंक में कुलपति का अनुचर किंकर ब्रह्मचारी बालक सुभद्र को आश्रम में मुंह दबाकर कंधे पर बिठाकर ले भागता है।[१] कथा का प्रारम्भ सुभद्र और किंकर के वाद-विवाद से होता है किन्तु विकास में

---

१. सियारामशरण गुप्त : 'पुण्यपर्व', प्रथमबार, १९३३ ई० साहित्य स०, चिरगांव, फांसी, पृ० १३

पारस्परिक विरोधी घटनाएं स्पष्ट रूप में नहीं आई हैं। सुतसोम अपने सहचर सचिव आदि के साथ 'नरखादक' का पता लगाने का प्रयत्न करता है। द्वितीय अंक में प्रयत्न की स्थिति रहती है। तीसरे अंक में सुत सोम को बुलदत्त किंकर की सहायता से पकड़ लेता है। अंतावस्था में सुतसोम रस्सी में वृक्ष से बंधे हुए पड़े हैं। इस अंक में आदर्शों का संघर्ष चरमसीमा पर पहुंच जाता है। चरमसीमा पर ही उतार या निगति के दर्शन होने लगते हैं और बुलदत्त सुतसोम के बन्धन अपनी तलवार से काटता है। बुलदत्त के हिंसात्मक आदर्श पर सुतसोम के अहिंसात्मक आदर्श की विजय स्पष्ट परिलक्षित होती है। तीसरे अंक के अंत में सभी संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। बुलदत्त सुतसोम से कहता है —

' आपका अनुशासन सिर-माथे है। आप मुझे अपनी सेवा में ले लीजिए जिसमें मैं भी सज्जनों के धर्म का कुछ अभ्यास कर सकूं।'[१] जिसमें किंकर सुत सोम के चरणों की शरण लेता है। सुतसोम के पिता ने किंकर को फांसी की सजा दी थी। वह कैदखाने से भागा हुआ व्यक्ति बुलदत्त का प्रधान अनुचर बना था। दोनों सुतसोम के शत्रु थे किन्तु दोनों ही पराजित हुए।

यमुनाप्रसाद त्रिपाठी के 'आजादी या मौत' नाटक में कथा के विकास पर शेक्सपियर का पूर्ण प्रभाव दिखाई पड़ता है। छली राजा मलखान कहीं न कहीं युद्ध करने की बात सोच ही रहा था कि वाद-विवाद में उसके भाई की मृत्यु सुलखान के हाथों हो जाती है। प्रथम अंक के सातवें दृश्य में पृथ्वीराज और मलखान रणस्थल में युद्ध के मध्य पाए जाते हैं। चन्दवरदायी के आगमन से यहीं प्रलय होने से बच जाता है और कथा समाप्त नहीं होती है। तीसरे अंक में संघर्ष चरमसीमा पर पहुंच जाता है। पृथ्वीराज मलखान से हार नहीं मानना चाहते हैं अतः फिर यह युद्ध भयंकर रूप लेता है जिसमें सुलखान को छल से मारा जाता है तथा मलखान को भी छल से खाई में गिराकर पृथ्वीराज मार डालते हैं। यहीं एकाएक उतार पर आकर कथा समाप्त हो जाती है। पृथ्वीराज मलखान की पत्नी गजमोतिन की

---

१. सियारामशरणगुप्त : 'पुण्यपर्व', पु०वार, साहित्य सदन, चिरगांव, झांसी, पृ० नाटक का अन्त, १९३३ ई०

वीरता तथा स्वाभिमान देखकर पराजय स्वीकार करते हैं और संघर्षों का अन्त होता है। युद्ध और हत्या तथा कुतूहल वर्द्धक दृश्यों से सम्पूर्ण कथावस्तु आवृत है।

किशोरीदास बाजपेयी के 'द्वापर की राज्यक्रान्ति' में कथा का विषय पौराणिक है किन्तु दृष्टिकोण नवीन है। वस्तु का विकास भी नवीन ढंग पर विरोध के आधार पर हुआ है। प्रथम अंक में प्रमुख पात्रों तथा उनके उद्देश्यों से हमारा परिचय होता है। कृष्ण और सुदामा देश की शासन व्यवस्था में परिवर्तन उपस्थित करना चाहते हैं। प्रजा पीड़क नरेशों का दमन करके और प्रजा रंजक नरेशों का संगठन करके एक भारतीय साम्राज्य कायम करना तथा देश से निरक्षरता को मिटाना क्रमशः कृष्ण और सुदामा का दृढ़ विचार है। एक तीसरा मित्र सर्वांश दोनों का विरोध करता है। दूसरे अंक में कथा का विकास पाया जाता है। सुदामा विजयनगर गाँव में पहुँच जाते हैं और प्रजा को शिक्षा देने के साथ ही राजा के अत्याचार से भिड़ जाते हैं। उधर कृष्ण विजयनगर को द्वारका साम्राज्य में मिलाने की इच्छा व्यक्त करते हैं। राजा सर्वांश और मंत्री से मिलकर कृष्ण सुदामा से युद्ध की तैयारी करता है। तीसरे अंक में सुदामा की निर्धनता चरमसीमा पर पहुँच गई है किन्तु कृष्ण और सुदामा विजयनगर के राजा को पराजित करते हैं। कृष्ण की सेना थोड़ी लड़ाई के पश्चात् विजयी होती है क्योंकि राजा का साथ प्रजा नहीं देती है। अत्याचारी राज्य समाप्त होता है। चतुर्थ अंक में सुदामा एक पाव चावल लेकर फटे पुराने वस्त्रों में कृष्ण के पास जाते हैं। कृष्ण और रुक्मिणी उनका बहुत आदर करते हैं। सुदामा के मतानुसार कृष्ण सर्वांश को कैद से मुक्त करके अपने यहाँ राजपंडित का पद देते हैं यहाँ संघर्ष का उतार ही नहीं अन्त भी हो जाता है। कृष्ण सुदामा को विजयनगर का राज्य दे देते हैं। पाँचवें अंक में सुदामा तन-मन-धन से विजयनगर की प्रजा के प्रबन्ध में रत दिखाई पड़ते हैं।

चतुरसेन शास्त्री के 'अमर राठौर' में युद्ध और हत्या के दृश्य भरे पड़े हैं। विकास की पाँचों अवस्थाओं का उचित क्रम नहीं पाया जाता है। प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में अमरसिंह और सलावत खाँ की मित्रता के लिए शाहजहाँ की

प्यास की घटना की सृष्टि की गई है। प्रमुख कथा दूसरे दृश्य में शाहजहाँ और अमर सिंह के आपसी विरोध से आरम्भ होती है। अमरसिंह बादशाह की नौकरी छोड़कर अपनी तलवार के बल पर नये राज्य की स्थापना का संकल्प करता है।[1] इसी बीच सलावत खाँ बीकानेर से अमर की फौज हटाने का शाही हुक्म लेकर आता है जिसकी अमरसिंह अवहेलना करता है। तथा सलावत खाँ अमर सिंह से तारा का विवाह शाहजादे से करता है जिसपर अमरसिंह क्रोधित हो उठता है। दूसरे अंक के पाँचवें दृश्य में भरे दरबार में अमरसिंह सलावत खाँ के दुष्टतापूर्ण व्यवहार से आहत होकर उसकी छाती में कटार घुसा देता है और बादशाह पर भी झपटता है। बादशाह के हथियार बन्द सिपाही अमरसिंह पर टूट पड़ते हैं किन्तु पहले से ही तैय्यार किशना नाई घोड़ों सहित प्रवेश करता है और अमरसिंह घोड़े पर कूद कर बैठ जाते हैं। हजारों सिपाही टूट पड़ते हैं किन्तु किशना अमरसिंह को निकल भागने का संकेत करता है। घनघोर युद्ध होता है। अमरसिंह शत्रुदल को चीरते हुए घोड़े समेत बुर्ज पर चढ़ जाते हैं। सैकड़ों सिपाही किशना पर एक साथ टूट पड़ते हैं। अमर सिंह बुर्ज पर से किशना को प्रणाम करते हैं। घोड़ा कूदकर राजा को लेकर भागता है। किशना मारा जाता है। यहाँ चरमसीमा पर संघर्ष पहुंच गया है। कथा विरोध से आरम्भ होकर एकाएक चरमसीमा पर पहुंच जाती है। कथा का विकास किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं हुआ है वरन् अपनी रुचि के अनुकूल संघर्ष दिखाया गया है। संघर्ष धीरे धीरे कम होना चाहिए किन्तु अमरसिंह का साला लालच में उसे बादशाह के पास सुलह कराने के लिए ले जाने में खिड़की में घुसते समय स्वयं अमर सिंह का सिर काट डालता है। बादशाह अर्जुन सिंह के इस दुष्कर्म की उचित सजा देकर उसे जिंदा पृथ्वी में गड़वा देता है। किन्तु राजा की लाश बुर्ज पर सात दिनों के लिए रखी होने से संघर्ष कम नहीं होता है। रामसिंह, बल्लूराव और शहनाज खाँ राजा की लाश युद्ध करके ले आते हैं। अन्त में राजसिंह भी पहुंच कर दारा को हराता है। इसके बाद दारा और राजसिंह संघर्ष मिटाकर परस्पर मित्र बनते हैं। तारा और राजसिंह का विवाह एक दूसरे का हाथ पकड़ा कर किया जाता है।

---

१. चतुरसेन शास्त्री : `अमर सिंह राठौर`, पृ० बार, १९३३ ई० सितम्बर, सा०म०प्रा०वी०, दिल्ली, पृ० ८

प्रो० सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' पाश्चात्य संघर्षमय विकास की अवस्थाओं का पालन करता है। प्रारम्भ में ही औरंगजेब के सेनापति रणदूलह का विजया को ले जाने के प्रयत्न में छत्रसाल, दलपति का सेनापति से संघर्ष चित्रित किया गया है। सेना को परास्त करके सेनापति को छत्रसाल बन्दी बनाता है। प्रथम अंक के नवें दृश्य में प्रतिपक्षी शक्ति संगठित करके चम्पतराय से संघर्ष बढ़ाता है। इस संघर्ष में कथा का विकास निश्चित है। दूसरे अंक के आठवें दृश्य के अन्त में संघर्ष चरम-सीमा पर दिखाई पड़ता है। चम्पतराय लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त करते हैं। तीसरे अंक में प्रथम दृश्य में विरोधी पक्ष में फूट पड़ने से संघर्ष स्वयं ही उतार पर आ गया है। अन्त में औरंगजेब भी नम्र हो जाता है। बुंदेलखण्ड में स्वतंत्रता की ध्वजा फैला दी गई है। पृथ्वीनाथ शर्मा के 'अपराधी' में कथा का प्रारम्भ नंद और अशोक के वाद विवाद से होता है। प्रथम अंक के तृतीय दृश्य में कथा एकाएक विचित्र मोड़ लेती है। वाद -विवाद में अशोक के चाचा ने उसे घर से निकाल दिया। वह विचार मग्न अवस्था में सड़क पर चला जा रहा है तभी एकाएक भीड़ चोर! चोर! का हल्ला करती है। असली चोर अशोक की जेबमें घड़ी डालकर स्वयं भाग निकलता है। अशोक पकड़ लिया जाता है। इस घटना से कथा विकसित होती है। चरमसीमा पर सभी पात्रों के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है जब अदालत के कटघरे में अभियुक्त खड़ा है और कालेज के छात्र -छात्राएं मैजिस्ट्रेट के फैसले की व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहेहैं। एकाएक परिस्थिति फिर विचित्र मोड़ लेती है जिससे अन्तर्द्वन्द्व , बहिर्द्वन्द्व सब उभर कर आ जाता है। एक युवक अदालत में आकर स्वयं को असली अपराधी घोषित करता है तथा अशोक को निरपराध सिद्ध करता है। अन्त में यह बात खुल गई है कि असली अपराधी अशोक से बराबर मिलने वाली दो बच्चों की माया का पति था।

पं० गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटकों में पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण कहा जा सकता है किन्तु विकास की अवस्थाओं तथा अन्य बातों में पन्त जी ने अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति का परिचय दिया है। 'वरमाला' नाटक में कथा का प्रारम्भ संघर्ष से होता है। वैशालिनी के स्वयंवर की तैयारी होती है इसी बीच अविक्षित-वैशालिनी में मतभेद हो जाने के कारण स्वयंवर से ही अविक्षित उसे लेकर भाग जाता है। उसे राजा विशाल की सेना से भयंकर संघर्ष करना पड़ा।

प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में कथा एक नवीन मोड़ लेती है। वैशालिनी की घृणा ने प्रेम का रूप लिया तो अविजित का प्रेम प्रतिशोध की अग्नि में जलकर सदा लुप्त हो जाता है। अविजित वैशालिनी को छोड़कर चला जाता है। वैशालिनी अपने पिता के नाम एक पत्र लिखकर स्वयं अविजित की खोज में निकल पड़ती है। वन में तपस्या करती हुई वैशालिनी को राक्षस पकड़ना चाहता है। `बचाओ , बचाओ` की ध्वनि सुनकर अविजित राक्षस की हत्या करता है और दोनों परस्पर क्षमा करके मिलते हैं। वैशालिनी सूखी वरमाला अविजित के गले में डालती है। इसमें अविजित और वैशालिनी के प्रेम की कथा है। जिसकी परिणति विवाह में होती है किन्तु प्रेम से आरम्भ होकर मध्य में अप्रत्याशित घटनाओं जैसे वैशालिनी का हरण, अविजित का विक्षिप्त होना और वैशालिनी के घृणा का प्रेम में परिवर्तन किन्तु प्रतिशोध भाव से अविजित द्वारा उसका तिरस्कृत होना, आदि कथा के विकास में सहायता प्रदान करते हैं। अन्त में दोनों का पुनर्मिलन होता है। घृणा, प्रेम, तिरस्कार, अवहेलना , फिर स्वामी प्रेम के क्रम से कथानक का विकास पाया जाता है।

पन्त जी का `राजमुकुट` भी दो पक्षों में द्वन्द्व की कथा को लेकर विकसित हुआ है। राजमुकुट के लिए द्वन्द्व ~~की~~ वनवीर , शीतलसैनी तथा रणजीत सिंह से पन्ना, उदयसिंह और कर्मचन्द तथा आशाशाह आदि में चलता है। कथा का आरम्भ संघर्ष से होता है। राजमुकुट के लिए वनवीर और उसकी माँ शीतल-सैनी विक्रम को मरवा डालने का कुचक्र रचते हैं। सभी विक्रम का विरोध क्रमशः यह कहकर कि वह विलासी हो गया है, करते हैं। यह विरोध बढ़ता ही जाता है। प्रथम अंक के सप्तम दृश्य में वनवीर विक्रम की हत्या करने के उपरान्त उदयसिंह समझ-कर पन्ना धाय के पुत्र चन्दन की छाती में कटार भोंक देता है। उसी रक्त से शीतलसैनी वनवीर का तिलक करती है। द्वितीय अंक में कर्मचन्द वनवीर के प्रतिकूल मेवाड़ की जनता को उत्तेजित करने का कार्य करते हैं।[1] तृतीय अंक में पन्ना

---

1. गोविन्दवल्लभ पन्त : `राजमुकुट` , प्रथमावृत्ति, सन् १९३५ ई०, गं०पु०मा०का०, लखनऊ, द्वितीय अंक, पृ० ७२

आशाशाह के यहाँ उदय को ले जाकर शरण दिलवाती है। अन्त में पन्ना के अपूर्व त्याग, स्वामिभक्ति, सेवा तथा आशाशाह एवं कर्मचन्द की सहायता से वनवीर बन्दी होता है और उदयसिंह को पन्ना स्वयं अपने हाथों "राजमुकुट" पहनाती है। अन्त में अन्तर्संघर्ष, बहिर्संघर्ष सभी समाप्त हो जाते हैं। वनवीर अपनी भूलों के लिए क्षमा माँगता है। वह बन्धन मुक्त होता है।

पन्तजी के "अंगूर की बेटी" का प्रारम्भ भी नवीन के अनुकरण पर कामिनी के अन्तर्द्वन्द्व तथा मोहन दास के विरोध से होता है। चार महीने से बिजली का बिल नहीं दिया गया है। शराबी पति ने सब पैसे समाप्त कर डाले हैं।" वह क्या करे और क्या न करे की स्थिति में पड़ी छटपटा रही है तभी हरिहर मोहनदास को गंदी नाली से उठाकर कोट फाड़ता हुआ लाता है। हरिहर उसे शराब की बुराइयां बताता है पर वह बराबर विरोध करता जाता है। मोहनदास अपनी पत्नी के आभूषण तक बोतल से मार कर बेहोश करके उठा ले जाता है। शराब के नशे में बेहोश हो जाने पर माधव उन आभूषणों को उसकी जेब से निकाल लेता है। माधव की अंगूठी उसकी जेब में गिर जाती है। इससे कथा विकसित होती है। घर पहले ही आग में जल चुका है, पैसे समाप्त हो चुके हैं, मित्र भी शत्रु हो रहे हैं। इधर मोहनदास को विनोद के होटल में स्थान मिल गया है किन्तु कथा पुन: एक अप्रत्याशित मोड़ लेती है। मोहनदास माधव से जाकर भिड़ जाता है तथा इसी संघर्ष में माधव की पिस्तौल मोहन के हाथ में आ जाती है और वह क्रोध में चला देता है परन्तु निशाना चूक जाने से माधव बच जाता है। मोहनदास को पुलिस पकड़ ले जाती है। यहाँ कथा का चरमोत्कर्ष है। दूसरे अंक के चौथे दृश्य में विनोद अपना छद्मवेश उतार कर कामिनी बनती है और माधव की अंगूठी दिखाकर मोहनदास को मुकदमे से छुड़ाती है। कामिनी के पिता के होटल में रहते हुए मोहनदास को नित्यप्रति शराब में जल की मात्रा बढ़ाकर दिया जा रहा है। फलस्वरूप तीसरे अंक में अंत में मोहनदास शराब के दुर्व्यसन से मुक्त हो जाता है। इसमें कथा का विकास भारतीय तथा पाश्चात्य शास्त्रीय पद्धति पर न होकर स्वच्छन्द रीति से हुआ है। पन्त जी 'सुहागबिन्दी' का आरम्भ विजया के संघर्षमय जीवन से करते हैं। विजया के मोटर दुर्घटना में चोट खाकर लखनऊ अस्पताल में डाक्टर और नर्स की सेवा से कथा का प्रारम्भ

होता है। विजया को बार बार अपनी मृत्यु की कामना करते हुए पाते हैं। रात को अस्पताल से चुपके से भाग निकलती है। स्टेशन आती है। उसके पास पैसे एक भी नहीं हैं किन्तु शरीर पर कुछ आभूषण हैं जिन्हें वह अपने आंचल के छोर में बांध लेती है। कान के बुंदे देकर वह एक रूपया मांगती है किन्तु उसे खोटा बता कर लोग पैसे देने से इन्कार करते हैं। दूसरे अंक में कथा का विकास प्रथम दृश्य में कुमार के रेवा से विवाह से होता है और रेवा के हाथ कुमार के द्वारा फाड़े गए पत्र का एक टुकड़ा पड़ जाता है जिसमें दो अधूरी पंक्तियां लिखी हैं — 'अभागिनी ! तुझे पत्नी कहते मुझे लज्जा — और दूसरी पंक्ति — 'मेरे लिए तू मर चुकी और तेरे — '।[१] विजया का सड़े समाज से संघर्ष तृतीय अंक के तृतीय दृश्य में चरमसीमा पर पहुंच जाता है जब विजया अपने पिता के घर जाती है और पिता पहचान कर भी न पहचानने का उपक्रम करता है। विजया के समझाने पर भी वह नहीं मानता है और द्वार बन्द कर लेता है। उसका छोटा भाई बहन को रखने के लिए पिता से जिद करते हुए असफल रहता है। चौथे अंक के प्रथम दृश्य में वह अपने पति कुमार के यहां जाती है। वह भी चुड़ैल कहकर, लात मारकर धक्के देकर उसे निकाल देता है और द्वार बन्द कर लेता है। विजया पति तथा उसकी नवेली बहू की दासी बनकर रहना स्वीकार करती है किन्तु पति बदनामी के डर से उसे नहीं रखता। चौथे अंक के तृतीय दृश्य में उतार की स्थिति का आभास प्राप्त होता है। यहां विजया ने रेवा को विश्वास दिला दिया है कि वह मरी नहीं थी बल्कि उसके पति ने बदनामी के भय से उसे मरा घोषित कर दिया। पति एक भूल को छिपाने के लिए न पहचानने आदि की भूल उत्तरोत्तर करता ही जाता है। पांचवें अंक के अंत में रेवा विजया को दुल्हन की तरह सजाती है। कुमार आता है। दुल्हन की तरह विजया को रेवा समझता है परन्तु वास्तविकता का ज्ञान होने पर (मन के सारे कलुष धुल चुके हैं।)उसे हिलाता है, डाक्टर को लेने जाता है किन्तु डाक्टर आकर उसे सांप के काटने तथा हृदय गति बन्द हो जाने की बात ही बताता है। रेवा और कुमार दु:खी होते हैं किन्तु अब सब बेकार था। दुखान्त नाटक बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग पर लिखा गया है।

पन्त जी के तीन अंक वाले नाटक 'अंत:पुर पुर का छिद्र' में कथा का

---

१. गोविन्दवल्लभ पन्त 'सुहागबिन्दी', तृ०सं०, २००६ वि०, गं०पु०,मा०का०,लखनऊ,

विस्तार पद्मावती के बुद्ध के प्रति आकर्षण से होता है। कथा का प्रारम्भ परिचयात्मक है। पद्मावती ने अपने कक्ष की दीवार में प्रतिदिन संध्या समय राजमार्ग से जाते हुए बोधिसत्त्व के दर्शन के लिए कुछ ईंटों को हटाकर एक छिद्र बना लिया है और छिद्र के सामने उदयन की तस्वीर लटका देती है। फिर भी प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही मार्गंधिनी को इस रहस्य का पता चल जाता है। बुद्ध ने कभी मार्गंधिनी से विवाह करने से इन्कार कर दिया था अतः वह प्रतिशोध की अग्नि में जल रही है। प्रथम अंक में सभी प्रमुख पात्रों से हमारा परिचय हो जाता है तथा इसका उद्देश्य भी प्रच्छन्न रूप में झलकने लगता है। मार्गंधिनी की पद्मावती और बुद्ध के साथ ईर्ष्या और प्रतिशोध के कारण द्वितीय अंक में पद्मावती और बुद्ध के विपरीत षड्यन्त्र से कथा का विकास होता है। उदयन के मन में पद्मावती के प्रति दुश्चरित्रता का बीज डालने में वह सफल होती है। तृतीय अंक में ईर्ष्या प्रतिशोध, एवं क्रोध अपनी चरमसीमा पर पहुंच गया है। उदयन पद्मावती को मारने के लिए बाण चलाता है, तभी बुद्ध छिद्र के द्वारा बाहर गया एक बाण लिए कक्ष में प्रवेश करते हैं। उधर मालिनी मार्गंधिनी के सर्प की रहस्य की बातें बताकर उदयन का संदेह समाप्त करती है। पद्मावती की अमिताभ की शरण में जाने की इच्छा पूर्ण होती है। उदयन भी शिष्यत्व ग्रहण करते हैं। चरमसीमा पर कथा एकाएक समाप्त हो जाती है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक' नाटक पर शेक्सपियर के अनेक कथानक की धारा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कथा का प्रारम्भ विरोध से होता है। प्रथम अंक में अत्याचारी बिन्दुसार से प्रजा असंतुष्ट दिखाई पड़ती है। बिन्दुसार अशोक को मरवाने के लिए भवगुप्त (बिन्दुसार का बड़ा लड़का) से कहता है जिसका भवगुप्त तथा उसका मंत्री चन्द्रसेन विरोध करते हैं। चन्द्रसेन पगड़ी बिन्दुसार के चरणों में फेंक देता है। दूसरे अंक में संघर्ष बढ़ता ही गया है। बिन्दुसार चन्द्रसेन को मारने के लिए सिपाहियों को भेजता है किन्तु भेद पता लग जाने से भवगुप्त ठीक समय पर पहुंचकर मंत्री की रक्षा कर लेता है और कहीं दूर चले जाने की राय देता है। इसी अंक में अशोक को मरवाने का प्रयत्न भी किया गया है। अशोक के मंत्री हैंटीपेटर द्वारा बचा लिया जाता है। अशोक बिन्दुसार की नीयत से परिचित होकर पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने को प्रस्तुत होता है। तीसरे अंक में चरमसीमा पर बिन्दुसार की मृत्यु हो जाती है।

इस अंक में एंटीपेटर तथा भवगुप्त को भी धर्मनाथ मारने का प्रयत्न करता है। चौथे अंक में धर्मनाथ के षड्यन्त्र से कलिंग-युद्ध होता है। अशोक को विवश होकर राजा बनना पड़ता है। युद्ध में बहुत लोग मारे जाते हैं। अशोक की विजय होती है। पाँचवें अंक में अशोक युद्ध त्याग कर उपगुप्त का शिष्य बनता है। विकास की अवस्थाओं पर प्रसाद का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। अशोक के नेक चरित्र और सहृदय स्वभाव का चित्रण नाटककार का उद्देश्य प्रतीत होता है।

मिश्र जी के 'सिन्दूर की होली' में रिश्वत और हत्या द्वन्द्व के प्रमुख आधार हैं जिनका परिचय लोगों को प्रथम अंक में ही प्राप्त हो जाता है। प्रथम अंक में मनोजशंकर और चन्द्रकला के भावी पति-पत्नी के रूप में एक दूसरे के प्रेम तथा मनोजशंकर के पिता सम्बन्धी रहस्य को संकेत मात्र पाया जाता है। मुरारीलाल रायसाहब भगवन्तसिंह से मनोज के विलायत जाने का खर्च रिश्वत के रूप में ले लेना चाहते हैं। माहिरअली मुरारीलाल का विरोध करता है किन्तु लालच ने मुरारीलाल का गला दबा रखा है। वह माहिरअलीकी बात को अनसुना कर जाता है। द्वितीय अंक में इस एक द्वन्द्वसे अनेक द्वन्द्वों की सृष्टि हो जाती है। मनोजशंकर और मनोरमा में प्रेम पर द्वन्द्व चल रहा है। इसी अंक में चन्द्रकला रजनीकांत की सुन्दर भोली शक्ल पर अनुरक्त हो जाती है और साथ ही अस्वस्थ भी हो जाती है जिसे मुरारीलाल के पाप का प्रतिफल कहना अधिक उपयुक्त होगा। थोड़ी देर के लिए मनोजशंकर और चन्द्रकला का व्यवहार परस्पर समझौतापूर्ण हो जाता है। मुरारीलाल रिश्वत के चालीस हजार स्वीकार कर लेते हैं। तीसरे अंक में चन्द्रकला द्वन्द्व की चरमसीमा पर अस्पताल में जाकर रजनी कांत के मृतप्राय हाथ से अपनी मांग में सिन्दूर भर लेती है और आजन्म वैधव्य स्वीकार कर लेती है। मुरारीलाल क्या करे क्या न करे की स्थिति में मानसिक द्वन्द्व से पीड़ित है क्योंकि चन्द्रकला अब उनके पास रहना स्वीकार नहीं करती है। मनोजशंकर अपने पिता की मृत्यु का रहस्य न जानने से चन्द्रकला के प्रति सन्तोषजनक व्यवहार नहीं करता है। इससे चन्द्रकला अपमानित होती है। अन्त में माहिरअली इस रहस्य को खोलता है कि उसके पिता की हत्या मुरारीलाल द्वारा करवाई गई है। आरम्भ से अन्त तक मुरारीलाल मनोजशंकर के बाप का खून पचाने में अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित रहे। मनोजशंकर रहस्य जानने में अंतर्संघर्ष के कारण न पढ़ने में मन लगाता है, न किसी कार्य में अन्तिम अंक में चन्द्रकला के वाक्य बड़े मनोवैज्ञानिक रीति से कहे गए हैं — इनके बाप

की हत्या आपसे हुई और उसका बदला ये लेते रहे मुझसे बार बार मुझे ठोकर मार कर। अस्पताल में मैं गई थी जैसा कि आप देख रहे हैं..... मेरे सिर पर.. यह सिन्दूर उस पचास हजार का प्रायश्चित है।[१] खून पचाने, रिश्वत पचाने में मुरारीलाल प्रतिक्षण संघर्ष में डूबे रहते हैं। मनोज को प्रसन्न रखकर चन्द्रकला का विवाह करना चाहते हैं परन्तु वह भी नहीं कर पाये। अन्त में संघर्ष समाप्त हो जाता है क्योंकि हत्या का रहस्य प्रकाशित हो जाता है और रिश्वत का प्रतिफल मिल जाता है। दस वर्ष पूर्व माहिरअली भी हत्या में शामिल था। मनोज से रहस्य बता दूं या न बताऊं के अन्तर्द्वन्द्व में वह भी भूल रहा था परन्तु अन्त में यह रहस्य खोलकर अपने को शान्त करता है।

मिश्रजी के `राजयोग` में कथा का प्रारम्भ गजराज के अन्तर्द्वन्द्व से होता है -- इस अन्तर्द्वन्द्व का प्रकाशन शत्रुसूदन के शब्दों में होता है -` मनुष्य जो बात छिपाकर रखता है, वह विष से भी भयंकर और छुरी से भी तेज होती है.......... । उधर रघुवंश दो बच्चों की मृत्यु और तीसरे के लापता हो जाने से मानसिक पीड़ा का अनुभव करता हुआ कभी आत्महत्या की बात सोचता है और कभी पाप का फल भुगतने को तैयार रहता है। पात्रों के मन में संघर्ष का प्रारम्भ प्रथम अंक में हो गया है। द्वितीय अंक में संघर्ष बढ़ता ही गया है। नरेन्द्र गजराज को योगबल से अचेतन बना देता है और मानसिक ग्रन्थि तथा अन्तर्द्वन्द्व के जितने भी कारण है, वह नरेन्द्र के प्रश्न के उत्तर रूप में स्पष्ट करता जाता है। वह चम्पा को बिहारी सिंह की पत्नी से उत्पन्न अपनी बेटी बताता है। वास्तविकता का ज्ञान होने पर शत्रुसूदन चम्पा का त्याग करता है। तृतीय अंक में नरेन्द्र के आने पर संघर्ष समाप्त हो जाता है। शत्रुसूदन चम्पा को अपनी पत्नी रूप में स्वीकार करने को तैय्यार होता है। नरेन्द्र गजराज के साथ समाज सेवा के लिए चल देता है। मानसिक संकीर्णता के कारण चम्पा का जन्म एक समस्या बन जाता है। और व्यापकता में समाधान हो जाता है।

`मुक्ति का रहस्य` नाटक में मिश्र जी ने कथा का आरम्भ अन्तर्द्वन्द्व से किया है। आशा देवी ने मनोहर की मां का उमाशंकर के प्रेम पर एकाधिकार

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र :` सिन्दूर की होली` , प्रथम संस्करण, १९३४ ई०, भारती भंडार, बनारस सिटी, पृ० १७०

स्थापित करने के लिए विष दे दिया । अपने इस जघन्य कर्म के कारण वह अन्तर्द्वन्द्व की ज्वाला में जल रही है । मनोहर से स्वयं को माँ कहलाना चाहती है जिसके लिए मनोहर कभी भी तैयार नहीं है । वह अपनी माँ के न होने का रहस्य जानना चाहता है । उधर डाक्टर साहब आशादेवी को अपनी वासनापूर्णतृप्ति का का साधन बनाना चाहता है । आशादेवी के इन्कार करने पर उमाशंकर से विष वाली बात कह देने की धमकी देता है । इससे आशादेवी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव करती है और पाप को छिपाने के लिए वह अनुकूल बन जाती है । दूसरे अंक में उसका अन्तर्द्वन्द्व बढ़ता ही जाता है क्योंकि डाक्टर उसका पिंड नहीं छोड़ना चाहता । इसी उलझन की परिस्थिति में वह स्वयं भी बचा हुआ विष ले लेती है । इससे कथा विकसित होती है । बहुत प्रश्न करने पर आशादेवी मनोहर की माँ को विष देने वाली बात के साथ ही डाक्टर का रहस्य भी स्पष्टत: बता देती है । उमाशंकर उद्विग्न अवस्था में पिस्तौल लेकर डाक्टर को मारने के लिए जाने को प्रस्तुत होते हैं किन्तु आशादेवी उन्हें समझाकर शांत करती है और स्वयं डाक्टर से शादी के लिए तैयार हो जाती है । स्तब्ध उमाशंकर के मुंह से निकल पड़ता है — पर..... मैं भी तुम्हें....... प्रेम .... " आशा उमाशंकर के पैरों पर सिर रख देती है तो वह मूक अभिनय द्वारा डाक्टर से शादी की अनुमति दे देते हैं । इस प्रकार चरमसीमा पर ही कथा एकाएक समाप्त होजाती है । इसकी मूल समस्या सेक्स सम्बन्धी है जिसका समाधान नहीं मिलता है क्योंकि यह ऐसी समस्या भी है ।

मिश्र जी के 'राक्षस का मन्दिर' में सत-असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष दिखाया गया है । मुनीश्वर असत् प्रवृत्तियों का प्रतीक है । जिसे राक्षस कहा जा सकता है । रामलाल तथा रघुनाथ सत् प्रवृत्तियों के प्रतीक है । बाल्यावस्था में रामलाल के रखैल के रूप में आई अस्करी ही कथा का केन्द्रबिन्दु बनती है । प्रथम अंक में रामलाल वकील के शराबी चरित्र तथा अस्करी के संरक्षक जो उसे प्रेम भी करता है और उसके लिए त्याग भी कर सकता है किन्तु उसकी प्राकृतिक यथार्थ समस्या को समझने में असमर्थ है, का परिचय प्राप्त होता है । अस्करी बूढ़े रामलाल से हटकर कभी मुनीश्वर और कभी रामलाल के पुत्र रघुनाथ की ओर झुकती है । रामलाल वेश्या और शराब से दूर रहकर साधु जीवन व्यतीत करना चाहता है । शराब , सिगरेट आदि वस्तुएं फेंकवा देता है तथा अस्करी और

रघुनाथ दोनों को अपने से दूर रहने का आदेश देता है। अश्करी जाते समय रघुनाथ की एक कविता की पुस्तक लेती जाती है। प्रथमअंक में ही पात्रों का संघर्षमय जीवन प्रारम्भ हो गया है। मुनीश्वर जैसा कामुक, महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अश्करी तथा रामलाल और रघुनाथ के जीवन में प्रवेश पा गया है किन्तु प्रथम अंक में ही अश्करी को मुनीश्वर के पत्नी, पिता और पुत्र को त्यागने की बात का पता लग जाता है जिससे वह मुनीश्वर की ओर खिंच जाती है। कथा का आरम्भ विरोध से ही होता है। रघुनाथ और अश्करी के प्रति रामलाल सन्देह प्रकट करता है जिसका रघुनाथ विरोध करता है किन्तु रामलाल उसे घर से निकाल देता है। अश्करी भी भूठबोलकर रघुनाथ को धोखा देती है। अश्करी के प्रारम्भिक जीवन का परिचय मिलता है। रामलाल इसी अंक में रघुनाथ को निकाल देने और अश्करी को लाने की भूल का प्रायश्चित करते हैं। द्वितीय अंक में अश्करी का जीवन बिल्कुल ही परिवर्तित हो गया है। अश्करी ललिता के पास रहती है। वह अपनी अतीत गाथा एक वेश्या के जीवन की कहानी बनाकर कहती है। भावावेश में रो पड़ती है। तभी रघुनाथ भी वहां ललिता, अश्करी से मिलता है किन्तु अचानक ललिता अश्करी को मुसलमान जानकर घर से निकाल देती है। रघुनाथ इस संकीर्णता से क्षुब्ध होकर दुखी होता है क्योंकि अश्करी और रघुनाथ अब बहुत ऊपर उठ चुकी है । अश्करी के अपमान से ललिता के प्रेम को ठुकरा कर रघुनाथ चला जाता है। उधर अश्करी और रघुनाथ का मुनीश्वर के चरित्र पर अविश्वास दृढ़ हो जाता है। अन्त में वासनापूर्ति के लिए खोले गए आश्रम की व्यवस्थापिका बन कर अश्करी मुनीश्वर की लालसा समाप्त कर देती है। अश्करी अब देवी रूपा हो गई है। रघुनाथ ललिता मिल जाते हैं। प्रारम्भ में अश्करी प्राकृतिक बुभुक्षाओं से पीड़ित है। रामलाल से इसकी कभी आशा नहीं की जा सकती। मुनीश्वर केवल स्वार्थ के लिए प्रेम करता है। अश्करी के प्रणय-निवेदन को स्वीकार भी नहीं करता और नकारात्मक उत्तर भी नहीं देता। दूसरे अंक में सभी ओर से निराश अश्करी स्वयं अपने उत्थान में प्रवृत्त होती है। अंतिम अंक में सेवाव्रत अपना लेती है।

मिश्र जी ने अपने 'सन्यासी' नाटक की कथा में चिरन्तन नारीत्व की समस्या की बात नाटक के प्राक्कथन में कही है। इस समस्या के अन्तर्गत स्वच्छन्द प्रेम और मर्यादित विवाह का तुलनात्मक विवेचन कथा के माध्यम से

प्रस्तुत किया गया है। प्रथम अंक में समस्या के आविर्भाव के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। मुरलीधर और किरणमयी तथा मालती और विश्वकांत के प्रेम के स्वरूप में बाधाएं हैं। दूसरे अंक में उनका प्रेम उलझता जाता है। तीसरे अंक में देश-सेवा के लिए विदेश गया हुआ विश्वकान्त प्रेमिका मालती का विवाह निश्चित हुआ सुनकर उद्विग्नावस्था में उसे एक निर्भय पत्र लिखता है। विश्वकांत ने सर्वप्रथम प्रेम तो किया था किन्तु विवाह करने से इन्कार कर दिया था। मालती प्रतिशोध के भाव से विश्वकांत के प्रतिद्वन्द्वी रमाशंकर से विवाह कर लेती है और अन्तिम अंक में सारी समस्या का विश्लेषण बौद्धिक तर्क के द्वारा कर देती है कि रोमान्टिक प्रेम का आधार वासना, जवानी के उपभोग की इच्छा मात्र है जो बहुत क्षणिक होता है तथा ऐसे प्रेम को वह पाप बताती है।

मिश्र जी के पौराणिक नाटक 'नारद की वीणा' का प्रारम्भ सुमित्र और सोश्रवा के वादविवाद से होता है। सुमित्र आश्रम के नियमों को कटु आलोचक हो रहा है। सुमित्र इब्सम के समान कथा के अन्त का आरंभ में कोई संकेत नहीं प्राप्त होता है। द्वितीय अंक में सुमित्र अकस्मात लापता हो जाता है। आश्रमवासी तथा सुमित्र से प्रेम करने वाली चन्द्रभागा विशेष रूप से चिंतित है। प्रह्लाद और मेनका आश्रम में आते हैं तथा मेनका रहस्योद्घाटन करती है है। तृतीय अंक में घटनाचक्र से प्रह्लाद और नर में भयंकर युद्ध होता है। नर युद्ध में विजयी होते हैं। नारद के साथ सुमित्र भी लौट आता है। सुमित्र और चन्द्रभागा का विवाह पन्द्रह दिनों बाद शुभ लग्न में होने का निश्चय होता है। नारद ने यहां आर्य और द्रविड़ के समन्वय से भारतीय जाति के उत्थान की कामना की है।

हरिकृष्ण प्रेमी के अधिकांश नाटकों की कथावस्तु इतिहास पर आधारित है। 'शिवा-साधना' में कथा का प्रारम्भ स्वातंत्र्य-संग्राम की तैयारी से होता है। शिवाजी बीजापुर के बादशाह मोहम्मद आदिल शाह से संघर्षरत हैं। दूसरे अंक में प्रतापराव जावली के मृत राजा के भाई की शिवाजी से बदला लेने की तैयारी और उधर औरंगजेब का बीजापुर के सुल्तान के दुश्मन के रूप में बीजापुर को ध्वस्त करने के प्रयत्न तथा शिवाजी के षड्यंत्र से कथा विकसित

होती है। नाटक की कथावस्तु इस प्रकार विकसित होती है कि संघर्ष और द्वन्द्व बढ़ता ही चला जाता है। तीसरे अंक में शिवाजी बन्दी हो जाते हैं। यही चरम सीमा है। चौथे अंक में हीरोजी की सहायता से मिठाई की टोकरी में शिवाजी बैठकर कैद से भाग निकलते हैं यहां उतार की स्थिति है। सिंहगढ़ के किले पर अपनी भगवाध्वजा फैलाने के बाद जीजाबाई सहित सबकी अन्तिम इच्छा पूरी होती है। अन्त में शिवाजी जीजाबाई की मृत्यु से विचलित होते हैं किन्तु रामदास के पुन: प्रोत्साहन से कर्तव्य मार्ग पर डट जाते हैं। थोड़े में इस प्रकार कह सकते हैं कि शिवाजी का स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए प्रण करना प्रारम्भ, संगठन एवं साहसपूर्ण आक्रमण में विकास, शाहजी, शिवाजी आदि का बन्दी होना चरमसीमा, शिवाजी का कैद से भाग जाना उतार एवं सिंहगढ़ आदि की विजय पर रामदास से प्रोत्साहन प्राप्त करके कर्म-पथ में जुट जाना अन्त है।

प्रेमी जी के 'मित्र' नाटक में कथा का प्रारम्भ संघर्ष से होता है। अलाउद्दीन सम्पूर्ण हिन्दुस्तान पर अधिकार कर लेना चाहता है परन्तु जैसलमेर का राजा अधीनता मानने को तैय्यार नहीं है। अंजान में रत्नसिंह ने अलाउद्दीन का खजाना लूट लिया है। अंजान की भूल लड़ाई बन जाती है क्योंकि राजपूत क्षमा मांगना नहीं जानते। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से अलाउद्दीन का पुत्र महबूब और जैसलमेर का राजकुमार रत्नसिंह दोनों गहरे मित्र बन चुके हैं। अलाउद्दीन जैसलमेर के घमंड के किले को मिट्टी में मिला देनेका प्रण करता है। कथा का विकास प्रथम अंक के पांचवें दृश्य में अलाउद्दीन के दूसरे पुत्र रहमान को प्रभा रस्सी से बांधे घसीटती हुई आती है जो काली के सामने डराने धमकाने पर भी मौन बनाए रहता है। किरणमयी उसे मारने से मना करती है और बन्दी बना लेती है किन्तु दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में सुरजन सिंह रहमान से मिल जाता है जिससे कथा गतिशील होती है। रहमान के फूट डालने का कार्य बड़ी सफलतापूर्वक करता है। दूसरे अंक के पांचवें दृश्य में युद्ध चरमसीमा पर पहुंच जाता है। तीसरे अंक के प्रथम दृश्य में राजपूत रत्नसिंह की विजय होती है। पाश्चात्य रीति के अनुसार अब संघर्ष उतार पर आ जाता है किन्तु इधर रहमान कैद से मुक्त हो गया है और

अलाउद्दीन को जैसलमेर का भेद बताकर पुन: चढ़ाई करता है। सर्वप्रथम वह अस्त्र-शस्त्रों में आग लगवा देता है जिससे राजपूत अवाक रह जाते हैं। अन्त में पुरुष वर्ग लड़कर मर जाने को प्रस्तुत होता है और स्त्रियाँ जौहर की ज्वाला में अपने को समर्पित करती हैं। रत्नसिंह अपने पुत्र गिरि को महबूब के हाथ में रक्षा के लिए देता है। महबूब के शब्द उसकी सच्ची मित्रता के प्रमाण हैं --- " इस युद्ध के बाद यदि अलाउद्दीन ने जैसलमेर पर गिरि को न बिठाया तो मैं ताँडवी की सेना में हूँगा।"[१] ताँडवी जैसलमेर की युवती थी जिसने गिरि को अपने पास रखा और अपनी सेना एकत्रित करके युद्ध की बात करती है।

प्रेमी के `स्वप्नभंग` में कथा का प्रारम्भ पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष से होता है। मालिन के कथन में रौशनआरा के क्रूर, कुटिल, कुचक्री स्वभाव तथा जहाँनारा के शांत, स्थिर, सौम्य चरित्र का एवं औरंगजेब के एकान्त कथन में अधिकार-लिप्सा का परिचय प्राप्त होता है। दारा औरंगजेब के अमानुषिक कार्यों का विरोध करता है। औरंगजेब हिन्दुओं का दुश्मन है। दारा इसे रोकना चाहता है किन्तु समाज की व्यवस्था बदलने के लिए शक्ति चाहिए। वही शक्ति हस्तगत करने के लिए दारा को भाइयों से लड़ना पड़ता है। रौशनआरा फूट डाल कर कासिम को औरंगजेब की ओर कर लेती है। रौशनआरा से बुद्धि लेकर औरंगजेब मुसलमान सरदारों में विष बीज बोने में सफल होता है। इस प्रकार कथा में संघर्ष बढ़ता जाता है। दूसरे अंक के तृतीय दृश्य में मुसलमान सेना ने दारा को धोखा दे दिया। यहीं से कथा में संघर्ष चरमसीमा पर पहुँचता है। राजपूत शत्रु की सेना में तीर की तरह घुस गए, तोपखाने के सेनापति और अन्य सेनापतियों को मार गिराया किन्तु कासिम के साथ अन्य मुसलमानों ने भी धोखा दिया। राजपूत सभी मारे गए। दारा हार गया। दूसरे अंक के सातवें दृश्य में दारा को एक सैनिक रणभूमि से पकड़कर लाता है और दारा के विश्वासपात्र वीर योद्धा छत्रसाल हाड़ा अपूर्व वीरता दिखाकर वीरगति को प्राप्त हुआ है। एकाएक चरमसीमा पर पहुँचकर दारा की हत्या से कथा का अन्त होता है। संघर्ष

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : `मित्र`, द्वि०सं०, १९५८, वा०मं०दि०, पृ. १०२

समाप्त हो जाता है। अपने तीनों भाइयों की हत्या करके रोशनआरा को भी ठुकराने लगता है तब रोशनआरा की बुद्धि खुलती है और वह अपनी भूल स्वीकार करती है। नायक की करुणाजनक मृत्यु ने इस नाटक को पूर्णतया दु:खान्त बना दिया है।

प्रेमी के 'आहुति' में कथा का प्रारम्भ अलाउद्दीन के कोप पात्र मुसलमान सरदार मीरमहिमा को शरण देकर हम्मीर का अलाउद्दीन का कोपभाजन बनने से होता है। प्रथम अंक के चौथे दृश्य में अलाउद्दीन हम्मीर के पास मीरमहिमा को लौटाने के लिए पत्र लिखता है। न लौटाने पर रणथंभौर के घमण्ड को चकनाचूर करने की धमकी देता है। हम्मीर शरणागत मीरमहिमा और राजपूती आन की रक्षा में सर्वस्व न्यौछावर करने को प्रस्तुत हो गया। इससे संघर्ष विकसित होता है। द्वितीय अंक के अंत तक अलाउद्दीन के आक्रमण होते रहते हैं। राजपूत साहस के साथ युद्ध करते जा रहे हैं तथा युद्ध का निर्णय न होना विकास की अवस्था है। तीसरे अंक में मीरमहिमा के साथ राजकुमार जय विजय रणथम्भौर गढ़ के मुख्य द्वार पर अन्य राजपूत सैनिकों के साथ रणसज्जा से सज्जित खड़े हैं। चरमसीमा का आरम्भ यहीं होता है। इस अंक में दोनों राजकुमार तथा मीरमहिमा दुश्मनों से अंधाधुंध संघर्ष करते हुए वीरगति को प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् हम्मीर अन्य राजपूतों के साथ युद्ध भूमि में जाते हैं भयंकर युद्ध होता है। हम्मीर की जीत होती है। यहीं उतार की स्थिति है। किन्तु दु:खद घटना यह होती है कि अलाउद्दीन को रणभूमि से भागते देखकर राजपूतों ने शत्रु के झण्डे अपने हाथ में निशान रूप में ले रखे हैं। दूर से राजपूत स्त्रियां दुश्मन के झण्डे को देखकर जौहर की ज्वाला में अपने को समर्पित कर देती हैं। संघर्ष तथा कथा का अन्त अलाउद्दीन के पराजय, स्त्रियों के जौहर तथा हम्मीर की आहुति से होता है।

प्रेमी के 'विषपान' भी ईर्ष्या, द्वेष, षड्यन्त्रों के द्वन्द्व से कथा आरम्भ होती है तथा उपर्युक्त नाटकों के समान ही इसका भी विकास हुआ है। विरोध या संघर्ष ही प्रेमी के नाटकों का प्राण है। ऐतिहासिक नाटक ही नहीं प्रेमी के सामाजिक नाटकों में भी वस्तु के विकास का यही क्रम दिखाई पड़ता है। 'बंधन' की कथावस्तु में पूंजीपति और मजदूर, स्वार्थ और त्याग के संघर्ष के

माध्यम से विकास दिखाया गया है। रायबहादुर खजांचीराम के स्वार्थ और शिक्षित मोहन के त्याग का संघर्ष है। निम्नवर्ग तथा मध्यवर्ग के लोगों की दुरवस्था के चित्रण से नाटक का प्रारम्भ होता है। मोहन के नेतृत्व में मजदूरों की हड़ताल उत्सुकता पैदा करती है। खजांचीराम मजदूरदल को अन्दर आने देने के लिए संतरी पर क्रोधित होते हैं फलस्वरूप वह भी बंदूक पटककर मोहन के दल में प्रवेश कर जाती है। इससे कथा विकसित होती है। दूसरे अंक में खजांचीराम पर रिवाल्वर चलाने के अपराध में मोहन गिरफ्तार हो जाता है यहीं चरमसीमा है। द्वितीय अंक के अंतिम नवें दृश्य में प्रकाश और मोहन दोनों ही अपने को अपराधी बताते हैं परिणाम की ओर हमारी जिज्ञासा अधिकाधिक तीव्र होती है अतः चरमसीमा की स्थिति यहां तक माननी चाहिए किन्तु ठीक और सन्तोषजनक सबूत न मिलने के कारण उतार की स्थिति भी प्रकट होती है और अन्तिम अंक में दोनों के दोषमुक्त होने से कथा का अन्त होता है।

'छाया' नाटक में प्रेमी ने कथा का प्रारम्भ नारी-जीवन की स्थिति साहित्यकार प्रकाश की दुर्दशा का उद्घाटन किया है। प्रथम अंक में ही प्रकाश माया और ज्योत्स्ना से बहुत मिलने जुलने लगता है तथा अधिक समय उन्हीं लोगों के पास व्यतीत करने लगता है। इससे उत्सुकता बढ़ती है तथा वस्तु विकसित होती है। छाया अपनी बेटी स्नेह को लेकर आगरे की एक कोठरी में दुःख केदिन काट रही है। बच्ची के लिए दूध नहीं, खाने को भोजन नहीं, तन ढंकने को वस्त्र नहीं है। दूसरे अंक में प्रकाश ऋण के बोझ से दब जाता है और माया में अधिकाधिक लिप्त होता जा रहा है। यह सब घटनाएं प्रेम और निर्धनता के संघर्ष की चरमसीमा पर पहुंचा देती हैं। ज्योत्स्ना और रजनीकांत का प्रकाश की ओर झुकाव परिणाम की ओर ले जाता है। किन्तु एकाएक उत्सुकता को इस सीमातक बढ़ा कर सभी शंकाओं का समाधान कर देता है। माया और ज्योत्स्ना के संबंध में हमारी धारणा परिवर्तित हो जाती है। प्रकाश भी कष्टों से छुटकारा पाता है।

सेठ गोविन्ददास के सभी नाटकों में विरोध और अन्तर्द्वन्द्व की पाश्चात्य शैली पर ही कथा का विकास दिखाया गया है। 'कर्तव्य' नाटक में पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बांटकर राम और कृष्ण के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। दोनों में पांच पांच अंक रखे गए हैं। पूर्वार्द्ध के प्रथम अंक में राम

राम के वन गमन से दशरथ तथा प्रजा के मन में संघर्ष का उदय होता है। राम का मन नाना विरोधी भावनाओं, प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष से पीड़ित है। अन्तर्संघर्ष के साथ राम वन-गमन करते हैं। उधर उत्तरार्द्ध में मथुरा से अक्रूर कृष्णा को लेने के लिए गोकुल आते हैं किन्तु कृष्णा पर गोकुलवासियों के दुख का कोई प्रभाव नहीं है। दूसरे अंक में सीताहरण, राम-सुग्रीव मित्रता, राम का वृक्ष की ओट से बालि-वध कथा को विकसित करते हैं। परिस्थिति वश राम को वृक्ष की ओट से बालि का वध करना पड़ता है किन्तु इसे धोखा, अन्याय और पाप समझकर अन्तर्संघर्ष में घुटना पड़ता है। उधर मथुरा पर जरासंध के आक्रमण से कृष्णा युद्ध से भागते हैं क्योंकि परिस्थिति के अनुसार वह उसे धर्म समझते हैं। तीसरे अंक में रावण-वध, सीता ग्रहण का प्रश्न, सीता की अग्नि परीक्षा से राम के मन में भावना और कर्तव्य, आदर्श और यथार्थ में घोर संघर्ष चलता है। उधर कृष्णा सोलह हजार एक सौ कन्याओं को कारावास में रखने वाले भामासुर को मारकर बिना किसी अग्नि परीक्षा के सबसे विवाह कर लेते हैं। उनके मन में कोई अन्त-र्द्वन्द्व नहीं है। चौथे अंक में निशस्त्र शम्बूक का वध करने में राम को अन्तर्संघर्ष का सामना करना पड़ता है क्योंकि न्याय-अन्याय की शंका ने उन्हें उलझन में डाल रखा है। परन्तु कृष्णा बिना किसी अन्तर्द्वन्द्व के धर्म की दुहाई देकर द्रोण, भीष्म कर्ण आदि महारथियों की हत्या छल, कूटनीति के द्वारा करा देते हैं। पांचवें अंक में सीता के पृथ्वी-प्रवेश, राम लक्ष्मण-परित्याग आदि से राम की मृत्यु भी कष्ट में हुई। जीवन भर कर्तव्यपालन करते रहे तब भी अन्तर्संघर्ष की उलझन से छुटकारा, नहीं मिला और उधर कृष्णा की मृत्यु भी शांति से होती है। मरने के समय उन्होंने दृष्टिकोण की व्यापकता का उपदेश दिया।

सेठ के `कर्ण' में कथा का प्रारम्भ कर्ण के अन्तर्द्वन्द्व से होता है। मंजूषा के सामने वह स्वगत-कथन में अपने अन्तर्संघर्षमय मनोभाव प्रकट कर रहा है। माता राधा और पिता अधिरथ के द्वारा मंजूषा में बहते हुए पाये जाने की बात सुन ली थी, उधर स्वप्न में भगवान भास्कर ने कहा था कि वह उनका और कुन्ती का पुत्र है किन्तु वास्तव तो वह राधा और अधिरथ का पुत्र है। वह कभी स्वप्न में विश्वास करता है, कभी नहीं। वह कहता है -" एक ओर दान देने से सन्तोष होता है तो दूसरी ओर ग्रहण करने की इच्छा होती है और उससे उल्टा दुःख।

एक ओर सुख पहुंचाने से शान्ति मिलती है तो दूसरी ओर दु:ख देने की उत्कण्ठा होती है और उससे उल्टी उद्विग्नता ।"[१] एक स्थान पर वह सूर्य और कुन्ती के पिता-माता होने के विश्वास करने पर कहता है कि त्याग करने वाली माता होने और ऐसी माता के पुत्र पाँचों पाण्डवों के प्रति घृणा पैदा करती है । इसी अन्तर्द्वन्द्व में कथा का प्रारम्भ होता है । प्रारम्भ में ही कर्ण आयु पर्यन्त दुर्योधन का साथ देने का वादा करता है । दूसरे अंक में कर्ण के वीर चरित्र तथा भीष्म के कर्ण को सूत वसुषेण आदि कहने के अन्तर्द्वन्द्व का विकास पाया जाता है । तृतीय अंक में सूर्य के मना करने पर भी दानी कर्ण इन्द्र को अपना कवच और कुण्डल काटकर दे देता है । यहां कर्ण के दानी चरित्र की चरम सीमा है । सूर्य के मना करने से अन्तर्द्वन्द्व भी चरमसीमा पर पहुंच गया है । चौथे अंक में कृष्ण और कुन्ती द्वारा कर्ण को उसके जन्म का रहस्य बताने से अन्तर्द्वन्द्व उतार पर आता है किन्तु बाह्यसंघर्ष चरमसीमा पर ही है । कर्ण अन्त में भी कृष्ण से अपने जीवन का वृत्त गोपनीय रखने को कहता है क्योंकि इससे कुन्ती की अपकीर्ति होती । युधिष्ठिर को यह बात ज्ञात होगी तो वह अधिकार कर्ण को सौंप देंगे और कर्ण तत्काल उसे सुयोधन के चरणों में भेंट कर देगा । इससे कर्ण के चरित्र की महानता प्रकट होती है । नाटककार ने प्राक्कथन में ही कर्ण की लगातार द्वन्द्वात्मक भावनाएं और कृतियों के द्वारा उसके चरित्र पर प्रकाश डालने की बात कह दी है । नि:शस्त्र कर्ण अन्याय से अर्जुन द्वारा मारा जाता है । चरमसीमा पर ही कथा का अन्त हुआ है ।

सेठ जी का 'कुलीनता' नाटक भी जाति, वंश की सामाजिक संकीर्णता की समस्या के समाधान के हेतु लिखा गया है । इस समस्या का समाधान हुआ है यदुराय गोंड के कृत्यों द्वारा । जाति पाँति, ऊँच-नीच की पाखण्ड, दुरभिमान आडम्बरपूर्ण भावना को गहरी चोट पहुंचाई गई है । इसमें कथा का प्रारम्भ विजयादशमी के अवसर पर यदुराय के युद्ध कला प्रदर्शन में अद्वितीय रहने पर चण्डपीड सेनापति द्वारा ईर्ष्या किए जाने से होता है । चण्डपीड हारे हुए तीन व्यक्तियों से एक साथ यदुराय को लड़ाने के लिए राजा विजयदेव को प्रेरित करता है । इसमें यदुराय विजयी होता है । जब चण्डपीड राजा के कान भरता है कि गोंड जाति का यदुराय राजा की पुत्री रेवा पर आसक्त है । राजा यदुराय को पुरस्कार देने के बदले निष्कासन का दण्ड दे देता है । दूसरे अंक में सुरभी पाठक के विरोध

१. सेठगोविन्ददास : 'कर्ण', प्र०सं०, १९४६ई०, वि०मं०प्र०मु०, ग्वालियर, पृ० १५

से कथा और संघर्ष बढ़ता है। सुरभी पाठक तीर की तरह घोड़ा निकाल ले जाते हैं किन्तु राजा के सिपाही मुंह देखते रह जाते हैं। एक स्थान पर चारों ओर से घिर जाने पर प्रपात में कूदकर जान बचाते हैं। दूसरे अंक में विकास की अवस्था है। तीसरे अंक में यदुराय विजयदेव के त्रिपुरी पर चढ़ाई कर देता है। घनघोर युद्ध होता है। चरमसीमा पर ही विजय के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। चण्ड-पीड और देवदत्त की मृत्यु होती है। कुतुबुद्दीन ऐबक की सेना को भी यदुराय के सैनिक परास्त कर देते हैं। अब संघर्ष उतार पर आ जाता है। चौथे अंक के सातवें दृश्य में संघर्ष का अन्त सब भेदभाव मिटाकर विजयदेव का रेवा सुन्दरी की शादी यदुराय से कर देने पर होता है। यदुराय तथा विजयदेव के कलुष समाप्त हो जाते हैं।

गोविन्ददास जी के 'हर्ष' का प्रारम्भ सशांक नरेन्द्र द्वारा राज्य-वर्द्धन की हत्या और स्थाण्वीश्वर में महामंत्री और महासेनापति के हर्ष के राजपद स्वीकार न करने से क्षोभ तथा वादविवाद से होता है। महामंत्री अवन्ति हर्ष के माधवगुप्त के साथ रहने को शंका की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि माधव मालवदेश का है जो स्थाण्वीश्वर का शत्रु है। उधर राज्यश्री के नरेन्द्र गुप्त के कारागृह के दण्डपाशिक द्वारा मुक्त कर देने की घटना एवं राज्यश्री का विन्ध्या की ओर चले जाने की सूचना प्राप्त होती है। माधव के समझाने से देश सेवा को ध्यान में रखकर हर्ष राजग्रहण करता है। यहाँ कथा विकास को प्राप्त होती है। प्रथम अंक के चौथे दृश्य में हर्ष थोड़ी सी सेना लेकर राज्यश्री की खोज के लिए विन्ध्या की ओर चला जाता है। प्रथम अंक के अंतिम दृश्य के अन्त में हर्ष राज्यश्री को चिता की ज्वाला में कूदने से दौड़कर बचा लेता है। दूसरे अंक में शशांक नरेन्द्र और यशोधवल (गौड़ सेनापति) में मतभेद हर्ष के राज्यश्री को कान्यकुब्ज के सिंहा-सन पर बैठने और स्वयं स्थाण्वीश्वर का माण्डलिक राजा होने एवं कुछ ब्राह्मणों एवं अन्य लोगों से वाद-विवाद एवं संघर्ष की घटनाएं वर्णित हैं। इससे हर्ष-वर्द्धन के चरित्र का विकास तथा परस्पर संघर्ष का भी विकास दिखाया गया है। तीसरे अंक में हर्षवर्द्धन की पालित पुत्री जयमाला पर पितृवत् अगाध-प्रेम-प्रदर्शन हुआ है। उधर माधवगुप्त और उसके पुत्र आदित्यसेन में हर्ष को लेकर प्रबल विरोध पैदा हो जाता है। यानच्वांग नामक चीनी यात्री कन्नौज के चतुष्पथ पर खड़ा होकर हर्ष तथा उसके राज्य की व्यवस्था के संबंध में परिचय प्राप्त करके स्वयं भी हर्ष के पास

पहुंचता है। हर्षवर्द्धन अपने सेनापति भण्डि से दक्षिण विजय की इच्छा को समाप्त करके सर्वस्व दान करने का संकल्प करता है। राज्यश्री अनुमति देती है। चौथे अंक में आदित्यसेन और शशांक मिलकर बोधिवृक्ष की एक एक शाखा को बौद्ध धर्म के नाश के लिए बौद्धों को कैद करके उनके सामने काट रहा है। माधव-गुप्त तथा भण्डि को गुप्तचरों द्वारा हर्ष के, हत्या का षड्यंत्र पता चलता है प्रयाग मेले में हर्ष की हत्या के षड्यंत्र को माधवगुप्त और भण्डि विफल करके नरेन्द्र की मृत्यु तथा आदित्य को बन्दी बनाकर हर्ष के सम्मुख माधवगुप्त लाता है। हर्ष उसे क्षमा करते हैं। आदित्य मुक्त होकर कुछ विचार रहा है तथा तभी एकाएक मण्डप में आग लगने के कारण हो हल्ला सुनाई देता है। माधव-गुप्त और इन विद्रोहियों की अग्नि को सदा के लिए शान्त करने को चल देते हैं। यही कथा समाप्त होती है। इसमें नाटककार का उद्देश्य हर्ष के चरित्र पर प्रकाश डालना है। सम्मुख युद्ध नहीं दिखाया है अतः बाह्य संघर्ष कभी चरमसीमा पर नहीं दिखाई पड़ता। इसमें कथा का विकास इतिहास के अनुसार होता गया है।

सेठ गोविन्ददास ने कहा भी है कि "चरमबिन्दु पर पहुंचकर नाटक को समाप्त हो जाना चाहिए। मैं नाटक में उतार (एंटी क्लाइमैक्स) का पक्षपाती नहीं हूं।"[१] चरमबिन्दु पर नाटक की समाप्ति के लिए ही सेठ जी ने 'हर्ष' के अन्त में आदित्यसेन, शशांक नरेन्द्र और माधव गुप्त, भण्डि में बाह्य संघर्ष दिखाकर कथा का अन्त किया है।

सेठ जी के प्रायः सभी सामाजिक समस्यात्मक नाटकों में कथा के विकास की यही स्थिति है कि कथा में द्वन्द्व के प्रारम्भ, विकास तथा चरमसीमा के पश्चात् नाटक समाप्त हो जाता है। 'सेवापथ' नाटक में शारीरिक, राजनीतिक तथा धार्मिक में से कौन सा मार्ग राष्ट्र तथा समाज की सेवा के लिए अपनाया जाय, य

---

१. सेठ गोविन्ददास : 'नाट्यकला मीमांसा', संस्करण १, १९६१ ई०, सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय, मध्यप्रदेश, पृ० ३७

यही समस्या है । इसमें कथा का प्रारम्भ तीन मित्रों के सिद्धान्तों में मतभेद से होता है । दीनानाथ शारीरिक सेवा द्वारा, शक्तिपाल राजनीति द्वारा, श्रीनिवास धन द्वारा समाज सेवा करने का सिद्धान्त रखते हैं । दीनानाथ दोनों से बिल्कुल भिन्न हैं । आपस के वाद-विवाद से कथा प्रारम्भ होती है । चुनाव में मिथ्या पथ-ग्रहण करके श्रीनिवास शक्तिपाल को विजयी बनाता और शक्तिपाल मिनिस्टर बनते हैं और दीनानाथ पर अपने विरुद्ध आर्टिकल निकलवाने का मिथ्या आरोप लगाते हैं । दूसरे अंक में दीनानाथ खुलकर शक्तिपाल का विरोध करता है । वह कहता है -- "कौंसिलें और कौंसिलों के ये पद आपके योग्य नहीं हैं ।"[1] × × × जब मुझे इस कार्य क्रम पर विश्वास नहीं है तब आपका समर्थन किस प्रकार करूं यह आप ही बता दीजिए ।"[2] तीसरे अंक में दीनानाथ अपने पैरों में शक्तिपाल की गोली की चोट खाता है । यहीं चरमसीमा पर तीनों के सिद्धान्तों का मतभेद दूर होता है क्योंकि इलेक्शन में भी शक्तिपाल तथा उसका साम्यवादी दल हार जाता है जिससे दीनानाथ की महानता का अनुभव दोनों मित्र करते हैं । दोनों अपनी भूलों के लिए पश्चाताप करते हैं । कथा समाप्त होती है ।

'महत्त्व किसे ?' में दो सिद्धान्तों का विरोध दिखाकर समस्या का सृजन किया गया है कि सम्पन्नता और दरिद्रता में कौन अधिक महत्वपूर्ण है तथा सम्पन्नता को महत्वपूर्ण सिद्ध करके समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है । पति-पत्नी के विरोधी सिद्धान्त से कथा प्रारम्भ होती है । कर्मचन्द विदेशी वस्तुओं की होली जला देते हैं परन्तु पत्नी इस बात पर बल देती है कि हर युग में सम्पन्नता को अधिक महत्त्व है । प्रथम अंक और द्वितीय अंक के बीच पांच वर्षों का व्यवधान है । इतने वर्ष कर्मचन्द कांग्रेस के कार्य में इतने व्यस्त हैं कि मैनेजर (घर के) का कोई कार्य नहीं देख पाते हैं । रुपए समाप्त हो चुके हैं । कांग्रेस कार्य-कर्ता उनके दीवेपन का नाजायज लाभ उठा रहे हैं । कोई ग्रामसेवा के नाम पर आश्रम

---

१. सेठ गोविन्ददास :'सेवा पथ', संस्करण २, १४ अगस्त, १९४३ ई०, हिन्दी भवन, लाहौर, पृ० ५१

२. वही, पृ० ५५

बनवाने के लिए १०००) चन्दा ले जा रहा है। कोई चुनाव लड़ने के लिए सारा व्यय कर्मचन्द के मत्थे ठोंक रहा है। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि लोगों ने उन्हें दीवालिया बना डाला और सामाजिक कार्यों के लिए उन्हें लक्ष्मीपति से ढाई लाख रुपये कर्ज लेने पड़ते हैं। कथा विकास की पूर्णावस्था पर पहुँच गई है। सत्यभामा की बात का अभी भी विश्वास नहीं करते हैं कि धन का महत्व है। वह पुन: दोहराते हैं कि गांधी युग में धन का महत्व नहीं है। पत्नी समझाती है कि अभी दोनों की उम्र अधिक नहीं है, देखना है कि महत्त्व किसे है ? मित्रों के ऐसे व्यवहार तथा पति पत्नी के वाद-विवाद एवं कार्य से कथा विकसित होती है। तीसरे अंक में कर्मचन्द के कपड़े बदलने के लिए चले जाने पर ड्राईंग रूम में बैठे हुए उनके मित्र उनके विरुद्ध अश्लील बातें कर रहे हैं तभी लक्ष्मीपति मजबूरी के साथ कर्मचन्द की गिरफ्तारी का वारंट लेकर आते हैं। मैनेजर वारंट की सूचना सत्यभामा को देता है। वह लक्ष्मीपति को ढाई लाख का हार और कान के इयरिंग लाकर देती है। कर्मचन्द जेल जाने से बच जाते हैं। यहाँ चरमसीमा के दर्शन होते है। चौथे अंक में सत्यभामा मैनेजर से कलकत्ता , बम्बई में सट्टे का व्यापार चलवा रही है जिससे इक्कीस लाख की बचत हुई। सभी विरोधी सत्यभामा को पास आकर अपनी भूल स्वीकार करते हैं । कर्मचन्द पुन: आदर के पात्र बनते है किन्तु अन्त तक कर्मचन्द प्रान्तीय प्रधानमन्त्री के पद को ठुकराते जाते हैं। कथा का अन्त होने पर हम सम्पन्नता के महत्व को अच्छी तरह पहचान जाते हैं किन्तु कर्मचन्द में कोई परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु इस नाटक के देखने पर आरम्भ में उठाई गई समस्या का समाधान सम्पन्नता के अनुकूल होता है।

सेठ जी के 'गरीबी या अमीरी ' में कथा का प्रारम्भ विद्याभूषण तथा कमला के अन्तर्द्वन्द्व से होता है। विद्याभूषण अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है क्योंकि लक्ष्मीदास के पैसे को वह पापपूर्ण रीति से एकत्रित किया गया मानता है और उसकी प्रेमिका कमला उसकी ही बेटी है। कमला को छोड़ने में अन्तर्द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है और कमला विद्याभूषण के मानसिक गति की जानकारी पर सब-कुछ छोड़ने को तैयार हो जाती है किन्तु एक मात्र पुत्री पर पिता के अगाध प्रेम से उसमें अन्तर्संघर्ष पैदा होता है। विद्याभूषण अफ्रिका से कमला से विमुख हो कर भारत आता है। कमला भी बहाने से उसी जहाज पर भारत चली आती है।

इससे कथा विकसित होती है। एकमात्र सन्तति का पिता पुत्री के बिछोह से व्याकुल हो उठता है। वह भारत के अपने एजेन्ट से उसकी कुशलता का पता लगाता रहता है और आर्थिक सहायता देता रहता है। यहाँ पुन: कथा मोड़ लेती है। विद्याभूषण श्रमिकों के शोषण से एकत्रित धन की आर्थिक सहायता नहीं लेना चाहता है और अबला से अलग गरीब मुहल्ले में जाकर पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित कराकर उनके पारिश्रमिक से जीवन निर्वाह करता है। तृतीय और चतुर्थ अंक में संघर्ष चरमसीमा पर पहुंच गया है। विद्याभूषण के निबन्ध लन्दन और न्यूयार्क से ही वापस नहीं आए वरन् हिन्दुस्तान के पत्रों ने भी लौटा दिए। विद्याभूषण अबला को दोष बना रहा है, कभी बच्चे को रोगी कह कर असन्तोष व्यक्त करता है, कभी अपने अन्तर्द्वन्द्व का कारण लक्ष्मीदास का आगमन सिद्ध करना चाहता है। आपस के संघर्ष के फलस्वरूप अबला अफ्रिका चली जाती है। चौथे अंक में भी 'न्यूयार्क टाइम्स', 'मैनचेस्टर गार्डियन', कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' और बम्बई के 'टाइम्स' ने लौटा दिये हैं। अन्तर्द्वन्द्व में उलझा हुआ वह सिगरेट तथा शराब अधिक मात्र में लेने लग जाता है। पाँचवें अंक के प्रथम दृश्य में अबला हिन्दुस्तान आकर लड़कियों के स्कूल में नौकरीकर लेती है। गांव की औरतों को चर्खा चलाना, सिलाई कढ़ाई आदि सिखाकर विद्याभूषण के आदर्शों और सिद्धान्तों का पालन करती है किन्तु विद्याभूषण के आदर्श और सिद्धान्त परिस्थितियों और सामाजिक दुर्व्यवहारों से बिल्कुल परिवर्तित हो गए। पाँचवें अंक के दूसरे दृश्य में वह कहता है — "........ लक्ष्मीदास..... तुमने बुद्धिमानी..... दूरदर्शिता की।"[१] अब वह लक्ष्मीदास का रुपया अबला के द्वारा लेने में बुरा नहीं समझता है और डाक्टर आने के पूर्व ही गरीबी से तंग होकर क्षय की बीमारी में मृत्यु को प्राप्त होता है। उपसंहार में नाटककार ने बताया है कि अबला और उसका बेटा सरस्वतीचन्द्र विद्याभूषण के सिद्धान्तों और आदर्शों को व्यवहार रूप में लेते हुए अपना जीवन-यापन करते हैं। संघर्ष तो अन्त तक रहा । कथा में उतार

---

१. सेठ गोविन्ददास : 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य', १९५८, सं० १, भारतीय विश्व-प्रकाशन, फव्वारा, दिल्ली, पृ० २२--३०

की स्थिति नहीं आई।

सेठ जी के 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' में पुत्र त्रिभुवनदास पिता चतुर्भुजदास से सिद्धान्त की स्वतंत्रता को लेकर वाद-विवाद करते हुए लड़ाई की सीमा तक पहुंच जाते हैं। आरम्भ में ही पिता की कंजूसी का पुत्र तीव्र विरोध करता है। त्रिभुवनदास कैपिता के प्रति निकाले गए कटु वाक्यों को सुनकर हृदय कांप उठता है।[1] पिता त्रिभुवनदास से सरकार के विपरीत कार्य करके आफत न बुलाने की मांग करता है जिसका उत्तर है -- "इस संबंध में मेरे और आपके सिद्धान्त एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। आप अपने सिद्धान्त अपने पास रखिये और मेरा मेरे पास रहने दीजिए। मैं सिद्धान्त - स्वातन्त्र्य का पूजक हूं।"[2] पिता पुत्र को तिजोरी की चाभी दे देता है। पहला अंक यहीं समाप्त होता है।

प्रथम अंक और दूसरे अंक के बीच पच्चीस वर्ष का अन्तर है। दूसरे अंक में त्रिभुवनदास का जीवन बिल्कुल परिवर्तित हो गया है। अब वह प्रान्त का होम मेम्बर सर त्रिभुवनदास हो गया है। सिद्धान्त परिवर्तन हो गया है किन्तु सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य के आधार पर पिता से लड़ गया था अब पुत्र के साथ भी वही व्यवहार कर रहा है। त्रिभुवनदास और उसकी विदुषी पत्नी के वाद-विवाद से कथा विकसित होती है। उधर होममेम्बर के आदेश से सन् १९३० के सत्याग्रह में पिकेटिंग करते हुए मनोहर घायल होकर आता है। यहीं कथावस्तु चरमसीमा पर पहुंचती है। पिता चतुर्भुज दास ने पुत्र के लिए अपने सिद्धान्त का त्याग किया था और पौत्र के लिए भी करते हैं किन्तु त्रिभुवनदास अभी भी मनोहर के अनुकूल नहीं होते हैं और मस्तिष्क से शासित होने वाले स्वभाव के कारण सिद्धान्त-स्वातंत्र्य की त्वन्न दुहाई देते हैं। यहीं कथा का अन्त होता है।

सेठ जी का 'विकास' स्वप्न नाटक है जो फैंटेसी प्ले की शैली में लिखा गया है। सृष्टि विकास के पथ से उन्नति की ओर अग्रसर हो रही है अथवा उत्थान और पतन में चक्रवत् घूम रही है, इसी का विवेचन स्वप्न के माध्यम से किया गया है।

---

१. सेठ गोविन्ददास : 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य,' १९५८, सं० १, भारतीय विश्व-प्रकाशन, फव्वारा, दिल्ली, पृ० २२-३०

२. वही पृ० २६

वृन्दावनलाल वर्मा ने सन् १९४७ में `बांस की फांस` और `फूलों की बोली` नामक दो नाटक लिखे जिनका सामाजिक महत्त्व की दृष्टि से नवीन किन्तु शैक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अनुकूल है। `बांस की फांस` में कथा का प्रारम्भ ग्वालियर के रेलवे प्लेटफार्म पर भीड़-भाड़ में दो विद्यार्थियों फूलचन्द और गोकुल तथा भिखारिन और उसकी लड़की पुनीता के उलझने एवं आकर्षण से होता है। उधर लड़के भीड़ाराम नामक फौजी अफसर को चिढ़ देते हैं। आपस में संघर्ष का वातावरण उपस्थित हो जाता है किन्तु इसका महत्व केवल विद्यार्थियों की चंचलता तथा प्लेटफार्म पर अनेक प्रकार के लोगों की उपस्थिति द्वारा यथार्थ चित्रण करने की दृष्टि से अधिक है। कथा का विकास दो रेलगाड़ियों के आकस्मिक भिड़न्त की दुर्घटना से होता है क्योंकि मन्दाकिनी और बुढ़िया भिखारिन तथा पुनीता भी उसी गाड़ी में हैं। दुर्घटना के पश्चात अस्पताल में पुनीता और गोकुल का प्रेम तथा कष्ट चरमसीमा पर दिखाई पड़ते हैं। वही पुनीता जिसने ज़रा सी आंख मारने पर हजारों गालियां गोकुल को दी थीं, गोकुल के सहर्ष अपना रक्त और चमड़ा देने पर उसे स्वीकार कर लेती है। वह अपनी मां से बिछुड़ चुकी है। द्वितीय अंक के द्वितीय दृश्य में पुनीता अपनी मां से मिलती है तो गोकुल और पुनीता के मिलन में आशंका उत्पन्न होती है क्योंकि बुढ़िया सदैव पुरुषों से बचने की शिक्षा कठोर शब्दों में देती है। किन्तु द्वितीय अंक के अन्तिम दृश्य में वह गोकुल को अपना दामाद बनाने को तैयार हो जाती है। यहां आकर संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। संघर्ष से कथा का प्रारम्भ हुआ और संघर्ष से कथा का अन्त हुआ। इसमें अस्वाभाविक घटनाओं का पर्याप्त समावेश हुआ है। रेलों के टकराने से मंदाकिनी और पुनीता का बच जाना, अंधी बुढ़िया का घूमते-घूमते अस्पताल पहुंच जाना, गोकुल का एक ही बार पुनीता को देखकर और उससे गालियां प्राप्त कर एकाएक इतना बड़ा त्याग को देखकर अस्वाभाविक सा लगता है।

`फूलों की बोली` में दो नवयुवक और दो नवयुवतियों के बीच कला माध्यम बन कर मैत्री और स्नेह को जन्म देती है। स्वर्ण-रसायन और उसका जाननेवाला सिद्ध बाधा बनकर मार्ग में कठिनाइयां उपस्थित करता है और कथा में उलझनें पैदा होती है जिससे कथा विकसित होती है। धीरे धीरे परिस्थिति

भीषण रूप धारण करती है। कामिनी और माया अपना सब कुछ खो बैठती हैं। ठग सिद्ध के हाथों में सम्पूर्ण स्वर्ण देकर माधव भी दीवालिया बन बैठता है। अन्त में उलझनें समाप्त हो जाती हैं। खोया धन लौट आता है। कामिनी आदि का भ्रम दूर होता है।

उदयशंकर भट्ट ने पाश्चात्य शैली के अनुसार संघर्ष की पांच विकास की अवस्थाओं का ध्यान अपने नाटकों में रखा है। `विक्रमादित्य` में पिता द्वारा विक्रमादित्य को राजगद्दी सौंपे जाने के कारण सोमेश्वर तथा अन्य सरदारों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। विक्रमादित्य की मृत्यु के लिए अनेक षड्यन्त्र से संघर्ष का विकास होता है। अपनी असफलता पर छलकपट से विक्रमादित्य को पराजित करना चरमसीमा है। चन्द्रलेखा और अनंगमुद्रा के षड्यन्त्र से सोमेश्वर के छल-कपट सब व्यर्थ हो जाते हैं अत: यहां संघर्ष उतार पर आ जाता है। सोमेश्वर की मृत्यु और विक्रमादित्य की विजय से संघर्ष तथा कथा का अंत होता है। `दाहर अथवा सिंध पतन` में मानू का व्यापारियों के कुकृत्यों को प्रकट करना, डाकुओं के प्रतिशोध की प्रवृत्ति आदि आरम्भ की अवस्था है। दाहर के सामने उसकी प्रतिज्ञा , युद्ध के लिए उत्साह, परमाल सूर्य के प्रयत्न से संबंधित घटनाओं के द्वारा कथा विकसित होती है। सिंध एवं अरब में युद्ध तथा दाहर की पराजय चरमसीमा है। चरमसीमा पर दो जातियों के बीच भयंकर युद्ध होता है किन्तु वीर दाहर की मृत्यु के पश्चात् संघर्ष तो यों ही उतार पर आ गया किन्तु अभी समाप्त नहीं हुआ। सिन्ध का प्रत्येक व्यक्ति देश की रक्षा के लिए युद्ध करता है। दाहर की पुत्रियां सूर्य और परमाल को उन्हें उत्साहित करती हैं फिर भी सिंध पराजित होता है। अन्त में सूर्य और परमाल शत्रु के विलास-साधन बनने के पूर्व वीरता पूर्वक मृत्यु की गोद में चली जाती हैं। संघर्ष से कथा का आरम्भ हुआ है और पूरे नाटक में इसी की प्रधानता है। ब्राह्मणों के छलपूर्ण आचरण और बौद्धों के षड्यंत्र , अरब सेना से मैत्री ने दाहर और सिंध का पतन करा दिया। भट्ट जी के `अम्बा` तथा `सगर विजय` नामक पौराणिक नाटक में कथा को नवीन संघर्ष में गुम्फित किया गया है तथा इनका विकास उपर्युक्त अन्य नाटकों के समान ही पाश्चात्य रीति पर हुआ है। नारी-पुरुष के मध्य चले आते हुए संघर्ष का सफल चित्रण `अम्बा` में पाया जाता है। इसमें बाह्य संघर्ष तथा अन्तर्संघर्ष समान गति से चला है। प्रारम्भ काशिराज के उनकी लड़कियों के

अपहरण के सपने से होता है। वह स्वप्न की बात करते हुए कहते हैं कि" मैं प्राणों की बाजी लगाकर सर्वस्व का पासा खेलकर मैं इनकी रक्षा करूंगा।"[१] आरम्भ में ही अपने पिता से अम्बिका और अम्बालिका व्याह की जंजीर गले में न डालने के लिए वाद-विवाद कर रही हैं। दोनों अनादि काल से नारी को पुरुषों की इच्छा और अत्याचारों का शिकार सिद्ध करने में जुटी है। उधर अम्बा का शाल्व के प्रति आकर्षण भी संकेतित है। स्वयंवर में भीष्म द्वारा अंबा, अम्बिका, अम्बालिका के बलपूर्वक अपहरण से कथा विकसित होती है। बाह्य संघर्ष यहां चरमसीमा पर पहुंच जाता है क्योंकि स्वयंवर में आए हुए सभी राजा भीष्म का विरोध करते हुए भयंकर युद्ध करते हैं सभी को घायल करके भीष्म आगे बढ़ जाते हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क ने भी अपने नाटकों में नाट्यशास्त्रीय नियमों के नियंत्रण को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अपने प्रारम्भिक नाटक 'जय-पराजय में संघर्ष की अवस्थाओं को दिखाने का प्रयत्न किया है जिसका विवेचन नीचे किया जायेगा। प्रथम अंक परिचयात्मक है। भारमली गायिका तथा कुमार का एक दूसरे के प्रति प्रेमभाव का संकेत, रणमल (मंडोवर कुमार) को मेवाड़ में आश्रय देने से मंत्री आदि के सामने समस्या किन्तु राजा लक्षण सिंह तथा उनके पुत्रों के अटल रहने मंडोवर के राजा का युवराज चंड के लिए नारियल भेजने की चर्चा आदि प्रथम अंक में परिचय रूप में दिया गया है। मेवाड़ पर संकट की आशंका का संकेत भी इसमें मिल जाता है। यह अंक बहुत विस्तृत है। दूसरे अंक में कथा का विकास मंडोवर के राजा द्वारा अपनी पुत्री हंसाबाई के विवाह का युवराज चंड के लिए नारियल भेजने से होता है। उधर हंसाबाई को चंड माता मान लेता है क्योंकि पिता लक्षसिंह ने हंसी में कह दिया कि मेरे लिए नारियल अब कौन लायेगा।[२] हंसी की बात को चंड पकड़ लेता है और लक्षसिंह को विवश होकर

---

१. उदयशंकर भट्ट :'अंबा', प्रथमावृत्ति, सन् १९३५, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर, पृ० ८

२. उपेन्द्रनाथ अश्क :' जय-पराजय ', दसवां संस्करण, १९६२, नीलाभ प्रकाश, इलाहाबाद , पृ० ४६

नारियल अपने लिए स्वीकार करना पड़ता है। रणमल की बातों से उसकी कपट चातुरी का पता चलता है। अपनी सौतेली बहन के रानी बनने पर उसके भोलेपनका अनुचित लाभ उठाकर संघर्ष पैदा करेगाता, इसका संकेत द्वितीय अंक के तृतीय दृश्य में प्राप्त हो जाता है। तृतीय अंक में हंसाबाई लक्षसिंह की रानी बनकर आ जाती है। विकास का क्रम स्वच्छन्द रीति से होने के कारण कोई नियमितता नहीं रखी गई है। रणमल हंसाबाई से मिलकर चंड, राघव आदि के प्रति षड्यंत्र को इस अंक में भी विकसित कर रखा है। राजा से कहकर हंसाबाई रणमल को सेनापति बनवा देती है। अपनी विस्तृत सेना के बल पर रणमल उधर चौथे अंक में मंडोवर पर हंसा के भाई को अधिकार छीन करने के विचार से आक्रमण कर देता है। कथा चरमसीमा की ओर बढ़ रही है। चौथे अंक के सातवें दृश्य में रणमल रानी के कमरे में तलवार लेकर प्रवेश कर जाता है और रानी अपने पांच वर्ष के पुत्र की रणमल के हाथों हत्या होने से बचाने के लिए स्वयं उसे चिर-निद्रा में सुला देती है और बच्चे को उसके पैरों पर पटक देती है। पांचवें अंक में संघर्ष चरमसीमा पर आ जाता है। रणमल हंसाबाई के पुत्र को मार कर चित्तौड़ पर भी अधिकार करना चाहता है। कुमार राघव की हत्या रणमल द्वारा करा दी गई। चंड के सैनिकों तथा रणमल के सैनिकों में घनघोर संघर्ष होता है। भारमली की छुरी से रणमल की हत्या होती है। चंड की विजय होती है किन्तु हंसाबाई द्वारा अन्ततक अपमानित होता है। यहीं कथा का अन्त है। कथा चरम सीमा पर ही समाप्त हो जाती है। इसमें एक साथ कई कथाएं चलती हैं। अतः विकास की अवस्था में क्रमबद्धता सम्भव भी नहीं है। कई दृश्य अनावश्यक रूप में रख कर विस्तार भार को बढ़ाया गया है जैसे सुकेशी और हेम-वती का प्रसंग, भाटिंग भट्ट का प्रसंग आदि। वस्तुतः प्रथम अंक ही अनावश्यक है क्योंकि इसमें अनेक अनावश्यक प्रसंग हैं।

अश्क के दूसरे नाटक 'स्वर्ग की झलक' में कथा का प्रारम्भ विरोध से होता है। रघु के भाई और भाभी रघु की साली रक्षा से विवाह करने पर बल देते हैं किन्तु रघु बी०ए०, एम० ए० पास अपने दो मित्र अशोक और राजेन्द्र की सुशिक्षित पत्नियों जैसी आधुनिक पत्नी चाहता है और रक्षा सीधी-साधी भूषण

पास लड़की है। इसलिए रघु इस विवाह का विरोध करता है। दूसरे अंक में रघु के मित्र अशोक और श्रीमती अशोक के पारिवारिक जीवन की झांकी प्रस्तुत की गई है जिसमें दोनों के मध्य रोटी सेंकने के लिए विषम परिस्थिति उपस्थित हो गई है। पति खीर, सब्जी सब बना लेता है किन्तु रोटी सेंकनी नहीं आती अत: श्रीमतीसे उसके लिए अनुरोध करता है और वह अस्वीकार करती है। आपस के वहस और चीखने चिल्लाने के मध्य रघु पहुंच जाता है तो पति सारी परिस्थिति पर पर्दा डालने के लिए झूठी बातें रघु से कहता जाता है। रघु को खाना खिलाने के लिए दुकान से तंदूर के पराठे मंगा लेता है अपनी लड़की ऊषा को कंधे से चिपकाए ही खाना परोसता है। रघु को लड़की संभालने में सहायता करनी पड़ती है किन्तु उसकी पत्नी पलंग तोड़ रही है। इससे रघु के अन्तर्द्वन्द का भाव बढ़ता है। तीसरे अंक में अपने दूसरे मित्र मिस्टर राजेन्द्र के घर पहुंचता है और वहां शिक्षित अपटू-डेट पत्नी की पारिवारिक दायित्वहीनता के दर्शन करता है। बीमार बच्चे को पतिपर छोड़कर श्रीमती राजेन्द्र कंसर्ट के प्रबन्ध में व्यस्त हैं। पति और पुत्र से अधिक बाहरी प्रदर्शन की चिन्ता है। चौथे अंक में कंसर्ट का दृश्य है। रघु प्रोफेसर राजलाल की लड़की उमा का कला प्रदर्शन देखता है। उधर रघु की भाभी उमा के साथ रघु की सगाई तय कर लेती हैं किन्तु अपने मित्रों के दाम्पत्य जीवन की विषमता से घबड़ाकर रघु अपनी साली रक्षा से विवाह करने को तैय्यार हो जाता है। अन्त में रघु का भाई से विरोध समाप्त हो जाता है।

अश्क के तीसरे नाटक 'छठा बेटा' में भी कथा चरमसीमा पर समाप्त होती है। कथा का प्रारम्भ विरोध तथा हास्य व्यंग्य से होता है। बाननराम मथय पं० बसन्तलाल के अवकाश प्राप्त जीवन को ठीक से बीत जाने देने के लिए उनके पुत्रों से उन्हें अपने पास रखने की इच्छा व्यक्त करते हैं जिसका अनेक पांचों पुत्र विरोध करते हैं। सबने उन्हें अपने पास रखना अस्वीकार कर दिया। छठा बेटा पिता के व्यवहार से घर से भाग जाता है। बाननराम और पुत्रों का वाद-विवाद चल ही रहा है कि पं० बसंतलाल दस रूपये के नोट लेकर आटा लाने के लिए जाते हैं और शराब पीकर तथा लाटरी का टिकट खरीद कर लौटते हैं। इसके बाद का सारा कथा-व्यापार स्वप्न के माध्यम से दिखाया जाता है। मदहोश बसंतलाल को चारपाई पर सुला दिया जाता है। वह लाटरी के टिकट से तीन

लाख रुपये पाने की सूचना सबको दे देते हैं। पुत्रों में हलचल मच जाती है। रुपये पिता से ऐंठने के लिए पाचों पुत्र परम सेवक बन जाते हैं। इससे वस्तु में व्यंग्य तथा हास्य सहित विकास के दर्शन होते हैं। तीसरे दृश्य में कैलाश पिता की चिलम भरता है और गालियाँ सुनता है, जिसने पिता के 'इडियट' कहने पर कभी बुरा माना था। डा० हंसराज चिलम भरने की कला में निपुणता दिखाते हैं, पांव दबाते हैं देवनारायण पिता की खुशी के लिए सिर घुटाकर लम्बी चोटी रख लेता है। सभी पिता जी हाँ में हाँ मिला रहे हैं। इस चाटुकारिता और स्वार्थ-साधन के अभिनय से हास्य और व्यंग्य तीव्र हो उठता है और सारा रुपया पंडित के पुत्र ऐंठ लेते हैं। चौथे दृश्य में पुन: सभी पिता को अपने पास रखने से इन्कार कर देते हैं तभी भूला भटका रूठा बेटा आकर अपनी सेवा का आश्वासन देता है। एकाएक बसंतलाल जगकर चिल्ला उठते हैं " तो क्या यह केवल सपना था।" हास्य, व्यंग्य, विरोध की चरमसीमा पर ही कथा समाप्त हो जाती है और हम बसंत लाल के अवचेतन मन की धुंधली, अधूरी इच्छाओं की मनोवैज्ञानिक कल्पना करते रह जाते हैं।

अध्याय—८

हिन्दी नाटकों में वस्तु-रचना-रीतियां

नाटक की कथावस्तु के निर्माण में कुछ रीतियों का पालन अनिवार्य हो जाता है। किसी कथा में नायक को केन्द्र बनाकर उसके चरित्र के माध्यम से घटनाओं का विकास होता चलता है जैसे भवभूति का 'उत्तरराम चरित'। इसमें राम को केन्द्र बनाकर सारी कथा उसी पर अवलम्बित की गई है। नायक राम और नायिका सीता के चरित्र के आसपास सारी घटनाएं चक्कर लगाती हैं। इसे नायक-केन्द्र-रीति कहते हैं। ऐसे भी नाटक प्राप्त होते हैं जिनमें घटनाओं का गुंफन इस प्रकार किया जाता है कि नायक उसी में उलझता, सम्हलता हुआ अपने चरित्र की अभिव्यक्ति दर्शकों को कराता है। यह घटना- चक्रीति नाटकीय दृष्टि से सबसे अधिक स्वाभाविक और अच्छी समझी जाती है। अरस्तू ने भी घटनाओं के संगठन को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है क्योंकि जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है। उन्होंने तो यह भी कह डाला है कि " बिना कार्य व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र चित्रण के हो सकती है।"[१] पं० सीताराम चतुर्वेदी ने घटना-चक्र-रीति से कथावस्तु रचना के तीन उपाय बताए हैं —एक तो यह कि घटनाओं में विरोधी व्यक्तियों और विरोधी परिस्थितियों का समावेश कर दिया जाय जैसे यदि एक व्यक्ति कोई व्यवसाय करना चाहता है तो उसका साझी प्रसिद्ध ठग या धूर्त रख दिया जाय, उसके परिवार में कोई ईर्ष्यालु व्यक्ति खड़े कर दिये जांय जो आर्थिक बाधा उत्पन्न करें तथा सह व्यवसायियों की ओर से भी विरोध उत्पन्न करा दिया जाय। ये स्वाभाविक बाधाएं हैं। दूसरा प्रकार है कि घटनाओं में दैवयोग का सम्मिश्रण कर दिया जाय जैसे व्यवसाय के लिए जाते हुए गाड़ी उलटना, पुल टूट जाना

---

१. डॉ० नगेन्द्र : "अरस्तू का काव्यशास्त्र", प्र०सं०, सं० २०१४, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ० २०-२१ (अनुवाद अंश से)

आँधी पानी आदि । तीसरे में नायक के स्वभाव में कुछ दोष आरोपित कर दिये जायें जैसे सज्जन होते हुए भी अभिमानी हो, उदार होने हुए भी किसी विशेष वर्ग या दल से ईर्ष्या करता हो ।[२] जिन नाटकों में व्यक्तियों की मानसिक भावनाओं का द्वन्द्व अथवा घात-प्रतिघात वर्णित हो उन्हें मनोवैज्ञानिक रीति कहा जायगा ।

नायक-केन्द्र-रीति

हिन्दी नाटकों में उपर्युक्त प्राय: सभी रीतियों का वस्तु निर्माण में प्रयोग पाया जाता है। भारतेन्दु के नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', चन्द्रावली तथा नीलदेवी में क्रमश: नायक, नायिका, नायिका-केन्द्र-रीति से वस्तुओं की रचना हुई है। इन पौराणिक, ऐतिहासिक नाट्य रूपों में व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। व्यक्ति के चरित्र से घटनाओं का विकास हुआ है। आरम्भ में ही नारद और इन्द्र के वार्तालाप से हरिश्चन्द्र के सत्-चरित्र, धर्मावलम्बी होने का संकेत प्राप्त होता है जिसके आधार पर सारी घटनाएं निर्मित की जाती है। 'चन्द्रावली' में विरह विदग्धा नायिका के आस पास सम्पूर्ण कार्यव्यापार चक्कर लगा रहा है। वस्तु व्यापार की दृष्टि से तो यह नाटिका नगण्य है किन्तु जो भी है नायिका के चरित्र के फलस्वरूप है। 'नीलदेवी' में प्रत्यक्ष रूप से नायिका का महत्त्व दिखाई पड़ता है। आरम्भ से ही कार्यव्यापार में नीलदेवी के चरित्र का महत्व सामाजिकों को दिखाई पड़ता है जब वह नायक सूर्यदेव को अब्दुश्शरीफ के अधर्मयुक्त कौशलपूर्ण लड़ाई से सावधान है।[२] पति की मृत्यु के उपरान्त कुमार को पिता के पथ का अनुसरण करने के लिए तत्पर देखकर स्वयं बाहर आती है और सम्मुख युद्ध न करके कौशल से युद्ध की सलाह देती है।[३] नायिका के चरित्र से अब्दुश्शरीफ के बध की घटना घटित होती है तथा नायिका का महत्त्व उक्त घटना से अधिकाधिक बढ़ जाता है। भारतेन्दु के 'सती - प्रताप' में नायिका सावित्री के चरित्र से घटनाओं का विकास हुआ है। श्रीनिवासदास ने 'रणधीरप्रेममोहिनी' में नायक रणधीर के चरित्र से घटनाओं का विकास दिखाया । रणधीर को केन्द्र बनाकर

---

१. अभिनव-भरत-आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी : 'अभिनव नाट्यशास्त्र', प्र०सं०, द्वि०सं०, सन् १९५४, किताब महल, इलाहाबाद, पृ० १९८

२. ब्रजरत्नदास :'भारतेन्दु नाटकावली', प्र० भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामनारा०, इलाहाबाद, पृ० ४२७

३. वही, पृ० ४४६

सारी कथा उसी पर अवलम्बित की गई है। राय देवी प्रसाद कृत चन्द्रकला भानु-कुमार, श्रीनिवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' विद्याधर त्रिपाठी, 'रसिकेश' कृत 'उद्धवशीठि नाटिका' में घटनाएं नायक - नायिका के कार्य कथन के परिणाम-स्वरूप प्रकट होती चलती हैं। ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों में विशेष रूप से नायक केन्द्र-रीति का निर्वाह दिखाई पड़ता है।

राधाकृष्णदास कृत 'महाराणा प्रताप' में महाराणा प्रताप नायक हैं तथा उन्हीं के आस पास सारी घटनाएं चक्कर लगा रही हैं। नायक के चरित्र का पूर्ण विकास भी हुआ है। बालकृष्ण भट्ट के 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक सामाजिक नाटक में नायक के चरित्र से घटनाओं का विकास दिखाया गया है। पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' ऐसा ही नाटक है। ईसा के पिता जोसेफ ने ईसा को भारतभूमि में भेज दिया है। ईसा स्वदेश पर बलिदान होने के लिए तैय्यार हो रहे हैं। ईसा के चरित्र से अनेक घटनाओं का विकास होता चलता है। इस क्रम से घटनाओं का गुम्फन दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक भावी घटना ईसा के कार्य विचार के परिणामस्वरूप प्रकट होती चलती है। मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास' नाटक में भूला भटका बालक चन्द्रहास गालव मुनि की दृष्टि के सामने आ जाता है। उसके भोलेपन, सरलता और सौम्य रूप तथा भाग्य की रेखा को देखकर वह कुन्तलपुर के मंत्री से कहते हैं कि इसे अनाथ न समझो यही एक दिन तुम्हारा विषयाधिकारी बनेगा। कुन्तलपुर का मंत्री धृष्टबुद्धि सुनते ही सतर्क हो जाता है तथा मरवा डालने के प्रयत्न में संलग्न दिखाई पड़ता है किन्तु अपने भोले असाधारण स्वभाव के कारण वह बचता जाता है। नियति की प्रबलता के कारण तीव्रतम घटनाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ फल को प्राप्त करता है। अर्थात् चन्द्रहास के चरित्र से घटनाओं का विकास किया गया है। नायक पर सारी कथा अवलम्बित है।

प्रसाद का 'राज्यश्री' नायिका प्रधान नाटक है। प्राक्कथन में ही नाटककार ने इस रूपक का उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र-चित्रण बताया है।[१] राज्यश्री के आदर्श, सात्त्विक और कोमल स्वभाव को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में ही अपने पति के अन्त तक राज्यश्री को केन्द्र बनाकर उसी पर सारी कथावलम्बित की गई है। प्राय: भावी घटनाएं नायिका के कार्य या कथन के परिणामस्वरूप प्रकट होती चली हैं। आरम्भ में ही महारानी राज्यश्री दानपर्व में व्यस्त हैं। शांति भिक्षु (बाद में विकटघोष) भी इस पर्व में सम्मिलित होता है। वह

एकटक राज्यश्री की ओर देखने लगता है । राज्यश्री का यह कथन है कि 'भिक्षु, तुमने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है किन्तु तुम्हारा हृदय अभी ....[1] । इस कथन के अनुरूप वह सचमुच ही डाकू तक बन जाता है और राज्यश्री को अन्त तक घटनाचक्रों में फंसाता रहता है । नरेन्द्र से मिलकर राज्यवर्द्धन की हत्या करता है । अन्त में हर्षवर्द्धन की हत्या के प्रयत्न में पकड़ा जाता है । 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में कुरु साम्राज्य का अधिपति युवक जनमेजय तेजस्वी, वीर, उत्साही, राजमद में गर्वित नायक है जिसके चरित्र से घटनाएं विकसित होती चलती हैं । नागयज्ञ की घटना जनमेजय के विचार या प्रतिज्ञा की ही परिणाम है । प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में इतनी अधिक प्रासंगिक कथाएं रख दी गई हैं कि घटनाएं भी आपूरित हो गई हैं फिर भी आरम्भ से अन्त तक प्रमुखता चन्द्रगुप्त को मिली है । इस नाटक में सबसे अधिक भाग चाणक्य का है किन्तु चाणक्य भी जो कुछ कूटनीतिक कार्य करता है, चन्द्रगुप्त का एकछत्र राज्य स्थापित करने के लिए ही करता है । अतः चन्द्रगुप्त को केन्द्र बनाकर कथा का गुम्फन करना ही कहा जाएगा । आरम्भ में ही दाण्ड्यायन की चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में भविष्यवाणी सूचित करती है कि नायक को केन्द्र बनाकर सारी कथा उसी पर अवलम्बित की जायेगी । इसमें घटनाओं का आधिक्य है । इतनी अधिक घटनाओं का रंगमंच पर सीमित समय में अभिनय अत्यन्त दुष्कर कार्य है ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अशोक' भी नायक को केन्द्र बनाकर उसके चरित्र का उद्घाटन करता हुआ ज्ञात होता है । मिश्र जी के 'राक्षस का मन्दिर' को नायिका-केन्द्र रीति पर लिखा गया नाटक कह सकते हैं क्योंकि छोटी उम्र में रामलाल की रखैल के रूप में आई असगरी ही इसकी नायिका है तथा नाटक का केन्द्र है । इसे असगरी के जीवन की कहानी कहना अनुचित नहीं होगा । हरिकृष्ण प्रेमी का 'शिवा-साधना' शिवाजी के चरित्र द्वारा उत्पन्न कार्यों एवं घटनाओं का संग्रह प्रस्तुत करता है । नायक को केन्द्र बनाकर तदनुरूप घटनाओं की सृष्टि की गई है और प्रायः सभी क्रिया प्रतिक्रियाएं, घटनाएं और प्रसंग नायक के कार्य या कथन के परिणामस्वरूप उपस्थित हुए हैं । इसी प्रकार सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' नाटक में समस्त कथानक प्रकाश के चारों ओर केन्द्रित है । राजा जयसिंह द्वारा किए गए प्रतिशोध में ही प्रकाश का भिन्न व्यक्तित्व झलक उठता है तथा विकास की अवस्था से लेकर अन्त तक प्रकाश के चरित्र द्वारा घटनाओं की सृष्टि होती गई है । 'प्रकाश'

---

१. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री, [illegible], सं० २००८, भारती भं०, इलाहाबाद, पृ०८ (प्र०अं०)

नायक -केन्द्र-रीति का अच्छा उदाहरण है तथा 'सिद्धान्त-स्वातंत्र्य' में नायक त्रिभुवनदास के चरित्र से प्राय: सम्पूर्ण घटनाएं घटित होती हैं। उक्त पात्र के आदेश से गोलीकाण्ड की घटना में उसका पुत्र मनोहर घायल हो जाता है परन्तु वह सिद्धान्त स्वातंत्र्य का राग अलापता रहता है।

सेठ जी के 'सेवापथ' में दीनानाथ के कार्यों तथा कथन के परिणामस्वरूप कथा विकसित होती है अत: इसका नायक है जिसके मित्र भी उसके प्रतिद्वन्द्वी बन गए हैं किन्तु दीनानाथ अपने विशेष गांधीवादी चरित्र के अनुरूप लोकप्रिय तथा अनुकरणीय बन जाता है। इस नाटक की समस्या है कि देश-सेवा का कौन-सा पथ सर्वश्रेष्ठ है। दीनानाथ शरीर से शक्तिपाल राजनीति से और श्रीनिवास धन से सेवा करना चाहते हैं किन्तु दीनानाथ ऊपर वर्णित व्यक्तित्व के अनुसार सफल सिद्ध होता है। आरम्भ से अन्त तक नायक की नि:स्वार्थ सेवा की वजह से वह सर्वोपरि दिखाई देता है। यह स्पष्टत: नायक-केन्द्र-रीति से लिखा गया नाटक है।

उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय' नामक ऐतिहासिक नाटक अनावश्यक रूप से विस्तृत हो चुका है। उसमें चंड को केन्द्र बनाकर कथानक का विकास दिखलाया गया है किन्तु अत्यधिक विस्तार में नायक केन्द्र रीति का पालन भी सुचारु रूप से नहीं हो सका है। आरम्भ में ही चंड पिता की हँसीकी बात को सत्य कर दिखाने के लिए हंसाबाई को अपनी मां मान लेता है। इससे वृद्ध राणा को युवती हंसा से विवाह करना पड़ जाता है जिससे उलझनें तथा जटिलताएं बढ़ती जाती हैं। राणा की मृत्यु के उपरान्त रानी चंड को निर्वासित कर देती है आदि। प्राय: सभी ऐतिहासिक नाटकों में नायक अथवा नायिका को केन्द्र बनाकर कथा का विकास दिखाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

घटना-चक्र-रीति

भारतेन्दु का 'विषस्यविषमौषधम्' नामक भाण 'अंधेर नगरी' प्रहसन में क्रमश: घटना विशेष के रहस्यों का उद्घाटन होता है तथा हास्य-रस के अनुकूल घटनाओं के आधार पर चरित्र निर्माण का कार्य किया गया है। भण्डाचार्य आकाश-भाषित संवादों में स्वयं प्रश्न और उत्तर के द्वारा रहस्यमूलक दुर्व्यसनी व्‍यापारी

नरेश के पदच्युत होने का रहस्य खोलता है और महाराज मल्हारराव के चरित्र पर प्रकाश डालता है। इसमें घटना-चक्र-रीति द्वारा चरित्र का चित्रण हुआ है। 'अँधेर-नगरी' में मनोरंजक घटनाओं के द्वारा दर्शकों का मनोविनोद किया गया है। इन घटनाओं के द्वारा राजा तथा प्रजा के मूर्ख चरित्र पर व्यंग्य उपस्थित किया है। गोपालराम गहमरी का 'देशदशा नाटक' कई छोटी छोटी घटनाओं के मिश्रण से तैयार किया गया है। पुलिस स्टेशन की घटना, कचहरी में बुढ़िया के सवालजवानी की घटना, पोस्ट आफिस तथा रेलवे स्टेशन की घटना, लाटूसेठ के ८ साल के लड़के के विवाह में ३००००) लेने और लड़की के विधवा होकर दूसरे से गर्भ वहन करने पर भागती हुई बहू को पाँच पाँच सौ रुपये लेकर सिपाहियों से छुड़ाने की घटना देवधरा के चण्डूदास के यहाँ ओझा को ठगने की घटना के माध्यम से तत्सम्बन्धी विभागों को चरित्र समाज के सम्मुख उपस्थित किया गया है।

मूलचन्द्र कृत 'पुलिस नाटक' धनदास के घर चोरी की घटना को लेकर विकसित हुआ है। इस घटना ने राजा के चरित्र का उद्घाटन किया है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन राजा के चरित्र द्वारा होता है कि अगर मलिक ईमानदार हो तो बराबर न्याय होगा। घटना-चक्र-रीति से नायक का चरित्र निर्माण हुआ है। भारतेन्दु-युग में सामाजिक राजनैतिक नाटकों में घटना चक्र-रीति का आरम्भ हो गया था।

प्रसाद का 'विशाख' भी घटनाचक्र रीति से लिखा गया नाटक है। विशाख और चन्द्रलेखा के प्रणय में विरोधी नरदेव विरोधी परिस्थितियाँ एकत्रित कर देता है क्योंकि वह स्वयं चन्द्रलेखा पर आसक्त है। और नायक को घात-प्रतिघात का सामना करना पड़ता है किन्तु त्रुटिपूर्ण तब दिखाई देता है जब प्रेम की स्वच्छन्द रीति के अनुसार उसके स्वरूप को तीव्र बनाकर प्रेममूलक वस्तु-विकास सामान्य अड़चनों के अनन्तर आगे होता गया है। नायक नायिका पर घात-प्रतिघात का अवसर आते ही आकस्मिक घटनाओं का सृजन कर दिया गया है जैसे अकस्मात प्रेमानन्द का चैत्य के पास आकर चन्द्रलेखा की रक्षा, विशाख के नरदेव पर हमला करने पर नरदेव की आकस्मिक रक्षा आदि। प्रसाद के 'अजातशत्रु' तथा 'स्कंदगुप्त' नाटक घटनाचक्र-रीति के अनुसार लिखे गए हैं। दोनों ही ऐतिहासिक नाटक हैं जिनमें अनेक कथाओं

को एक साथ समेटकर रख दिया गया है। आपस में अनेक शक्तियों के संघर्ष के फल-स्वरूप विविध घटनाओं की सृष्टि हुई है । स्कन्दगुप्त में आरम्भ में ही हूणों के आक्रमण की घटना से कथा का प्रारम्भ होता है तथा तत्संबंधी वाद-विवाद से स्कन्दगुप्त के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। भटार्क अनन्तदेवी, पुरगुप्त आदि विरोधी व्यक्ति हैं जिससे विरोधी परिस्थितियों का समावेश हुआ है। पारिवारिक ईर्ष्या के कारण अनेक प्रकार का विरोध उत्पन्न हुआ है। भटार्क, अनन्तदेवी प्रपंच बुद्धि आदि के स्कंदगुप्त के विरुद्ध षड्यंत्र के फलस्वरूप कुभा का बाँध टूटता है और स्कन्द सहित उसके सैनिक जल-प्रवाह में बह जाते हैं। बहुत दिनों बाद अपनी जननी की समाधि पर देवसेना तथा पर्णदत्तसे मिलता है। राजनीतिक परिस्थितियाँ तथा घटनाओं के प्रवाह में डूबता उतराता स्कंदगुप्त एक दिन उसके विरुद्ध तैरकर अपने व्यक्तित्व और चरित्र की अभिव्यक्ति करता है।

इसी प्रकार प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में घटनाओं और परिस्थितियों के चक्र में पड़ कर ध्रुवस्वामिनी का चरित्र निर्मित हुआ है। परिस्थितियों पर अधिकार करके वह अपने अनुकूल बनाती है। चन्द्रगुप्त की वाग्दत्ता पत्नी बनकर ध्रुवस्वामिनी आई थी किन्तु समुद्रगुप्त द्वारा चन्द्रगुप्त को दिये गए सिंहासन का अपहरण किया गया और रामगुप्त राजा बनकर ध्रुवस्वामिनी का भी पति बन बैठा। शकराज के ध्रुवस्वामिनी की माँगपर रामगुप्त फौरन उसे शक-दुर्ग में जाने का आदेश देता है किन्तु ध्रुवस्वामिनी थोड़ी देर परिस्थिति के दलदल में फँसती हुई दिखाई पड़ती है, तभी चन्द्रगुप्त के आ जाने से इस दलदल को पार करने की बुद्धि काम में ले आती है। राजनीतिक, वैयक्तिक, संघर्षों में आरम्भ से ही पड़ी रहने के कारण वह बुद्धिजीवी बन गई है और बुद्धि के बल पर घटनाओं के प्रवाह को तैरकर पार कर जाती है। भविष्य से लड़ने और अपने भाग्य का निर्माण करने के उद्देश्य से ही वह शक-दुर्ग में जाने का निश्चय करती है। रामगुप्त और शकराज द्वारा उपस्थित की गई परिस्थिति पर चन्द्रगुप्त की सहायता से विजय प्राप्त करती है। तत्पश्चात् राक्षस-विवाह का विरोध करती है। राजा तथा मंत्री के विपरीत परिषद के अन्य लोगों को अपने अनुकूल बना लेती है। प्रत्युत्पन्न मति के कारण घटनाओं पर विजय प्राप्त करती गई है। आरम्भ से ही घटनाएं उसके पीछे पड़ी हैं। उलझनपूर्ण स्थिति में उलझकर तैर जाती है और अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का परिचय देती है। 'अमर सिंह' चतुरसेन शास्त्री का घटना प्रधान ऐतिहासिक नाटक है। इसमें घटनाओं की प्रधानता के

कारण कुतूहल का पर्याप्त समावेश पाया जाता है ।

गोविन्दवल्लभ पन्त के 'वरमाला' नाटक में आकस्मिक और अप्रत्याशित घटनाओं के द्वारा कथा प्रवाहित होती है । जैसे जलाशय में पानी पीते समय नक्र का अविक्षित को निगलने का प्रयत्न, वैशालिनी का बाण मारकर रक्षा करना, राक्षस के वैशालिनी को पकड़ने के प्रयत्न में अविक्षित द्वारा उसकी हत्यादि आकस्मिक घटनाएं हैं परन्तु कथा को गति देने में सहायक हैं । सेठ गोविन्ददास के पौराणिक नाटक 'कर्तव्य' में दो खण्डों में राम तथा कृष्ण के चरित्रों का तुलनात्मक रूप प्रदर्शित किया गया है । विभिन्न परिस्थितियों और घटनाओं के माध्यम से राम और कृष्ण का चरित्र विकसित हुआ है । परिस्थितियों और घटनाओं के उपस्थित हो जाने पर राम अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित हो उठते हैं । वन-गमन के समय राम के मन में प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष चल रहा है और श्रीकृष्ण को अक्रूर के मथुरा ले जाने की घटना से कृष्ण गोकुल के लोगों के लिए बिल्कुल द्रवित नहीं होते । सीता-हरण की घटना से राम-सुग्रीव की मित्रता और बालि-वध दिखाया गया है । परिस्थिति वश राम को बालि-वध करना पड़ता है परन्तु वह अन्याय और पाप के मानसिक संघर्ष में पीड़ित है । जरासंध के युद्ध से तंग आकर कृष्ण मथुरा से भाग जाने में देर नहीं करते हैं । कृष्ण विषम परिस्थितियों में भी शान्त भाव से प्रत्युत्पन्नमति से कार्य करते जाते हैं बाद में पश्चाताप नहीं करते हैं और राम घटनाओं के सम्मुख आ जाने पर भावुक प्राणी के समान न्याय अन्याय आदि के संघर्ष में मृत्यु पर्यन्त फंसे रहते हैं । यद्यपि दोनों खण्डों में घटनाएं रामायण और महाभारत के सर्वथा अनुकूल हैं किन्तु घटनाओं के मध्य चरित्र तथा कथावस्तु का विकास नवीन रीति से हुआ है इसके पूर्वार्द्ध के प्रथम अंक में सिद्धान्त पालन आदि आदर्श स्थापना के लिए राम-वनवास की आकस्मिक , अप्रत्याशित घटना होजाती है , दूसरे अंक में राम की पर्णकुटी से रावण का सीताहरण की घटना तथा तीसरे में सती सीता की अग्निपरीक्षा की प्रचलित घटना को उपस्थित करके भी नया मोड़ देने का प्रयत्न दिखाई पड़ा । चौथे अंक में पुन: गर्भवती सीता का प्रजारंजन के लिए वन में निष्कासन के फलस्वरूप वियोग-घटना तथा दण्डकवन में शम्बूक वध की घटनाएं घटित होती हैं । पांचवें अंक में सीता निर्वासित होने के बारह वर्ष पश्चात् अश्वमेध यज्ञ के अवसरपर सीता ग्रहण

के अवसर पर पुन: राम द्वारा शुद्धता की परीक्षा की माँग करने पर आकस्मिक भूकम्प से पृथ्वी फटने की दैवी घटना से सीता पृथ्वी में प्रवेश कर जाती हैं तथा कुछ वर्षों बाद लक्ष्मण-राम आदि सभी अयोध्यावासी दैवी घटना भूकम्प से पृथ्वी में लय हो जाते हैं। इस प्रकार पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में कथा का विकास घटनाओं के मध्य होता है। प्रधान नाटक घटना को अनेकघटनाओं में बाँटने का सफल प्रयत्न सेठ जी के इस नाटक में दिखाई पड़ता है।

सेठ जी का 'कुलीनता' 'कर्ण' के समान भावनात्मक नाटक है किन्तु इसमें अपेक्षाकृत घटनाएं अधिक हैं जिनके मध्य संघर्ष करता हुआ, डूबता उतराता यदुराय अन्त में विजयी होता है। प्रारम्भ में ही अजयसिंह देव के सम्मुख कुश्ती में वाघसिंह तथा अन्य सर्दारों को एक साथ यदुराय के पछाड़ देने की घटना घटित होती है किन्तु अकुलीन गौंड यदुराय को राजा अपनी पुत्री रेवा सुन्दरी से प्रेम करने के कारण त्रिपुरी से निष्कासन दे देते हैं किन्तु वीर यदुराय त्रिपुरी राज्य का राजा अन्त में बनता है। अकुलीन यदुराय का कुलीन राजकुमारी रेवासुन्दरी से विवाह होता है। युद्ध और संघर्ष से नाटक आवृत है। इसे घटना प्रधान नाटक की श्रेणी में रखना उपयुक्त है। घटना प्रधान नाटकों में मनुष्य की मानसिक क्रिया के अनुरूप चेष्टाएं, दैवी घटनाएं तथा आकस्मिक घटनाएं आदि नाटकीय क्रिया व्यापार के अन्तर्गत समाविष्ट हुई हैं।

कुतूहल-निर्वाह-रीति—

हिन्दी नाटकों के रचयिताओं ने कुतूहल-निर्वाह-रीति से भी अनेक नाटक लिखे हैं। सम्भव असम्भव तथा अप्रत्याशित घटनाओं का एक ढांचा इस प्रकार खड़ा किया जाता है कि आरंभ से अंत तक कुतूहल बना रहता है। पारसी रंगमंचीय नाटक विशेष रूप से इसी दृष्टि से लिखे गए। इनके आवेग और कुतूहल ने सामान्य जनता को उद्वेलित कर दिया था। रामनरेश त्रिपाठी का 'जयंत' ऐसा ही नाटक है। बसंती, कुसुम और जयंत गरीबी में भूख से संघर्ष कर रहे हैं कि सेठ के आदमी नरेन्द्र और रुस्तम बसंती को गिराकर, जयंत को मारते पीटते कुसुम को उठाकर अदा से

भाग जाते हैं। जयंत बड़ा होकर डाकू बनता है। सिपाहियों से संघर्ष करते हुए सबको हराकर मनोहरलाल को महल के नीचे फेंक देता है। बीभत्स दृश्य उपस्थित हो जाता है। राजकुमारी और मृदुला तक तलवार चलाती हैं। अन्त में सब ठीक हो जाता है। आवेग और कुतूहल इस नाटक की विशेषता है। बेचन शर्मा 'उग्र' का महात्मा ईसा नाटक कुतूहल पूर्ण घटनाओं से भरा हुआ है। अस्वाभाविक अद्भुत दृश्यों के समावेश में नाटककार को संकोच नहीं हुआ है। कथा का आरम्भ धर्म पिता मोहन का सिर घटवाने से होता है। ईसा को क्रूस पर चढ़ाया जाता है। हेरोद की छाती में प्रकाशमान देवदूत तलवार चुभा कर अलक्षित हो जाता है। उसके अलक्षित हो जाने पर अन्धकार में ईसा की मूर्ति दिखाई पड़ती है। ये सभी दृश्य कुतूहल का निर्वाह करते हैं। अवास्तविकता को लादने का प्रयत्न कुतूहल-निर्वाह रीति में हुआ करता है।

प्रो० सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' नाटक पूर्णतया कुतूहल पूर्ण घटनाओं से आवृत है। मदनमिल्लका का यमुना में कूदने का अभिनय, रंगमंच पर स्वच्छंदता पूर्वक युद्ध का दृश्य उपस्थित करना, पर्दा फटना और अप्सराओं के बीच देवी का प्रकट होना तथा तीव्र प्रकाश के साथ स्वर्ग में चम्पतराय का प्रकट होकर फूल बरसाना आदि कुतूहल की सृष्टि करने में योग देते हैं। दर्शक कष्टदायक अवास्तविक किन्तु आकर्षक परिस्थितियों के एकत्रित होने से कुतूहल का अनुभव करता है। नाटक समाप्त होने पर इसकी अस्वाभाविकता पर जब हमारा ध्यान जाता है तब इसके अद्भुत होने का पता चलता है। गोविन्दवल्लभ पन्त के 'अंगूर की बेटी' नाटक की रचना में रक्तरंजित घटनाएं, शराबी मनमोहनदास का शराब पीकर नालियों में गिरना, पत्नी को बोतल से मारना, माधव को पिस्तौल चलाना, अँधेरी रात में नदी में मोटर सहित प्रतिभा और माधव का गिरना माधव को सख्त चोट तथा मृत्यु आदि के दृश्य कुतूहल को चरमसीमा पर लाकर छोड़ते हैं। कुछ आकस्मिक घटनाएं जैसे टूटे हुए पुल पर गधे से धक्का लगकर प्रकाश-पेटिका के बुझ जाने से मोटर का अकस्मात नदी में गिर जाना रंगमंच पर संभव ही है। पन्त जी ने कुतूहल मात्र की सृष्टि के लिए इस नाटक की रचना नहीं की है किन्तु इसकी कथावस्तु में घटनाओं का ढांचा इस प्रकार बंध गया है कि कुतूहल, आवेग का पर्याप्त समावेश हो पाया है।

वृन्दावनलाल वर्मा के 'बांस की फांस' में कुतूहल निर्वाह की रीति का पालन विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। रेलों का टकरा जाना आकस्मिक कौतूहल को

जन्म देता है। एक भिखारिन की लड़की पुनीता को गोकुल का रक्त और मांस देकर तथा फूलचन्द मन्दाकिनी को अपना रक्त देकर प्राण रक्षा करते हैं। यह भी आकस्मिक और अप्रत्याशित एवं अस्वाभाविक है। बुढ़िया का एकाएक अस्पताल में पुनीता से मिलना सभी कुतूहल को बढ़ाते हैं। वर्मा जी के 'फूलों की बोली' नाटक में भी इसी रीति का पालन दिखाई पड़ता है। स्वर्ण-रसायन का विषय यों भी बड़ा कुतूहलपूर्ण है दूसरे बलभद्र का नारी रूप में आना, यज्ञकुण्ड से प्रकट होना, छुरी से आत्मघात करने का प्रयत्न आदि कुतूहल और आश्चर्य तथा चमत्कार पूर्ण घटनाएं हैं।

मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति—

आधुनिक हिन्दी नाटकों में मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति का प्रयोग भी कथावस्तुओं के संगठन में दिखाई पड़ता है। पृथ्वीनाथ शर्मा का 'अपराधी' नाटक प्रारम्भ से ही मनोवैज्ञानिक आधार-भूमि ग्रहण करके चला है। अशोक बाबा से वाद-विवाद करके अन्तर्द्वन्द्व में उलझा हुआ घर से निर्वासित सड़क पर चला जा रहा है। इसी बीच कोई चोर पकड़े जाने के भय से अशोक की जेब में चोरी की घड़ी डालकर भाग जाता है। अशोक असली चोर को पकड़वाने से मना करता है क्योंकि यहां वह मनोवैज्ञानिक रीति से सोचता हुआ चलता है कि कहीं वह चोर भी उसी के समान न निर्दोष हो और पता नहीं किन परिस्थितियों से मजबूर होकर उसने ऐसा किया हो। और चोर का पता न लगने पर उसे ही सजा होगी जिसे वह अधिक अच्छा समझता है। लीला, रेणु, मैजिस्ट्रेट तथा अशोक सभी अन्तर्द्वन्द्व में संगत-असंगत बात ही को निकाल लाने के लिए प्रयत्नशील हैं। उधर अपराधी को अपना अपराध स्वीकार करने की बात सोचना भी मनोवैज्ञानिक ही है। जिसका प्रमाण एकाएक फैसले की सुनवाई के दिन स्वयं को कचहरी में असली अपराधी घोषित करने के द्वारा मिलता है। जिस वाटिका में अशोक प्रतिदिन जाकर बैठता है, ~~मिलता है।~~ एक आया भी बच्चों को सैर कराने के लिए आती है। उन बच्चों से अशोक अपना नाम बदल-कर अपनी ही कहानी प्रारम्भ करता है। जैसे जैसे जीवन की कहानी मोड़ लेती है, वह बताता जाता है। अपने जेल से छुटकारा प्राप्त करने की कहानी बताकर और

आया के पति की जैल जाने की कहानी से वह गाथा समाप्त होती है। अशोक जब चोरी की बात पर आया था तब आया का मन चंचल हो उठा क्योंकि चोर आया का पति ही था। आया ने गहरी सांस लेकर कुछ तत्संबंधी प्रश्न किए जिससे एक भद्रपुरुष के अनायास सचा से उसकी उद्विग्नता परिलक्षित होती थी। इसमें मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति के द्वारा नायक के चरित्र में स्वाभाविकता की रक्षा हो सकी है। व्यवहार तथा संवाद स्वाभाविक एवं परिस्थिति के अनुकूल हुए हैं।

पन्त जी के 'सुहागबिन्दी' नाटक में मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति पर कथावस्तु का संगठन पाया जाता है। पति-त्यक्ता और पीड़ित नारी विजया के दुःख का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण नाटककार ने उपस्थित किया है। पति कुमार लोक लाज के कारण अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है किन्तु अपनी पत्नी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है। पिता भी इसी भाव के कारण पुत्री को नहीं पहचानता है किन्तु विजया, कुमार एवं पिता के मनोवैज्ञानिक भावों का बड़ा स्वाभाविक रूप प्रस्तुत किया गया है। उनका व्यवहार और संवाद परिस्थिति के अनुकूल हुआ है। आपस में पति-पत्नी, पिता-पुत्री का निकट संबंध ही है किन्तु फिर भी द्वन्द्व उपस्थित हो गया है। पन्त जी का दूसरा अन्तर्द्वन्द्व मय मनोवैज्ञानिक नाटक 'अन्तः-पुर का छिद्र' ईर्ष्या के कारण विकास प्राप्त करता है। पद्मावती पति से छिपा-कर कक्ष में छिद्र बनाकर बुद्ध के दर्शन प्रतिदिन करना चाहती है। मागंधिनी उदयन से यह राज खोलकर फूट का बीज बोने में कुछ समय के लिए समर्थ होती है किन्तु उदयन अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। पद्मावती के प्रति उसका व्यवहार रूखा होता जा रहा है। पद्मावती के मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिए अन्तर्द्वन्द्व का सहारा लिया गया है। वह कहती है -- कुछ भी समझ में नहीं आता। जितना इस दूर के पुष्प को चुनने के लिए हाथ बढ़ाती हूं, उतना ही यह शंकित पुष्प अंचल से च्युत होता जात होता है। कौन हो तुम ? शतदल पत्र में विकसित अभिताभ ! या अनन्त कांटों में छिपे हुए कराल काल विषधर.... (कुछ विचार कर) किसी ने निश्चय महाराज से कुछ कह दिया है। आदि।[1] मरने के पूर्व मागंधिनी भी अन्तर्द्वन्द्व और पश्चा-

---

1. गोविन्दवल्लभ पन्त : 'अन्तःपुर का छिद्र', प्रथमावृत्ति, सं० १९९७, गं०पु०मा०का०, लखनऊ, पृ० ५१

ताप के भाव से पीड़ित है। सभी पात्रों का आपस में निकट संबंध है जिससे ईर्ष्या का बड़ा स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक स्वरूप उपस्थित किया जा सका है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के `सिन्दूर की होली` में स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति रीति पर घटनाओं का संगठन किया गया है। एक भूल को छिपाने के लिए मनुष्य को अनेक भूलें करनी पड़ती हैं। इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण नाटककार ने उपस्थित किया है। स्वच्छन्द शिक्षित नारी पर मुरारीलाल जैसे पापी व्यक्ति के चरित्र का उल्टाप्रभाव बिल्कुल स्वाभाविक है। रजनीकान्त की पचास हजार रुपये लेकर हत्या की अनुमति दे देने के प्रायश्चित्त स्वरूप वह मृतप्राय रजनीकांत के हाथों सिन्दूर पहन लेती है और जीवन भर विधवा बनी रहने की घोषणा करती है।

मिश्र जी का `राजयोग` सामाजिक समस्या प्रधान नाटक है। मानसिक ग्रन्थि की समस्या इसका विषय है। और इसका समाधान है कि किसी भी पाप या अपराध को छिपाना या भीतर दबाना ठीक नहीं है। इससे मानसिक ग्रन्थि बनती जाती है। पाप को छिपाने के कारण गजराज सिंह सदैव क्षुब्ध रहता है। शत्रुसूदन सिंह राजसत्ता के बल पर नरेन्द्र से प्रेम करती हुई चम्पा से अपना दूसरा विवाह कर लेता है। चम्पा का शत्रुसूदन की ओर न झुकना स्वाभाविक है। बड़े स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक ढंग पर कथा का विकास हुआ है। `मुक्ति का रहस्य` नाटक में भी मनोवैज्ञानिक-अभिव्यक्ति-रीति पर ही कथा का विकास किया गया है। मानसिक भावनाओं में द्वन्द्व से ही कथा आरम्भ होती है और नाटक के अन्त के साथ समाप्त होती है। आशा देवी के मानसिक घात-प्रतिघात जिसके कारण मनोहर की माँ को डाक्टर की सहायता से विष दिया जाना, तथा डाक्टर की सदैव उमाशंकर से मोल तोल देने की धमकी और उमाशंकर का पत्नी रूप में अव्यावहारिक रूप आदि हैं। उमाशंकर आशादेवी से प्रेम करता था जिसके लिए उसने अन्त में गहरी सांस लेते हुए स्वीकार किया किन्तु आशा अब डाक्टर की हो चुकी थी। आशा इस नाटक में प्रमुख स्थान रखती है। उसके चरित्र का बड़ा स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक रूप चित्रित हुआ है। आशा देवी के मनोवैज्ञानिक विकास पर ही

कथा अवलम्बित है।

सेठ गोविन्ददास के ऐतिहासिक नाटक 'कर्ण' में घटनाओं के मध्य कर्ण का धारावाहिक चारित्रिक विकास हुआ है किन्तु उससे अधिक मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजित रीति के द्वारा कर्ण की कथावस्तु विकसित हुई है। कर्ण की मानसिक भावनाओं के द्वन्द्व और घात-प्रतिघात का वर्णन इस नाटक में सबसे अधिक वर्णित है। मंजुषा को सम्बोधित कर कर्ण के शब्द उसके द्वन्द्वात्मक भावनाओं के द्योतक हैं। कर्ण के अन्तर्द्वन्द्व बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किये गए हैं। इसमें घटनाओं से अधिक भावनाओं का महत्व है। इसे मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजित रीति से लिखा गया नाटक ही कहेंगे। दूसरा नाटक 'दुःख क्यों ?' में भी कथानक का निर्माण मनोवैज्ञानिक रीति से हुआ है। ईर्ष्या अनेक बार अपने उपकारी के प्रति तीव्र रूप ले लेती है, इसका अच्छा उदाहरण इस नाटक की कथावस्तु में प्रस्तुत किया गया है। यशपाल इसका नायक है। कुलदत्त ने छात्रवृत्ति देकर उसे शिक्षित किया था किन्तु यशपाल के हृदय में अपने उपकारी के बढ़ते हुए प्रभाव के प्रति ईर्ष्या-भाव की उत्पत्ति होती है जिससे वह ईर्ष्या के वशीभूत होकर दुष्कर्म करता चलता है। एक बार ईर्ष्या का जन्म मानस में हो जाने पर व्यक्ति किस प्रकार की बातें सोचता है तथा कार्य करता है इसका बड़ा ही सुन्दर मनोवैज्ञानिक कथा विकास नाटककार दिखाने में सफल हुआ है। तीसरे नाटक 'गरीबी या अमीरी' में जीवन के सुख की समस्या का समाधान किया गया है। इसमें बड़े मनोवैज्ञानिक रीति से विषाभूषण और अचला के मानसिक परिवर्तन को लेकर कथानक का विकास हुआ है। विषाभूषण का मानसिक परिवर्तन गुप्त मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होता है। आदर्श की कृष्णा करते हुए वह विपत्तियों में फंसता जाता है अतः वह संभाल न पाने के कारण प्रतिक्रियावादी हो जाता है। अचला और उसके पिता के चरित्र का विकास पूर्णतया मनोवैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतरता है। आरम्भ से अन्त तक मनोवैज्ञानिक रीति से वस्तु का विकास हुआ है।

सेठ गोविन्ददास का चौथा मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजित-रीति पर लिखा

गया नाटक `महत्व किसे ?` है। इसमें सिद्ध कर दिया गया है कि मानव स्वभाव के कच्चा मनोविज्ञान के आधार पर सदैव सम्पन्नता को महत्त्व रहा है और आगे भी रहेगा। धनी, राष्ट्रसेवी और गांधीवादी कर्मचन्द नायक है तथा नायिका सत्यभामा विदुषी तथा बुद्धिमान है। इसमें नायक के जीवन को उदाहरणस्वरूप रख-कर मानव मनोविज्ञान के सहारे कथा का विकास कराया है। कर्मचन्द भावावेश में अनेक प्रकार कार्यों, चन्दों और सार्वजनिक संस्थाओं को दान देता रहता है, कर्ज-दारों का रुपया माफ कर देता है फलत: निर्धनता आ जाती है। जब जो प्रशंसक थे, बदनाम करने वाले बन गए। चारित्रिक निर्बलता निकालने में लोगों को देर नहीं लगती। एक पूंजीपति अधिक से अधिक सूद लेते रहने पर भी गिरफ्तारी का वारंट निकलवा देता है। सत्यभामा की प्रबन्ध कुशलता से कर्मचन्द को जैल जाने से बचाती है तथा खोई हुई लक्ष्मी पुन: प्राप्त करती है। पुन: सम्पन्न हो जाने पर कर्मचन्द की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। मानव स्वभाव का मनोवैज्ञानिक चित्रण विशेष रूप से इस नाटक में पाया जाता है। सेठ गोविन्ददास ने मनोवैज्ञानिक रीति से घटनाओं तथा विचारों को संगठित करके अनेक नाटक लिखे जिनकी हिन्दी नाट्य-जगत ने सराहना की।

उपेन्द्रनाथ अश्क का `स्वर्ग की झलक` में कथा का विकास मनोवैज्ञानिक पद्धति पर ही दिखाया गया है। रघु बी०ए०, एम०ए० पास अपने मित्रों की पत्नियों जैसी अप-टू-डेट पत्नी चाहता है और `भूषण` परीक्षा पास की हुई अपनी साली रक्षा से विवाह करने में आनाकानी करता है। इतवार के दिन वह एक मित्र के निमंत्रण पर भोजन करने उसके यहाँ पहुँचता है। उसकी शिक्षित पत्नी पति के सब्जी और खीर बना लेने पर केवल रोटी सेंकने भी नहीं उठती है। अशोक चीख उठता है तभी रघु पहुँचकर चीखने का कारण पूछता है। अशोक एकदम बदल देता है। रघु अशोक की विवशता को स्पष्ट समझ रहा है किन्तु मानव मनोविज्ञान उसे उस परिस्थिति में रखने को प्रेरित करता है। रघु का मन उद्विग्न हो उठना स्वाभाविक है। दूसरे मित्र के यहाँ जाता है तो उसकी पत्नी बीमार बच्चे को पति पर छोड़ कर कैटई में व्यस्त है। अन्तत: वह साली रक्षा से ही विवाह करने का निश्चय कर लेता है। मित्रों के दाम्पत्य जीवन को देखकर उसका प्रतिक्रियावादी हो उठना मनोवैज्ञानिक है किन्तु बड़े आश्चर्य-जीवनता भी कहीं। चरित्रों की स्वाभाविक विशे-षता के कारण कथानक में प्रवाह पाया जाता है।

'छठा बेटा' में पं० बसंतलाल के अचेतन मन में घुमड़नेवाली छठे बेटे के सुख पाने की आकांक्षा का स्वप्न के माध्यम से बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण उपस्थित किया गया है। पांचों बेटे तीन लाख रुपए लाटरी में पिता के प्राप्त करने पर चापलूसी करने लगते हैं जो शराबी पिता को किसी भी हालत में स्वीकार नहीं है। पात्रों की मनोवृत्तियों के मनोवैज्ञानिक उद्घाटन द्वारा कथावस्तु स्वप्न के सहारे विकसित हुई है। जब तीनों लाख बसंतलाल के पैर दबाकर, चिलमें भरकर, उनकी रुचि के अनुकूल सिर घुटाकर लम्बी सी शिखा पीछे रखकर लड़के हड़प लेते हैं तो पुनः उनके रखने की समस्या आ उपस्थित होती है। सभी पिता को अपने साथ रखने से इनकार कर देते हैं तो उनका खोया हुआ लड़का सेवा का आश्वासन देता है और उनकी नींद समाप्त हो जाती है। स्वप्न में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रधानता है। इसको मनोवैज्ञानिक-अभिव्यक्ति-रीति से लिखा गया नाटक ही कहेंगे। अश्क के 'कैद' में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व के सहारे असंतुलित दाम्पत्य-संबन्ध के ऐसे तथ्य का उद्घाटन किया गया है जिसमें सारा विक्षोभ बच्चों पर आकर उतर जाता है।

वस्तु— सरसता और नीरसता की दृष्टि से —

सरसता एवं नीरसता की दृष्टि से भारतीय आचार्यों ने दो भेद किये हैं-- दृश्य और सूच्य। जो सबके सुनने योग्य होने से दिखाया जा सके वह दृश्य कहलाता है और जिसकी केवल सूचना मात्र दी जाती है उसे सूच्य कहते हैं। धनिक धनंजय ने सूच्य को पहला विभाग और दृश्य को दूसरा माना है। धनंजय ने कहा है —

१. सूच्य—नाटक में आने वाली ऐसी कथावस्तु जो नीरस तथा अनुचित हो, उसकी केवल सूचना मात्र दे देनी चाहिए।[1]

२. दृश्य —ऐसी कथावस्तु जिसमें मधुर और उदात्त रस तथा भाव पूर्णरूप से भरे हों, उसे रंगमंच पर दिखाना चाहिए।[2] कथावस्तु (सूच्य) की सूचना पांच

---

१. नीरसो नुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तु विस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभाव निरंतरः ।। ५७ ।।
—धनिक धनंजय — दशरूपकम्, प्रथम: प्रकार:।

२ वही, कारिका ५८

प्रकार से दी जाती है — विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार।

विष्कंभक—जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो आगे होने वाली हो उसकी सूचना संक्षेप में मध्यपात्र के द्वारा दी जाती है, उसे विष्कम्भक कहते हैं।[१] विष्कम्भक दो प्रकार के बताये गए हैं —शुद्ध और संकीर्ण। जब एक या दो मध्यम पात्रों के द्वारा सूचना दी जाती है तो शुद्ध विष्कंभक होता है। जब मध्यम या अधम पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है तो संकीर्ण विष्कंभक होता है।[२]

२. प्रवेशक—इसमें बीती हुई तथा आगे आने वाली बातों की सूचना दी जाती है। पर इसमें सूचक नीच पात्र ही होते हैं तथा प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। यह दो अंकों के बीच में आता है। इसमें छूटी हुई बातों की सूचना दी जाती है।[३]

३. चूलिका—नेपथ्य से अर्थ की सूचना देने को चूलिका कहते हैं। इसकी परिभाषा और प्रयोग के विषय में मतभेद नहीं है।[४]

४. अंकास्य —अंक के अंत में आने वाले पात्र के द्वारा अगले अंक के आरम्भ में आने वाले पात्रों आदि की सूचना देने को अंकास्य कहते हैं।[५]

५. अंकावतार —एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहे तो उसे अंकावतार कहते हैं। पर इस कथा में प्रवेशक और विष्कंभक का स्थान नहीं रहता अर्थात् यह कथा प्रवेशक विष्कंभक रहित होती है। अंकावतार का भाव ही यही है कि इसमें अंक के अंत में आने वाली कथा का दूसरे अंक में उतार होता है।[६]

भरत, धनंजय आदि सब नाट्याचार्यों के अनुसार नाटक के किसी भी अंक

---

१. धनिक धनंजय- दशरूपकम् , पृ०प०, कारिका ५८

२. वही , कारिका ६०,६१, ६२

३. वही , कारिका ६०,६१, ६२

४. वही , कारिका ६०,६१, ६२

५. वही , कारिका ६०,६१, ६२

६. वही , कारिका ६०,६१, ६२

में विष्कम्भक का आवश्यकतानुसार प्रयोग कर सकते हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी यही कहा है किन्तु उन्होंने इसका प्रयोग अंक के आरम्भ में करने का आदेश दिया है बीच में या अन्त में नहीं।[1] किन्तु कोहलाचार्य का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि विष्कम्भक का प्रयोग प्रथम अंक के आरंभ में ही किया जा सकता है।[2]

विष्कम्भक के संबंध में मनकद महोदय का कथन है कि यह प्रथम अंक के या किसी भी अंक के प्रारम्भ में यह घटित होता है। इन्होंने कहा है कि शुद्ध विष्कंभक में सभी पात्र केवल संस्कृत का प्रयोग करते हैं और जब कुछ पात्र संस्कृत तथा कुछ पात्र प्राकृत बोलते हैं तो मिश्र विष्कंभक कहलाता है।[3]

प्रवेशक की सभी विशेषताएं सभी नाट्याचार्यों के मत में समान हैं किन्तु इसकी स्थिति के सम्बन्ध में मतभेद है। धनंजय के मत से इसकी योजना सदा दो अंकों के बीच, आचार्य विश्वनाथ के मत से पहले अंक में नहीं,[4] दूसरे अंक के आगे रखा जाना चाहिए तथा मनकद महोदय की राय है कि प्रथम अंक के प्रारम्भ में नहीं, अन्य अंक के आरम्भ में हो सकती है।

प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र में अश्लील अरुचिकर दृश्यों को रंगमंच पर दिखाने से मना किया गया है, इसका मूल कारण है कि ये रस विरोधी हैं।

---

१. रामचन्द्र गुणचन्द्र—नाट्यदर्पण का हिन्दी नाट्यदर्पण—व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर, प्रथम संस्करण, १९६१, पृ० ५४

२. वही।

३. "It can occur in the beginning of any act, even in the first. It is called शुद्ध विष्कंभक if all the characters therein are such as use sanskrit only; and it is called मिश्र विष्कंभक if some of the characters speak in sanskrit and some in Prakrit."

—डी०आर० मनकद: 'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा', १९३६, पृ० ९८-९९

४. आचार्य विश्वनाथ : 'साहित्य दर्पण', हिन्दी व्याख्याकार—शालिग्रामशास्त्री सन् १९५६, पृ० ९०, डी०आर० मनकद : 'टाइप्स आफ संस्कृत ड्रामा, १९३६/६०

वध, मृत्यु, भोजन, विवाह, अन्य लज्जाजनक कार्य, राज्य विप्लव, नगर का घेरा तथा दन्तक्षत, नखक्षत अधर पान आदि अश्लील दृश्यों, भोजन, शयन, अनुलेपन आदि अरोचक दृश्यों की सूचनामात्र देने देने का नियम रखा गया है। वध मृत्यु, शाप आदि त्रास-भय उत्पादक हैं अतः ये वर्जित हैं।[1] ये सभी सूच्य भाग के अन्तर्गत रखे गए हैं किन्तु पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र में ऐसा बन्धन स्वीकार नहीं किया गया है। चुम्बन, आलिंगन, युद्ध, मृत्यु आदि के दृश्य रंगमंच पर ही दिखाये गए हैं। पाश्चात्य नाटकों में रस के व्याघात का प्रश्न ही नहीं उठता है अतः दृश्य के अन्तर्गत ही ऐसे दृश्यों को भी पात्रों के संवादों के माध्यम से कहला दिया जाता है। शेक्सपियर द्वारा तो हत्या, भीड़ के दृश्य को रंगमंच पर आसानी से रखे गए हैं क्योंकि पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है।[2]

सूच्य वस्तु का हिन्दी नाटकों में प्रयोग—

प्राचीन आचार्यों ने वस्तु का विभाजन सरसता और नीरसता की दृष्टि से भी किया तथा इनका प्रयोग अपने नाटकों में किया जिन्हें क्रमशः दृश्य तथा सूच्य नाम दिया गया है। दृश्य कथा सूत्र रंगमंच पर अभिनीत होते हैं एवं सूच्य कथा सूत्र की पात्रों के संवादों द्वारा सूचना मात्र दे देने का विधान पाया जाता है। ये प्रायः अप्रधान पात्र होते हैं। इन कथासूत्रों के सूचना प्रकार अर्थोपक्षेपक कहलाते हैं क्योंकि ये सूच्य अर्थ को आक्षिप्त करते हैं। विष्कंभक, प्रवेशक चूलिका, अंकास्य, अंकावतार नामक पांच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है अतः हिन्दी नाटकों में इनके प्रयोग की ओर सत्वर गति से बढ़ चलना उचित है।

भारतेन्दु-युग में इन अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग नाटककारों द्वारा किया गया क्योंकि संस्कृत नाटकों का सहारा हिन्दी नाटकों के प्रणयन के समय

---

१. देखिए 'दशरूपकम्', तृतीय प्रकाशः, कारिका, ३४,३५, भरत नाट्य शास्त्र, १८ – १८

२. डा० नगेन्द्र : 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्रथम संस्करण, सं० २०१४, पृ० ८७

भारतेन्दु को विशेष रूप से लेना पड़ा था। भारतेन्दु की `चन्द्रावली नाटिका` में प्रथम अंक के पूर्व विष्कंभक नामक अर्थोपक्षेपक का विधान भावी कथांशों की सूचना के निमित्त हुआ है। शुकदेव और नारद के वार्तालाप में चन्द्रावली के वितक्षण पवित्र कृष्णप्रेम की सूचना दी गई है। नाटककार ने इसे प्रेमयुक्त नामक विष्कंभक कहा है। रायदेवीप्रसाद पूर्ण के `चन्द्रकलाभानुकुमार` (१६०४ ई०) के प्रथम अंक में अंकावतार की योजना है। प्राचीन परम्परा के अनुसार दो अंकों के मध्य अर्थात् पूर्व अंक के अन्त्य में उसी के पात्रों द्वारा सूचित किया गया जो अगला अंक अवतीर्ण होता है वही अंकावतार है किन्तु इस नाटक में प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही इसे रख दिया गया है। नाटक के प्रसंगों की सूक्ष्म अनुसूचना इसमें विविध उत्प्रेक्षाओं द्वारा मिलती है यथा तपोवन के तपस्वियों का योगाभ्यास, भगवद्भजन, नायक-नायिका का वियोग दुःख, धर्मप्रेरित वीरों का दिक्पाल पर आक्रमण करके उसे परास्त करना, दिक्पाल का चंद्रकला पर मोहित होने की सूचना पाई जाती है। विष्कंभक प्रथम अंक के प्रारम्भ में होता है, अंकावतार नहीं। अतः इसे विष्कम्भक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

किशोरीलाल गोस्वामी के नाट्य-संभव में प्रथम अंक के प्रथम दृश्य के पूर्व विष्कम्भक में इन्द्र की पत्नी शची के असुरों द्वारा अपहरण से शोक की सूचना दी गई है। विद्यावसु ने वन में विहार करने या गाने को मना कर रखा है जब तक शची नहीं प्राप्त होती है। यह भावी कथांश का सूचक है। दो अप्सराएं तथा एक माली इस कार्य को पूरा करते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के तिलोत्तमा नाटक में दो बार विष्कंभक प्रयुक्त हुआ है। इनकी स्थिति दूसरे अंक के विष्कंभक तथा पाँचवें अंक के विष्कंभक के रूप में है। कामताप्रसाद गुरु के`सुदर्शन` में प्रथम अंक के पूर्व अयोध्या के राजमार्ग पर कुछ नगरवासी राजा के मरण का अशुभ समाचार तथा राजा की दो रानियों के पुत्रों में बड़ी रानी का पुत्र उम्र में छोटा और छोटी रानी का बड़ा है, कौन राजगद्दी प्राप्त है, के विषय में चर्चा करते पाये जाते हैं। शास्त्रीय विधि के अनुसार मध्यम वर्ग के प्रजागण के वार्तालाप की योजना भी विष्कम्भक के पूर्णतया अनुकूल है।

प्रवेशक नामक अर्थोपक्षेपक का प्रयोग हिन्दी नाटकों में प्रायः बहुत कम

पाया जाता है। अश्क ने अपने सर्वप्रथम ऐतिहासिक नाटक में तृतीय अंक के प्रथम दृश्य में दो ब्राह्मण विवाहोत्सव में पाई हुई गठरियां सम्भालते ,बातें करते हुए महाराणा के वृद्धावस्था में नयी वधु लाने की सूचना देते हैं। महाराणा का विवाह नहीं दिखाया गया है बल्कि इन दो पात्रों के वार्तालाप में विवाह की सूचना मिलती है तथा उनकी कल्पना है कि विधि से मैवाड़ की सम्पन्नता और खुशी नहीं देखी गई और विवाह के रूप में उसने यह विपत्ति भेज दी।[१] संस्कृत नाट्यशास्त्र में भूतकाल में हुई या भविष्य में होने वाली घटनाओं की सूचना विष्कंभक या प्रवेशक के द्वारा दी जाने की योजना है। प्रवेशक की स्थिति दो अंकों के मध्य होती है अत: इसकी समता प्रवेशक की स्थिति से कर सकते हैं किन्तु भाषा आदि की रूढ़ियों का पालन इसमें नहीं पाया जाता है अत: इसे संस्कृत का अनुकरण नहीं कह सकते हैं। निश्चय ही विवाहादि के दृश्यों को रंगमंच पर उपस्थित करने की कठिनाई तथा विस्तारभार को सम्भाल लेने के लिए महाराणा के उल्लासहीन विवाह की सूचना दर्शकों को देकर नाटककार आगे बढ़ चला है।

चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक में अर्थ की सूचना यवनिका के दूसरी ओर अन्दर बैठे पात्रों के द्वारा दी जाती है। `सत्य हरिश्चन्द्र` नाटक में तो नैपथ्य से वैतालिक गान और बाजे सहित भोर होने तक की सूचना दी गई है।[२] भारतेन्दु के सभी नाटकों में नैपथ्य का मनमाना प्रयोग हुआ है और तत्कालीन अन्य नाटककार भी इसके प्रयोग में पीछे नहीं रहे। राधाकृष्णदास के `महाराणा प्रताप` में `नैपथ्य` सूचना से ही नाटक का आरम्भ होता है तथा इसका क्रम अंत तक चलता गया है। युद्ध का वर्जित दृश्य रंगमंच पर न लाकर इसकी सूचना सर्वत्र देने का प्रयत्न पाया जाता है। मैथिलीशरण गुप्त ने भी दैत्यों द्वारा लूटपाट आदि की सूचना नैपथ्य द्वारा दी है।[३] हिन्दी नाटकों की शैशवावस्था में

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क :`जय पराजय`, दसवां संस्करण, १९६२, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद,पृ० ८२-८३

२. ब्रजरत्नदास :`भारतेन्दु नाटकावली, प्र०भा०,द्वि०सं०,सं०२००८,रा०प्र०,प्रयाग, पृ० ५१-५२ (सत्य हरिश्चन्द्र नाटक से)

३. मैथिलीशरण गुप्त :` तिलोत्तमा`,तृतीयावृत्ति, सं० १९८१, पृ० ४४

चूलिका नामक अर्थोपक्षेपक का प्रयोग सर्वाधिक प्रचलित रहा किन्तु इसके अपवाद-स्वरूप बद्रीनाथ भट्ट के 'चुंगी की उम्मेदवारी' में कहीं भी 'नेपथ्य' को स्थान नहीं मिला है। धीरे धीरे नाटककारों ने सूच्यवस्तु के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाना प्रारम्भ किया। प्रसाद-युग में अर्थोपक्षेपक के अन्य प्रकारों का प्रयोग पूर्णतया बन्द हो गया, रह गया केवल 'नेपथ्य'। प्राचीन नियमों की अमान्यता के साथ प्रसाद-युग के नाटककारों ने मृत्यु, वध, भोजन, विवाह आदि वर्जित दृश्यों को नाटकों में स्थान दिया। स्वयं प्रसाद ने पश्चिम से प्रभावित होकर वर्जित दृश्यों को स्वच्छन्द रीति से रंगमंच पर दिखाने का संकेत किया किन्तु कोलाहल, क्रन्दन आदि के लिए प्रसाद ने भी स्थान स्थान पर नेपथ्य से सूचना दिलाई है।[१] 'राज्यश्री' 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटकों में नेपथ्य का अत्यधिक समावेश कभी रण-कोलाहल,[२] कभी नेपथ्य गान,[३] आदि के रूप में पाया जाता है। अनेक बार विकट घोष नेपथ्य से देवगुप्त को सुरमा को पाशमुक्त करने के लिए सावधान करता है।[४]

तृतीय युग में आकर 'नेपथ्य' द्वारा सूचना देने की प्रथा मन्द पड़ गई। गोविन्दवल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में इसका प्रयोग यत्र-तत्र पाया भी जाता है किन्तु स्वाभाविकता की रक्षा का सतत् प्रयत्न किया गया है। अधिकांशत: पात्रों के संलाप द्वारा सूच्य वस्तु की अवतारणा का प्रयत्न ही इन नाटककारों ने किया है। उपेन्द्रनाथ अश्क के प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'जय-पराजय' में नेपथ्य द्वारा सूचना देने का कार्य बहुत अधिक पाया जाता है। पर्दे के पीछे से रणमल और भाय के परस्पर कथोपकथन कई वाक्यों में चलते हैं। मोकल अन्य बालकों के साथ पहिया दौड़ाता हुआ रंगमंच पर आता है किन्तु नेपथ्य के पास जाकर पहिया गिर पड़ता है। नेपथ्य से किसी के गिरने और

---

१. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त', भा०सं०, सं० २०१३ वि०, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ० ४०, १३१

२. जयशंकर प्रसाद : 'राज्यश्री', द०सं०, सं० २०१८ वि०, भा०भं०,इलाहाबाद, पृष्ठ ४८,११,१२-१३

३. वही, पृ० ४८,११,१३,१४

४. वही।

चीत्कार की ध्वनि सुनाई पड़ती है —

धाय—(नेपथ्य से घबड़ायी हुई आवाज़ में) कोई आइयो, कोई दौड़ियो । मोकल
अचेत हो गए, महाराणा अचेत हो गए ।

रणमल—(नेपथ्य में) क्या हुआ , कहाँ है मोकल ?

धाय — (नेपथ्य में) उसको चोट आ गई, दासियाँ उसे महलों में ले गई । राज-
वैद्य को बुलाओ ।

रणमल—(नेपथ्य में) कैसे चोट आ गई ?

धाय— (नेपथ्य में) उन्हें लिए जाती थीं कि ठोकर खाकर गिर पड़ी । उनको चोट
आ गई और वे अचेत हो गए। आदि ।[१]

किन्तु अश्क ने अन्य नाटकों में नेपथ्य का पूर्णतया बहिष्कार कर दिया । लक्ष्मीनारायण मिश्र का लक्ष्य तो सदैव अपने नाटकों में ऐसे सूच्य वस्तुओं को न रखने की ओर रहा । पाश्चात्य के प्रभावस्वरूप रंगमंच पर युद्ध, वध, भोजन आदि के दृश्यों को उपस्थित किया जाने लगा । अतः सूच्य वस्तु का उल्लंघन अब सभी परवर्ती नाटककार करते गए । जिन नाटक कारों ने इसका प्रयोग किया भी उन्होंने कोलाहल आदि की ध्वनि मात्र को पर्दे के पीछे से सुनाने के लिए किया ।

अंकास्य का प्रयोग हिन्दी नाटकों में प्रायः नहीं हुआ । अंकावतार की व्यवस्था भारतेन्दु-युग के कुछ नाटकों में की गई । भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' के तृतीय अंक में अंकावतार की योजना वस्तु का विच्छेद किये बिना की गई है । राजा हरिश्चन्द्र पत्नी और पुत्र का विक्रय करके विश्वामित्र की दक्षिणा चुकाने वाराणसी में प्रवेश करेंगे इसकी सूचना पाप नामक पात्र के कथन में दी जाती है । पाप हरिश्चन्द्र के वाराणसी आने का कारण बता ही रहा है कि भैरव आते हैं और पाप भाग जाता है । भैरव बताते हैं कि शिव ने अलक्ष्य रूप से राजा की अंग-रक्षा के लिए उन्हें नियुक्त किया है । 'चन्द्रावली नाटिका' में द्वितीय अंक के अन्तर्गत अंकावतार में चन्द्रावली के छिपाकर कृष्ण को संध्यावली द्वारा पत्र भेजने

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क : 'जय-पराजय' , दसवाँ संस्करण, १९६२, नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, पाँचवाँ अंक, दूसरा दृश्य, पृ० १५४-५७

की सूचना दी गई है। गाय द्वारा पीछा किये जाने से अनजाने ही संध्या की चोली से पत्र गिरता है और चंपकलता उठाकर पढ़ती है जिससे कृष्ण प्रेम के विरह का भेद प्रकाशित होता है। चंपकलता पत्र को कृष्ण तक पहुंचाने एवं उनसे मिलने की विनती करने की बात भी सूचित करती है। छिपाकर पत्र भेजने की बात सखी कह ही रही है तभी नेपथ्य से बूढ़े की आवाज सुनाई पड़ता है, "हां तू सब करेगी" और आगे के अंक में चन्द्रावली नजरबन्द होकर पहरे में आ जाती है अत: नाटककार ने इसका नाम भेदप्रकाशन अंकावतार रखा है।

किशोरीलाल गोस्वामी के "नाट्य संभव" (१९०४) में दृश्यों का प्रयोग अंकों के अर्थ में हुआ है। सातवां दृश्य आरम्भ होने पर भरताचार्य सबसे सुधर्मा सभा में चलकर अभिनय देखने को कहते हैं। यह दृश्य समाप्त होता है। वही वही पात्र सुधर्म्मा सभा के सामने रंगशाला में प्रवेश करते हैं और अंकावतार का प्रारम्भ होता है। अंकावतार समाप्त होने पर रंगशाला का पर्दा गिरता है और पुन: सातवां दृश्य उन्हीं देवताओं से उसी स्थान पर आरम्भ होता है। फुटनोट में लिखा है कि "इस अंकावतार के पहिले छ: अंक छिपे हैं उन्हें इस (अंकावतार) की पूर्वपीठिका और अंत के सातवें अंक को उत्तर पीठिका समझनी चाहिए। तथा सुधर्मासभा भलीभांति सजी हो, इन्द्रादिक देवता जो कि "कल्प-वृक्षवाटिका" में थे अपने अपने स्थानों पर सुशोभित हों और सामने वाली रंगशाला में भरताचार्य इस अंकावतार का अभिनय दिखावें[१]।"

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी : "नाट्य संभव", सन् १९०४, देवकीनन्दन खत्री द्वारा प्रकाशित, पृ० ७४

अध्याय — ६

नाट्य वस्तु की धाराएं

हिन्दी नाटककारों में प्रमुख कथा के अतिरिक्त प्रासंगिक कथाओं तथा कभी कभी कई स्वतंत्र कथाधाराओं के समाविष्ट कर लेने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। अत: कथावस्तु के अन्तर्गत समाविष्ट कथाधाराओं की दृष्टि से हिन्दी नाटकों की कथावस्तु का विवेचन अनिवार्य हो जाता है। कथावस्तु के भीतर चलनेवाली कथाधाराओं की दृष्टि से कुछ नाटकों में एक ही नायक कुछ घटनाओं का केन्द्र बनकर फलप्राप्ति करता है जिसे एक धारा नाटक कहा जाता है। एक ही फलप्राप्ति के लिए दो या दो से अधिक व्यक्ति संलग्न हों किन्तु फल का भोक्ता नायक हो, ऐसे नाटकों की कथावस्तु एक धारा कथावस्तु के अन्तर्गत आती है। कई बार एक ही कथावस्तु के अन्तर्गत कई नायक विभिन्न रूप में अलग-अलग फलप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और उनमें परस्पर द्वन्द्व नहीं होता। ऐसी कथावस्तु अनेक-धारा-कथावस्तु कहीं जाती है। ऐसा भी पाया जाता है कि दो या दो से अधिक कथा धाराएं अलग-अलग चलती हैं और अन्त में आकर सभी एक में मिल जाती हैं। कुछ व्यक्ति ईर्ष्यावश नायक की कार्यसिद्धि में बाधक सिद्ध होते हैं और कुछ प्रेमवश साधक होते हैं किन्तु बाधक अपनी बाधा की असफलता देखकर अन्त में साधक हो जाते हैं। इन्हें भी अनेक धारा-वस्तु के अन्तर्गत रखना चाहिए। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने अभिनव नाट्यशास्त्र में इनका उल्लेख किया है।

एकधारा-कथावस्तु—

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्राय: सभी नाटकों की कथावस्तु एक धारा-कथावस्तु के अन्तर्गत आती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में पाखण्डी समाज के एक कथाधारा की सृष्टि हुई है। राजा, मंत्री, पुरोहित मंडाचार्य आदि

के विरोधी पात्र शैव, वैष्णव तथा वेदान्ती हैं फिर भी घटनाओं का ऐसा विकास नहीं हुआ है जिससे व्यवस्थित कथावस्तु का विकास हो सके। 'विषयस्य विषमौषधम्' में एक पात्र स्वगत कथन एवं आकाशभाषित संवादों में स्वयमेव प्रश्न और उत्तर करता हुआ मल्हारराव के चारित्रिक दुर्गुण पर प्रकाश डालता है तथा कुछ घटनाओं का उल्लेख करके बड़ौदा नरेश के पतन की कथा कहता है। इसे केवल एक घटना का उल्लेख लम्बी भूमिका के अन्तर्गत कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। 'अँधेर नगरी' प्रहसन का कथानक साधारण तथा अस्वाभाविक घटनाओं से भरा हुआ है। हास्य व्यंग्य की सृष्टि राजा, महन्त तथा उनके दो शिष्यों आदि के माध्यम से की गई है। इसे भी एक धारा कथावस्तु की श्रेणी में रखना उपयुक्त है। 'प्रेम-योगिनी' में काशी स्थित सामाजिक जीवन के चार व्यंग-चित्र उपस्थित किए गए हैं। कोई निश्चित कथावस्तु नहीं है। 'चन्द्रावली' में नायक कृष्ण और नायिका चन्द्रावली की प्रेम-कथा है। 'सती प्रताप' में सत्यवान और सावित्री की कथा-धारा प्रमुख रूप से चलती है। सावित्री और सत्यवान के माता-पिता प्रसंगवश आते हैं और चले जाते हैं अतः चन्द्रावली तथा 'सती प्रताप' नाटक की कथावस्तु भी एकधारा कथावस्तु के अन्तर्गत आती है। 'नीलदेवी' में नायक सूर्यदेव को प्रतिनायक अब्दुश्शरीफ अधर्म युद्ध में हराकर मार डालता है। नायिका नीलदेवी पति की मृत्यु का प्रतिशोध कूटनीति से लेती है। अब्दुश्शरीफ का बध अपने हाथों करती है। इसमें किसी दूसरी कथाधारा का समावेश नहीं हुआ है। 'भारत दुर्दशा' नामक तथा प्रतीक नाटक में कथावस्तु महत्त्व नहीं रखती है। भारत नायक तथा भारत दुर्दैव प्रतिनायक है। दोनों के द्वन्द्वात्मक भावों से एक धारा कथा की सृष्टि हुई है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में नायक हरिश्चन्द्र और प्रतिनायक विश्वामित्र के द्वारा कथा का विकास हुआ है। इसमें ईर्ष्या करने वाले इन्द्र का प्रवेश भी प्रारम्भ तथा अन्त में हुआ है। फलप्राप्ति हरिश्चन्द्र को होती है। इन्द्र की कथाधारा कुछ दूर भी नहीं चलती है। हरिश्चन्द्र, शैव्या और प्रतिनायक विश्वामित्र की कथाधारा एक होकर चलती है अतः इसे अनेक धारा न कहकर एक धारा कहना उपयुक्त है। भारतेन्दु युग में मुख्यतः एक धारा नाटकों को लिखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी।

'प्रसाद' के विशाख तथा कामना ' नाटक में एक ही कथाधारा
पृथ्वीनाथ शर्मा के 'अपराधी' में
प्रायः मुख्य रूप से चलती गई है। अशोक को केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण कथा विकसित हुई

कानून की दृष्टि से अपराध और अपराधी के स्वरूप का निर्धारण इसकी विशेषता है। गोविन्दवल्लभ पन्त के नाटकों में कथा का प्रवाह प्राय: इकहरा होने के कारण सीधा और सरल है। `वरमाला` में नायिका के पिता ही नायक का थोड़ी देर तक विरोध करते है किन्तु अन्त में नायक को सफलता मिलती है। नायक और नायिका ही कुछ घटनाओं के केन्द्र बनकर कथाधारा को प्रवाहित करते हैं। `राजमुकुट` में शीतलसैनी अपने बेटे वनवीर को तथा पन्ना स्वर्गीय महाराणा के अल्पवयस्क पुत्र को राजमुकुट पहनाने की चिन्ता में है फलस्वरूप विरोध और संघर्ष बढ़ता गया है। उदय के राजमुकुट प्राप्ति से कथा समाप्त होती है। इसे एकधारा नाटक कहेंगे। `अंगूर की बेटी` में कामिनी और मोहनदास की मूल कथा के साथ माधव और प्रतिभा, विनायक और विन्दु की कथाएं चलती हैं किन्तु कथानक जटिल नहीं होने पाया है। तीनों कथाएं संबंधित तथा एक दूसरे की पूरक हैं। पन्त जी ने `सुहागबिन्दी` में कुमार और विजया की प्रमुख कथा के साथ कुछ अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए विजया के पिता के घर की कल्पना की गई है किन्तु यह बहुत शीघ्र ही विलीन हो जाती है। अत: एक ही कथा धारा विजया के संघर्षमय जीवन का चित्रण है। पन्त जी का `अन्त:पुर का छिद्र` प्रमुखत: एक ही कथा-धारा को लेकर अग्रसर होता है क्योंकि नायक उदयन और नायिका पद्मावती के अतिरिक्त मार्गंधिनी केवल विघ्न उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही नाटक में प्रवेश पाती है। पद्मावती बुद्ध की ओर आकर्षित है, जिसका आभास बुद्ध को संभवत: नहीं है अत: एक ओर से ही उसका मनोवैज्ञानिक चित्रण चलता है। बुद्ध पर इसका कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। अत: इसकी कथावस्तु एकधारा कथावस्तु के अन्तर्गत आती है।

प्रेमी के `आहुति` नाटक में हम्मीर सिंह और अलाउद्दीन के युद्ध को लेकर एक धारा नाटक की सृष्टि की गई है। हम्मीर इसका नायक है। `स्वप्न-भंग` में दारा और औरंगजेब के विरोधी सिद्धान्तों की प्रधानता के अन्तर्गत कथा चलती है जिसमें मुख्य रूप से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य स्थापना का दारा का स्वप्न अंतिम क्षण तक संघर्ष करते रहने पर भी भंग दिखाया गया है। अन्य सभी धाराएं इसी को विकसित करने में सहायता देती है। उनका अपना विशेष उद्देश्य नहीं है। सामाजिक नाटक `छाया` में प्रकाश और छाया की आधि-

कारिक कथा के साथ प्रकाश और ज्योत्स्ना तथा माया की प्रासंगिक कथा विकसित होती है किन्तु अन्त में सभी मिलकर एक उद्देश्य की पूर्ति करते दिखाई पड़ते हैं। अन्त में इसकी गणना एक-धारा नाटक में ही उपयुक्त ज्ञात होती है। दूसरा नाटक 'बंधन' इसी पद्धति का अनुसरण करता है ।

मिश्र जी के 'नाटक सिन्दूर की होली' में मुरारीलाल को केन्द्र मानकर मूल कथा का विकास दिखाया गया है। इस प्रमुख वृत्त के अतिरिक्त उपकथाओं का उपयोग भी इस नाटक में कथा प्रसंग के अनुकूल हुआ है जैसे रजनीकान्त और भगवन्त सिंह का वृत्त, रजनीकान्त और हरनन्दन सिंह का वृत्त, मुरारीलाल द्वारा मनोजशंकर के पिता की हत्या का वृत्त और मनोरमा का वृत्त। ये सभी वृत्त कथा को गति देने में सहायक सिद्ध हुए हैं तथा विशेष उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ है। इसे एक-धारा नाटक कहना ही समीचीन दिखाई पड़ता है । लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'राजयोग' में पाँच पात्रों के मन में परिस्थिति की उलझन के कारण तीव्र संघर्ष चल रहा है परन्तु सभी घटनाएं परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि एक की ग्रंथि खुल जाने पर सभी समस्याएं सुलझ जाती हैं। सिद्धान्ततः इसे एक-धारा-नाटक के अन्तर्गत रखेंगे। उमाशंकर और आशादेवी को लेकर लिखा गया 'मुक्ति का रहस्य' का वृत्त भी ऐसा ही है। वस्तुतः मिश्र जी ने कथाधाराओं को महत्त्व न देकर समस्याओं के समाधान की ओर विशेष ध्यान रखा है अतः इनके नाटकों में कथाधारा का अन्वेषण बहुत सार्थक नहीं कहा जा सकता ।

भट्ट जी के 'अंबा' में प्रासंगिक वस्तु का आग्रह कम है। अम्बा और शाल्व की कथा के साथ भीष्म द्वारा विचित्रवीर्य के लिए अपहृत अम्बा-अम्बिका, अम्बालिका की कथा, शाल्व द्वारा अम्बा के अपमान का वृत्त, अम्बा का पुनर्जन्म प्राप्त करके शिखण्डी के रूप में भीष्म की मृत्यु का वृत्त आदि कथा को गति देते हैं। मूल कथा अंबा और भीष्म की है। सत्यवती और काशिराज की तीन पुत्रियों का जीवन नष्ट करके भीष्म अन्त समय पूर्ण व्यथा अन्तर्द्वन्द्व तथा मानसिक कष्ट में पीड़ित रहते हैं। इन्हें एक धारा नाटक कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि अम्बा के चरित्र चित्रण द्वारा नारी जाति का अपमान तथा अनादर समाज के सम्मुख रखा गया है जिसका फल भीष्म जैसे वीर योद्धा को भी भुगतना

पड़ा, यही लक्ष्य इस नाटक में पूर्ण होता दिखाया गया है। 'सगर-विजय' में देश की राजनीतिक चेतना का प्रदर्शन हुआ है। इसमें सगर के पिता बाहु को दुर्दम द्वारा राज्यच्युत करने तथा मृत्यु की कथा, गर्भवती विशालाक्षी का और्व ऋषि के आश्रम में सगर जन्म की कथा वर्णित है। सगर की कथा प्रधान है। बाहु भी धीरोदात्त नायक के गुणों से युक्त है। जो कार्य बाहु से छूट गया, उसे सगर ने पूरा किया फिर भी प्रासंगिक कथाएं प्रधान कथा को सहयोग देने के उद्देश्य से जोड़ी गई हैं अत: इसे भी एकधारा नाटक की श्रेणी में रखना उपयुक्त होगा।

'कर्ण' पौराणिक नाटक है फिर भी सामाजिक समस्या का उद्घाटन ही इसका मूल उद्देश्य है यथा कुमारी जीवन में सन्तानोत्पत्ति की समस्या एवं निम्न कुलोत्पन्न के जीवन में उन्नति की समस्या। इसमें कर्ण के जीवन को प्रकाशित करने के लिए अनेक प्रासंगिक इतिवृत्तों का समावेश हुआ है जैसे राधा-अधिरथ का वृत्त, कृष्ण और कुन्ती का कर्ण के पास जाने का वृत्त, इन्द्र द्वारा कवच-कुण्डल मांगने का वृत्त आदि। इन सभी वृत्तों का प्रमुख इतिवृत्त से घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'सेवा पथ' में दीनानाथ और उसके विरोधी शक्तिपाल तथा श्रीनिवास की कथा वर्णित है। अन्त में गांधी जी के मार्ग का अनुसरण करते हुए दीनानाथ के सामने दोनों विरोधी सिर झुका देते हैं। इसकी कथावस्तु एक धारा कथावस्तु के अन्तर्गत आती है। 'गरीबी या अमीरी' में विद्याभूषण और अचला की प्रमुख कथा चलती है। गरीबों के प्रति क्रूरतम व्यवहार के द्वारा धनी होने के कारण विद्याभूषण अपने ससुर लक्ष्मीदास का सदैव विरोध करता है किन्तु अन्तिम दिनों में पैसे के अभाव में वह ससुर को बुद्धिमान एवं दूरदर्शी बताता है तथा लक्ष्मीदास के पैसे अचला के माध्यम से लेने में बुरा नहीं समझता है। ये दो भिन्न कथाधाराएं न होकर एक दूसरे की पूरक हैं अत: यह भी एक धारा नाटक की श्रेणी में गिना जायेगा। 'महत्व किसे?' भी एकधारा कथावस्तु के अन्तर्गत आता है।

'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' में प्रमुख कथा-धारा त्रिभुवनदास और सरस्वती तथा मथुरादास से सम्बन्धित है जिसमें त्रिभुवनदास सिद्धान्त-स्वातंत्र्य के आधार पर पिता से झगड़ता है, सरस्वती से वाद-विवाद करता रहता है। पिता त्रिभुवनदास के राजनीतिक सिद्धान्तों पर अपने सिद्धान्त का बलिदान कर देता है।

पच्चीस वर्ष में त्रिभुवनदास के सिद्धान्तों में परिवर्तन होता है और वह सर त्रिभुवनदास , प्रान्त का होम मेम्बर है । त्रिभुवनदास का पुत्र मनोहर दास गांधी जी का अनुयायी बन जाता है और घर से निकाल दिया जाता है । होम मेम्बर की आज्ञा से गोलीकाण्ड में उनका पुत्र घायल होकर आता है । चतुर्भुजदास पौत्र की इच्छानुसार गांधी के अनुयायी बनते हैं किन्तु त्रिभुवनदास सिद्धान्त-स्वातंत्र्य की धुन में ही चलते हैं । मनोहरदास की कथा भी त्रिभुवनदास की कथा को बल देने के लिए नियोजित की गई है ।

अश्क जी के 'कैद' में अवांछित विवाह की बड़ी मार्मिक और दर्द भरी झांकी अपराजिता और दिलीप के प्रेम कथा के माध्यम से प्रस्तुत की है । अप्पी का विवाह प्राणनाथ से उसकी गृहस्थी चलाने के लिए हो जाता है किन्तु अप्पी का मन घुटन और मर्यादा की शृंखला में कैद होकर दिलीप के चारों ओर चक्कर लगाता है । यह भी एक धारा कथावस्तु के अन्तर्गत आता है । 'उड़ान' में माया प्रमुख पात्र है जो बर्मा के युद्ध में अपना घर, मां-बाप सभी को खो चुकी है किन्तु स्वाभिमान तथा स्वच्छन्द विचारधारा को संजोये हुए है । 'कैद' की अप्पी जितनी ही कैद है, उड़ान की माया उतनी ही स्वच्छन्द है । कथाधारा इसमें भी एक ही है किन्तु इसका महत्व नगण्य है क्योंकि विश्लेषण वृत्ति के द्वारा व्यक्ति के दुर्बल पक्षों को प्रकाशित करना इसका उद्देश्य है । कथा धारा को प्रवाहित करना नहीं ।

द्वि-धारा-कथावस्तु --

हिन्दी नाटकों में सोलहवीं शताब्दी के अंग्रेजी नाटकों में प्राप्त दोहरी वस्तु रखने का विधान भी पाया जाता है । देवदत्त शर्मा के 'बाल्य-विवाह' (१८८० ई० चौथी बार) नाटक में ज्ञानसेन और अज्ञानसेन के क्रमश: सुखी और दु:खी पारिवारिक जीवन की कथा चलती है । ज्ञानसेन अपने लड़के की शादी बाइस वर्ष की प्रौढ़ावस्था में पन्द्रह वर्षीया पढ़ी लिखी लड़की सुलदा से करते हैं अत: सुखमय जीवन की कल्पना की गई है और अज्ञानसेन की बहू बड़ी और लड़का तीन वर्ष छोटा है अत: बहू जीवन का रोना रो रही है । बाल-विवाह

की हानियों पर प्रकाश डालकर समाजसुधार इस नाटक का उद्देश्य है। इसीलिए तुलनात्मक कथावस्तु की योजना इसकी विशेषता दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु युग में नाटकों में दोहरीवस्तु योजना का प्रयोग कम हुआ है क्योंकि इनके समकालीन नाटककारों ने प्राय: इन्हीं का अनुकरण करके चले फिर भी अभाव नहीं कहा जा सकता है। बाबू राधाकृष्णदास के `महाराणा प्रताप` नाटक में दो कथानक समान रूप से चलते हैं। एक ऐतिहासिक है, दूसरा कल्पित। प्रताप और अकबर के ऐतिहासिक वृत्त के साथ मालती और गुलाबसिंह के प्रणय तथा देशप्रेम का कथानक दोहरे वस्तुविधान का अच्छा उदाहरण है।

बालकृष्ण भट्ट के `जैसा काम वैसा परिणाम` में वेश्यागामी रसिकलाल और पतिव्रता मालती की कथा तथा वेश्या मोहिनी और राधावल्लभदास की कथा साथ साथ चलती है परन्तु दोनों एक दूसरे का सहारा लेकर विकसित होते हैं। अंग्रेजी नाटकों के प्रभावस्वरूप प्रहसनों में सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य प्रहार भी किया गया। दो नागरिक नागरी प्रवर्द्धिनी संस्था के लिए रसिक से पैसे मांगते हैं जिसके लिए वह साफ़ इन्कार कर देता है और वेश्या को सारे पैसे समर्पित कर देता है। राधावल्लभदास और वेश्या इसके पैसों से मालामाल हो जाते हैं और स्वयं निर्धन हो जाता है। एक कथा दूसरे की पूरक होते हुए भी स्वतंत्र है अत: दोहरी वस्तुयोजना के अन्तर्गत ही इसकी गणना उचित जान पड़ती है हिन्दी में अंग्रेजी नाटकों के समान द्वि-धारा कथावस्तु का विधान अनेक नाटकों में प्राप्त होता है।

चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के पारस्परिक आकर्षण तथा अन्त में विवाह की प्रमुख कथा के अतिरिक्त कोमा और शकराज के प्रेम की कथाधार भी प्रवाहित होती है। प्रमुख कथा आरम्भ से अन्त तक चलती है किन्तु दूसरी कथा धारा भी बहुत दूर तक चलकर तृतीय अंक के मध्य में कोमा और मिहिर देव का शकराज का शव ले जाते समय रामगुप्त के आदमियों द्वारा वध कर दिये जाने पर समाप्त हो जाती है। इसका मुख्य कथावस्तु से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है केवल नारी जीवन की विवशता को प्रबल रूप में चित्रित करने के लिए ही इस कथाधारा निर्मित कहा जा सकता है। फिर भी दो कथा-धाराएं ही कही जायेंगी। कोमा के आत्मबलिदान की कहानी निस्संदेह, निरवलम्ब स्त्री जीवन की कहानी

है जिसको पुरुष तिरस्कार, घृणा और दुर्दशा की भिक्षा से उपकृत करता है। स्त्री जाति की परम्परागत पराधीनता की समस्या का हल ध्रुवस्वामिनी अपने चरित्र तथा कार्य द्वारा करती है।

'मित्र' में अलाउद्दीन और जैसलमेर के राजा के संघर्ष की प्रमुख कथा के अन्तर्गत अलाउद्दीन के पुत्र महबूब और जैसलमेर के राजकुमार रत्नसिंह की प्रगाढ़, अटूट मैत्री की कथा अपने मित्रता प्रदर्शन के उद्देश्य को लेकर चली है। नाटककार का उद्देश्य मित्रता की कथा को ही प्रमुखता देना है किन्तु संघर्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मुख्यत: इसमें दो कथाधाराएं चलती हैं।

वृन्दावन लाल वर्मा के 'बांस की फांस' में दो ही अंक हैं किन्तु उतने में ही गोकुल और पुनीता तथा फूलचन्द और मंदाकिनी की दो कथाधाराएं अलग अलग चलती हैं। पुनीता और उसकी बुढ़िया मां की कथा आरम्भ और अन्त में महत्व रखती है किन्तु गोकुल और पुनीता का प्रेम सम्बन्ध प्रणाय में बंध जाता है और फूलचंद का उच्छृंखल प्रेम मंदाकिनी को पाने में असमर्थ होता है। 'फूलों की बोली' में वर्मा जी ने स्वर्ण रसायन की कथा के साथ माधव माधव और कामिनी के प्रणाय -सम्बन्ध की कथा का सफल रूप में समावेश किया है। उदयशंकर भट्ट के 'दाहर अथवा सिंध पतन' में सूर्य और परमाल से संबंधित घटनाएं, मानु के दस्युओं से संबंधित घटनाएं प्रासंगिक कथा के अन्तर्गत आती हैं किन्तु सभी आधिकारिक कथा को गति देने में सहायक हैं। इनका अलग उद्देश्य नहीं है।

सेठ जी के नाटकों की कथावस्तु में भी प्रासंगिक इतिवृत्त रखने की विधि का पालन हुआ है। ऐतिहासिक नाटकों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'कुलीनता' में यदुराय, विजयसिंह देव, सुरभि पाठक की आधिकारिक कथा के साथ विंध्यबाला और रेवासुन्दरी की कथा प्रासंगिक है किन्तु सभी प्रमुख कथा को गति देने में सहायक हैं। बाउबीड यदुराय का प्रतिद्वन्दी है।

अनेक-धारा-कथावस्तु-

प्रसाद के नाटकों में प्रायः अनेक धारा-वस्तु रचना की प्रवृत्ति दिखाई

पड़ती है। इनके अधिक नाटकों में कई कथाधाराएं अलग अलग चलकर अन्त में सब आकर मिल जाती हैं। `राज्यश्री` नाटक में शांतिदेव-सुरमा ,देवगुप्त - सुरमा की कथा धारा राज्यश्री की कथाधारा के साथ चलती है। शांतिदेव और सुरमा की कथाधारा राज्यश्री की कथाधारा के समानान्तर चली जाती है। सुरमा की कथा में व्याघात नहीं पड़ने पाया है। देवगुप्त से राजवर्द्धन तथा हर्षवर्द्धन का द्वन्द्व चलता है क्योंकि वह राज्यश्री की प्राप्ति के लिए ग्रहवर्मा से युद्ध करके उसे मार डालता है और राज्यश्री को कैद कर लेता है आदि। तीनों पात्र देवगुप्त से एक ही कार्य के लिए युद्ध कर रहे हैं। विकट घोष अर्थात् शांतिदेव भी राज्यश्री को प्राप्त करने के लिए ही कृतघ्न कार्य करता चलता है फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सुरमा नामक पात्री ने इस नाटक में दूसरी कथाधारा का संचार कर लिया है किन्तु अन्त में नदियों के संगम स्थल के समान देवगुप्त , विकटघोष नरेन्द्र,सुरमा आदि की कथाधाराएं आकर मिल जाती हैं। सत्-असत् सभी काषाय ग्रहण करके लोक-सेवा का मार्ग पकड़ कर चल देते हैं।

प्रसाद के`अजातशत्रु` नाटक में मगध कौशल, कौशाम्बी के अलग अलग पारिवारिक कलह के दृश्य उपस्थित किए गए हैं। अजातशत्रु अपने पिता से विरोध करता है तथा माता-पुत्र मिलकर कथा को विकसित करते हैं, प्रसेनजित और विरुद्धक में विरोध पैदा हुआ, उधर कौशाम्बी में मागंधी के षड्यन्त्र से उदयन पद्मावती के विरुद्ध हो जाते हैं तीनों कथा धाराएं प्राय: समान महत्व रखती हुई नाटक में अग्रसर होती हैं। अंत में तीनों परिवार के विरोधी लोग अपनी तुच्छ मनोवृत्ति की निस्सारता पर पश्चाताप करते हुए भूल का शमन करते हैं। अजातशत्रु संपूर्ण कथावस्तु का मूल उद्गम तथा केन्द्र है किन्तु तीनों कथाएं अलग अलग समानान्तर चलती जाती हैं। केन्द्र इसलिए है कि मगध की विरोधाग्नि का कारण वही है, उसी के प्रभावस्वरूप कौशल में भी विरोध की अग्नि जल उठती है तथा उसकी लपट कौशाम्बी तक पहुंच जाती है। अनेक कथा धाराओं के फलस्वरूप नाटक की नाटकीयता समाप्त हो गई है। तीनों का अपना अपना मंतव्य है जिसकी प्राप्ति के लिए सभी प्रयत्नशील हैं।

`स्कन्दगुप्त` नाटक में मगध और मालव की कथा आरम्भ से ही साथ चलती है। प्रमुख कथा का सम्बन्ध स्कन्दगुप्त के चरित्र से है। मालव की कथा

का सम्बन्ध भी स्कन्दगुप्त से पूर्ण रूप से है। द्वितीय अंक के अन्त तक मालवेश बन्धुवर्मा मालव को स्कंदगुप्त को सौंप देता है। स्कंद और देवसेना तथा विजया, अनन्तदेवी और पुरगुप्त, भटार्क और उसकी माँ कमला आदि की कथा स्कंदगुप्त की कथा को विकसित करने में सहायक हैं। अनन्त देवी, पुरगुप्त, भटार्क सभी स्कंदगुप्त से क्षमा माँगते हैं। वह सबको क्षमा करता है। सभी अपने अपने उद्देश्य की सिद्धि में प्रयत्नशील हैं किन्तु फल का उपभोक्ता स्कंदगुप्त ही ठहरता है। अनेक कथाधाराएं चलकर अन्त में सब एक में मिल जाती हैं। 'चन्द्रगुप्त' की कथावस्तु अनेक-धारा कथावस्तु कही जायेगी जिसकी एक कथा सिंहरण अलका की, दूसरी राक्षस और सुवासिनी की, तीसरी चन्द्रगुप्त और कल्याणी की चौथी कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त की कथा-धारा के रूप में चलती दिखाई पड़ती है। सिंहरण और अलका, राक्षस तथा सुवासिनी, कार्नेलिया तथा चन्द्रगुप्त विवाह-सूत्र में बंध जाते हैं। सिंहरण और अलका का प्रेम तक्षशिला के गुरुकुल से ही चला आ रहा था। इतने बड़े 'चन्द्रगुप्त' नाटक में छोटी छोटी अन्य कथाएं भी आई हैं किन्तु शीघ्र ही विलीन हो गई हैं।

प्रसाद के 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में जनमेजय (आर्य)-नाग (अनार्य) संघर्ष की प्रमुख कथा के अतिरिक्त जनमेजय-मणिमाला की प्रेम कहानी भी सम्मिलित है। वेदव्यास-दामिनी, उत्तंक, वासुकि और सरमा आदि की कथा धाराएं भी साथ साथ चलती हैं। जनमेजय की पत्नी वपुष्टमा की कथा भी चलती है। आर्य-अनार्य-संघर्ष का अन्त वेदव्यास के प्रयत्न से होता है। मणिमाला और जनमेजय प्रणयसूत्र में बंध जाते हैं जिसका विद्वेष को शान्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिखाई पड़ता है। उपर्युक्त सभी कथाधाराएं अन्त में आकर एक धारा हो जाती हैं किंतु इसे अनेक धारा संगम कथावस्तु कहना ठीक जान पड़ता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक जितने ही सरल कथावस्तु विधान पर अवलम्बित हैं, प्रसाद के नाटकों के कथानक बड़े ही जटिल हैं। प्रसाद के समय में लिखे गए चतुरसेन शास्त्री के 'अमर राठौर' में शाहजहाँ और अमरसिंह के विरोध की प्रमुख कथा के अतिरिक्त बल्लू जी, रामसिंह आदि की कथाएं साथ साथ चलती हैं फलतः कथा के क्रमिक विकास में अवरोध उत्पन्न होता है एवं कथावस्तु जटिल हो गई है, किन्तु सभी कथाधाराएं अन्त में एक रूप हो जाती हैं। इनका

अपना विभिन्न उद्देश्य नहीं है। प्रो० सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' भी ऐसा ही नाटक है जिसमें औरंगजेब, चम्पतराय और छत्रसाल की प्रमुख कथा के साथ कंचुकीराय और हीरादेवी तथा रौशनआरा आदि की कथाएं चलती हैं। रौशनआरा की कथा का मुख्य कथावस्तु से कोई संबंध नहीं है। कई कथाधाराओं के साथ चलने का प्रभाव प्रसाद का ही है। यह उन्हीं के आस पास की रचना भी है। ऐतिहासिक नाटकों के कथानक कई कथाधाराओं के साथ चलने के कारण प्राय: जटिल हो गए हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'अशोक' नामक ऐतिहासिक नाटक इनकी सर्वप्रथम १९२७ ई० की रचना है। इसमें अशोक के सम्राट होने की आधिकारिक कथा के साथ ही ग्रीक राजवंश की कुमारी डायना के एन्टीपेटर नामक अज्ञात निर्धन युवक के प्रति प्रेम की कथा भी समानान्तर होकर चलती है। माया और अरुणा (अशोक के भाई के पुत्र) की कथा भी अन्त तक चलती है। इन्हें प्रासंगिक कथाएं कहा जा सकता है। अशोक के सहायक रूप में एन्टीपेटर आता है और अरुणा तथा माया प्रसंगक्रम से सहायक सिद्ध होते हुए भी अपनी फल-प्राप्ति में भी प्रयत्नशील हैं। अन्त में अरुणा का विवाह कलिंगराज की कन्या माया से हो जाता है जो अब तक पुरुषवेश में अशोक यहां बन्दिनी थी । इसे अनेक धारा नाटक की श्रेणी में रखा जाएगा।

'प्रेमी' के 'रक्षाबंधन' में प्रमुख कथा गुजरात और चित्तौड़ के संघर्ष में देशप्रेम तथा देश के लिए उत्सर्ग के भाव को लेकर चलती है और दूसरी कथा हुमायूं और गुजरात के बादशाह के संघर्ष की है जिसमें राखी की कथा को आधार बनाकर भाई-बहन तथा हिन्दू-मुस्लिम प्रेम की अभिव्यक्ति है। 'विषपान' में महाराणा और मानसिंह तथा कृष्णा की प्रमुख कथा के अतिरिक्त जवानदास और राधा आदि की कथाएं सम्मिलित हैं किन्तु सभी प्रमुख कथा को विकसित करने में सहायक हैं। जवानदास एक कहारिन की पुत्री राधा से प्रेम करता है। वह स्वयं महाराणा भीम सिंह के पिता की सन्तान है किन्तु मां राजपूतनी नहीं थी अत: उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व उठता है कि ये विलासी राजा प्रलोभन और धमकी के द्वारा नीच कुल की स्त्रियों को वासना का शिकार बनाते हैं और इन बेबसों की सन्तानों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इसका प्रतिशोध लेना उसका

उद्देश्य है जिसमें वह कुछ अंश तक सफल होता है। महाराणा को धोखा देकर कृष्णा को विषपान कराना राधा और जवानदास का ही कार्य है। इसे अनेकधारा नाटक कहना उपयुक्त होगा।

'राक्षस का मन्दिर' में मिश्र जी ने जटिल कथानक बना दिया है। कई कथाएं प्रवेश पा गई हैं जैसे रामलाल अस्करी की कथा, मुनीश्वर-दुर्गावती तथा अस्करी का वृत्त, रघुनाथ और ललिता का वृत्त। 'सन्यासी' में विश्वकांत और मालती के सहशिक्षा के कुरुचिपूर्ण वातावरण में अंकुरित हुए रोमैन्टिक प्रेम के अतिरिक्त किरणमयी और मुरलीधर के प्रेम और सामाजिक परिस्थितियों के कारण किरणमयी के दीनानाथ से अनमेल विवाह का वृत्त भी पल्लवित हुआ है। इसमें अहमदआदि पात्रों द्वारा एशियाई संघ की स्थापना का वृत्त भी सबल है अतः इसे अनेक धारा-वस्तु के अन्तर्गत रख सकते हैं।

हरिकृष्ण प्रेमी के 'शिवासाधना' में अनेक उपकथाएं प्रमुख कथा के साथ चलती हैं। प्रतापराव की शकुला की कथा, औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा के शिवाजी के प्रति प्रेम की कथा (मूलकथा से पूर्णतया असम्बद्ध) ऐसी ही उपकथाएं हैं। एक ओर शिवाजी का बीजापुर नरेश से संघर्ष है, दूसरी ओर बीजापुर के सुलतान आदिलशाह के दुश्मन औरंगजेब का बीजापुर को विध्वंस करने का प्रयत्न आदि अनेक उपकथाएं चलती हैं।

सेठ जी के 'प्रकाश' नाटक की कथावस्तु अनेक धारा कथावस्तु के अन्तर्गत आती है। प्रकाश और तारा की कथावस्तु के साथ दामोदर दास और रुक्मिणी कल्याणी के भारतीय आदर्श की कथा, मनोरमा के एकान्तप्रेम, नैस्टफील्ड के वकालत के पतित हथकण्डे की कथा आदि भी चित्रित किये गए हैं। अन्त में जयसिंह और प्रकाश तथा तारा के सम्बन्ध की कथा धारा को भी प्रकाशित कर दिया गया है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के प्रथम ऐतिहासिक नाटक 'जय-पराजय' में मेवाड़ के राणा लक्ष सिंह तथा उनके पुत्र चंड और राघवदेव तथा दो पत्नियों की कथा धारा के अतिरिक्त मंडोवर के अधिपति राव रणमल एवं उनके निर्वासित पुत्र रणमल तथा दो रानियों और दूसरी रानी के पुत्र कान्हा की कथाधारा भी पूर्ण वेग के साथ चलती है। तीसरी कथा धारा राघवदेव और भार-

पत्नी के पवित्र प्रेम की आरम्भ से अन्त तक प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। इसे अनेक धारा नाटक की संज्ञा से अभिहित करना समीचीन होगा।

'विकास' नाटक में सृष्टि के विकास पर स्वप्न के माध्यम से वाद विवाद के द्वारा प्रकाश डाला गया है। सृष्टि विकास के पथ से उन्नति कर रही है या चक्रवत घूम रही है, इसका मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें किसी विशेष कथा का सृजन नहीं हुआ है। पृथ्वी उत्पादन और पतन के गतिचक्र की ओर आकाश सृष्टि की विकसित अवस्था की दलील देने में बुद्ध से लेकर गांधी तक को स्मरण कर लेते हैं। इसमें किसी एक कथाधारा की योजना की बात नगण्य है।

दूसरा नाटक 'स्वर्ग की फलक' एक सामाजिक व्यंग्य है जिसमें पात्रों के चरित्र के एक पक्ष की ही फांकी प्रस्तुत की गई है। रघु प्रमुख पात्र है। उसकी पहली पत्नी के स्वर्गवास के पश्चात् उसके भाई और भाभी उसकी साली रक्षा से विवाह पर बल देते हैं किन्तु रघु विरोध करता है क्योंकि वह सुशिक्षित और अप-टू-डेट नहीं है। रघु के मित्र अशोक और श्रीमती अशोक तथा एक अन्य मित्र राजेन्द्र और श्रीमती राजेन्द्र के पारिवारिक दाम्पत्य जीवन की व्यंग्यपूर्ण फांकी प्रस्तुत की गई है जिसे देखकर रघु उद्विग्न हो उठता है और घर आकर आधुनिक उमा से विवाह करना अस्वीकार करके रक्षा से विवाह की अनुमति देता है। इस प्रकार इसमें तीन परिवारों की एक पक्ष की फांकी दिखाई गई है जिनकी अपनी फलप्राप्ति नहीं है वरन् रघु की कथा को उत्तेजना देने में सहयोगी हैं। रघु के विवाह के एक पक्ष की फांकी का ही प्रदर्शन हुआ है। इसमें केवल छुट्टी के इतवार के दिन की सुबह से रात तक की कथा नियोजित है। अश्क के 'छठा बेटा' में स्वप्न के माध्यम से पं० बसंतलाल के अवचेतन मन में दबी हुई अतृप्त कामना साकार हो उठी है। बसंतलाल छ: बेटों के शराबी पिता हैं। पांचों पुत्रों में से कोई उन्हें अपने पास रखने को तैयार नहीं है और छठा बेटा प्राय: चार वर्षों से लापता है। कथावस्तु केवल इतनी है कि पं० बसंतलाल वह रुपया का नोट लेकर आटा खरीदने जाते हैं और शराब पीकर तथा लाटरी का टिकट खरीद कर वापस लौटते हैं। उनके पुत्र उनसे तंग आकर उन्हें अपने

समीप नहीं रखना चाहते हैं। फिर तो कथा स्वप्न का रूप ले लेती है क्योंकि शराब में मदहोश पंडित जी को चारपाई पर सुला दिया जाता है और सचमुच ही वह निद्रामग्न होकर तीन लाख रुपए लाटरी के टिकट द्वारा मिलने का स्वप्न देखते हैं। फलस्वरूप रुपये ऐंठने के लिए लड़के भरपूर खुशामद करते हैं और धीरे धीरे सभी रुपए ले लेते हैं और फिर पिता को अपने पास रखने से अस्वीकार कर देते हैं तभी छठा बेटा धुंधली इच्छा के प्रतीक स्वरूप सामने आकर सेवा का आश्वासन देता है किन्तु स्वप्न अब समाप्त हो जाता है। बसंतलाल जागकर सब कुछ मिथ्या पाता है। इसमें कथाधारा नगण्य है।

'उड़ान' में माया प्रमुख पात्र है जो बर्मा के युद्ध में अपना घर, मां-बाप सभी खो चुकी है किन्तु स्वाभिमान तथा स्वच्छन्द विचारधारा को संजोये हुए है। 'कैद' की अप्पी जितनी ही कैद है, उड़ान की माया उतनी ही स्वच्छन्द है। कथा धारा इसमें भी एक ही है किन्तु इसका महत्त्व नगण्य है क्योंकि विश्लेषणा वृत्ति के द्वारा व्यक्ति के दुर्बल अंशों को प्रकाशित करना इसका उद्देश्य है, कथाधारा को प्रवाहित करना नहीं।

अध्याय - १०

पात्र - योजना

अध्याय – १०

पात्र – योजना

नायक –

संस्कृत नाट्य शास्त्र में नाटकों का दूसरा भेदक नेता अथवा नायक है जिसके अन्तर्गत नायक का सम्पूर्ण परिकर समाविष्ट हो जाता है। नायिका, उपनायक, प्रतिनायक, नायक के सहयोगी, प्रतिनायक के सहयोगी, नायिका की सखियाँ आदि नेता के अंग माने गए हैं। इन पात्रों के विवेचन में सर्वप्रथम तथा महत्त्वपूर्ण स्थान नायक का होता है। अतएव इस भेदक का नामकरण इस विशिष्ट पात्र 'नायक' के आधार पर ही किया गया है। इसमें विवेचन सभी पात्रों का हुआ है किन्तु शास्त्रीय विधान के अनुसार फलप्राप्ति नेता को ही होती है। प्रधान फल को प्राप्त करने वाला नेता प्राणहानि, रूप विपत्ति एवं व्यसन से रहित होता है।[१]

नायक के सामान्य गुण –

धनंजय ने नेता के सामान्य गुणों का दो श्लोकों में बड़ा अच्छा विवरण दिया है – नेता विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, लोगों को प्रसन्न रखने वाला, बातचीत में कुशल, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान स्मृति सम्पन्न, उत्साही, कलावान शास्त्र चक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़ प्रतिज्ञ

---

१. रामचन्द्र गुणचन्द्र: नाट्यदर्पण, पृष्ठ २४६

तेजस्वी और धार्मिक होता है।[1] संक्षेप में, भारतीय नाट्यशास्त्र नेता को सर्व-गुण सम्पन्न देखने की कामना रखता है किन्तु प्रत्येक गुण में सीमा का अभाव उपेक्षित है। नायक नम्र होगा किन्तु दुर्बल नहीं। विनीतता उसके शील एवं उच्च संस्कृति का बोध कराने वाला है। वस्तुत: इसीलिए नम्रता के साथ साथ तेज-स्विता एवं आत्मसम्मान और दृढ़ता आदि गुणों का विधान भी है।

नायक में सात्त्विक गुण—

नायक का विवेचन करते हुए आचार्यों ने उनके आठ सात्त्विक गुणों की भी चर्चा की है। नायक में पुरुषत्व युक्त इन आठ सात्त्विक गुणों का होना अनिवार्य है — शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित तथा औदार्य। नायक में शौर्य, दक्षता, नीच के प्रति घृणा, दूसरे के अधिक गुणों को देखकर उसके प्रति स्पर्धा शोभा नामक सात्त्विक गुण के परिचायक हैं। विलास नामक सात्त्विक गुण में नायक की दृष्टि और गति में धीरतारहती है तथा उसका वचन स्मितियुक्त होता है। तीसरा सात्त्विक गुण माधुर्य है। जब महान क्षोभ होने पर भी नायक में मधुर विकार पाया जाय तो उसे माधुर्य कहते हैं। विकार के महान् हेतु के होने पर भी प्रभाव से कुछ भी विकार लक्षित न हो सके उसे गाम्भीर्य कहते हैं। माधुर्य और गाम्भीर्य का अन्तर स्पष्ट है कि एक में विकार, पर मधुरता युक्त, लक्षित होता है किन्तु दूसरे में विकार का सर्वथा अभाव रहता है। अनेक विघ्नों के रहते हुए भी अपने कर्तव्य में अडिग रहना स्थैर्य कहलाता है। प्राण संकट में होने पर भी नायक अपमान को न सह सके वह तेज कहलाता है जैसे - "इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं, जो तरजनी देखि मरि जाहीं।" शृंगारपरक स्वाभा-विक और मनोहर चेष्टा को ललित कहते हैं। औदार्य दो प्रकार का है। प्रियवचन

---

1. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष: प्रियंवद: ।
   रक्तलोक: शुचिर्वाग्मी रूढवंश: स्थिरो युवा ।।१।।
   बुद्ध्युत्साह स्मृति प्रज्ञा कलामान समन्वित: ।
   शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्र चक्षुश्च धार्मिक: ।।२।।
   — धनिक धनंजय—दशरूपकम् , द्वितीय प्रकाश: , श्लोक १-२
2. दशरूपकम् (धनिक-धनंजय) द्विभाग, कारिका ८
   एक विधो विटश्चान्यो , हास्यकृच्च विदूषक: ।
   लुब्धो धीरोद्धत: स्तब्ध: पापकृद्व्यसनी रिपु: ।।८।।

के साथ प्राण तक देने को प्रस्तुत हो जाना पहला भेद है । सज्जनों का सत्कार दूसरा भेद है ।[1]

विशिष्ट गुण—

नायक में सामान्य गुण के साथ साथ कुछ विशेष गुण भी हैं जिनके आधार पर नायक चार प्रकार के हो जाते हैं —धीरोदात्त , धीर ललित, धीर-शांत तथा धीरोद्धत ।
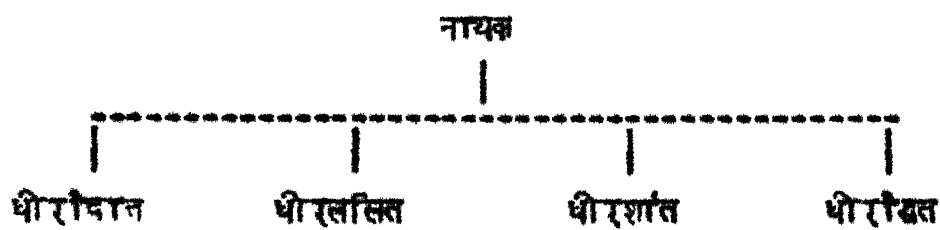
नायक के इन चारों भेदों में "धीर" शब्द का प्रयोग सामान्य रूप में दृष्टिगोचर होता है । इससे यह अर्थ निकलता है कि प्रत्येक प्रकार के नायक में धैर्य एक आवश्यक एवं अपरिहार्य गुण है । धीरोदात्त नायक का अन्त:करण क्रोध, शोक आदि विकारों से विचलित नहीं होता इसी से उसे महासत्त्व अर्थात् महापराक्रमशील कहते हैं । वह अत्यन्त गंभीर, क्षमावान, अविकत्थन (अपनी प्रशंसा न करनेवाला) स्थिर मनवाला, निगूढ़ अहंकार वाला (स्वाभिमान विनम्रता में दबा हुआ) दृढ़ व्रती होता है ।[2]

उदात्त, ललित, शांत और उद्धत शब्दों के योग से नायक के विभिन्न गुणों का सविस्तार उल्लेख करने की यहां आवश्यकता नहीं। वे सर्वविदित हैं ।[3]

---

१. आठों सात्त्विक गुणों के लिए धनिक धनंजय : दशरूपकम् , द्वितीय प्रकाश, कारिका ११,१२,१३,१४

२. धनिक धनंजय : "दशरूपकम्", द्वितीय: प्रकाश:, कारिका ४

३. वही, कारिका ३,५

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक का नायक इन चारों प्रकार में से एक प्रकार का आदि से अन्त तक होना चाहिए । नाटकीय शृंखला की एकता की दृष्टि से प्रधान नायक में उपरोक्त चार गुणों में किसी एक को लेकर कुछ दूर चलने के उपरान्त किसी अन्य गुण का ग्रहण अनुचित होगा । उदाहरण के लिए हम राम को ले लें । राम धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित होकर धीरोद्धतनायक के अनुरूप कार्य करते दिखाई पड़ते हैं जब वह आड़ में छिपकर बालि का बध करते हैं । ऐसा चरित्र दिखाकर लेखक अनुचित करता है क्योंकि इससे महापराक्रम का अभाव कहा जायेगा । उपनायकों एवं प्रतिनायकों में एक के बाद दूसरी अवस्था का होना अनुचित नहीं होगा क्योंकि प्रधान नायक की भाँति विजिगीषुता आदि की व्यवस्था इनके साथ नहीं है ।

शृंगारिक चेष्टाओं के विचार से नायक—

शृंगार की दृष्टि से नायक की चार अवस्थाएं वर्णित हैं — अनुकूल शृंगार ,दक्षिण, शठ एवं धृष्ट । दक्षिण, शठ एवं धृष्ट—इन तीनों भेदों का एक ही नायक में अवस्थान्तर से चित्रण अनुचित नहीं है क्योंकि ये अवस्थाएं एक दूसरे की अपेक्षा रखती हैं अर्थात् परस्पर सापेक्षिक हैं । एक ही नायक ज्येष्ठा के प्रति सहृदय रहता है तो दक्षिण नायक है । जब वह छिपकर कनिष्ठा से शृंगार चेष्टा करता है तब वह शठ हो जाता है । अन्तत: जब उसकी कुटिलता ज्येष्ठा द्वारा पकड़ी जाती है और आगे चलकर वह निर्लज्ज होकर पूर्वनायिका का जी दुखाता है तो यह नायक की धृष्टता हुई । इस प्रकार प्रधान नायक में भी दाक्षिण्य आदि गुणों का अवस्था भेद से समावेश विरुद्ध नहीं है । उदाहरण के लिए रत्नावली नायिका का नायक वत्सराज उदयन का प्रेम पहले वासवदत्ता में ही केन्द्रीभूत था किन्तु बाद में सागरिका के प्रेम में फँसकर जब उससे विवाह कर लेता है तब वह वासवदत्ता पर भी कनिष्ठा नायिका सागरिका (रत्नावली) के समान ही प्रेम करने

---

१. धनिक धनंजय: 'दशरूपकम्', द्वितीय प्रकाश:, कारिका ६-७

के कारण दक्षिण नायक हो जाता है। विवाह के पूर्व जब तक उसका प्रेम अपने आप वासवदत्ता पर प्रकट नहीं हुआ उदयन ने उसे छिपाया जिसके कारण उतने समय के लिए शठ नायक कहा जाएगा। किन्तु धनिक ने इसका विरोध करते हुए कहा है कि उदयन ने आरम्भ से अन्त तक वासवदत्ता की प्रसन्नता का ध्यान रखा है। अतः न वह धृष्ट कहा जा सकता है और न शठ।[1]

अस्तु, नायिका के प्रति व्यवहार की दृष्टि से नायक को चार प्रकार का माना गया है। उससे पहले धीरोदात्त आदि चार प्रकार के नायकों के भेद बताये गए हैं। प्रत्येक प्रकार का नायक अनुकूल, दक्षिण, शठ एवं धृष्ट हो सकता है। इस प्रकार नायक के १६ भेद हो जाते हैं। (४ ४ = १६)

योरप में इस प्रकार के भेद नहीं हैं। पाश्चात्य दृष्टि से कुशल नाटककार अपने सम्मुख कुछ आवश्यक आधारभूत सिद्धान्तों को सामने रख लेता है और उन्हीं के सहारे पात्रों का चरित्र-चित्रण सरलता से कर लेता है। अरस्तु ने इसके लिए छः आधारभूत सिद्धान्त का निर्देश किया है —

भद्रता — चरित्र चित्रण में पहली बात ध्यान देने की है कि वह भद्र हो। नैतिक उद्देश्य का द्योतक हो — कोई भी वक्तव्य या कार्यव्यापार चरित्र का व्यंजक होगा, यदि उद्देश्य भद्र है तो चरित्र भी भद्र होगा। यह गुण प्रत्येक वर्ग में सम्भव है। स्त्री भी भद्र हो सकती है, दास भी। किन्तु अरस्तु ने स्त्री को कुछ निम्नस्तर का प्राणी कहा है और दास को तो बिल्कुल ही निकृष्ट ही बताया है।[2] कथावस्तु के समान ट्रैजेडी का चरित्र चित्रण भी मानव की नैतिक भावना को तुष्ट करने वाला होना चाहिये। अरस्तु ने भद्र पात्र की योजना सम्भवतः इसलिए बनाई है कि भद्रपात्र पर विपत्ति पड़ने पर मन में सहानुभूति पैदा कर सकता है।

---

१. धनिक धनंजय — दशरूपकम्, द्वि०प्र०, कारिका ७ के पश्चात् वृत्तिकार धनिक ने इसे स्पष्ट किया है।

२. डा० नगेन्द्र — अरस्तु का काव्यशास्त्र, प्रथम संस्करण, सं० २०१४, पृ० ३९-४० अनुवाद अंश से।

भारतीय नाट्यशास्त्र में भी ऐसा ही विधान है। युग के प्रभाव के अनुसार अरस्तू स्त्री तथा दास में भी भद्रता का अभाव तो नहीं मानते किन्तु एक को निम्नस्तर का तथा दूसरे को निकृष्ट जीव मान लिया है। प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र नायिका को नायक के समान गुणों से युक्त मानता है। इसमें भी गणिका आदि कुछ निम्नस्तरीय नायिकाएं भी पाई जाती है किन्तु नाटक नामक रूपक के पहले प्रकार में ऐसी नायिकाओं को नहीं रखा जाता है क्योंकि इसमें राजा, देवता आदि नायक होते हैं।

चरित्र चित्रण में अरस्तू ने दूसरी बात औचित्य की बताई है। पुरुष में एक विशेष प्रकार का शौर्य होता है परन्तु नारी चरित्र में शौर्य या (नैतिक विवेक शून्य) चातुर्य का समावेश अनुचित होगा।[१] इससे यह अर्थ निकलता है कि पात्रों की प्रकृति के अनुरूप ही उनमें गुणों का समावेश भी होना चाहिए। पुरुषोचित गुण शौर्य है किन्तु स्त्रियोचित नहीं। डा० नगेन्द्र का मत है कि इससे एक ओर वर्गचित्रण को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर 'मिथ्या आडम्बर' की भावना का नाटक में प्रचार हुआ। अरस्तू का अभिप्राय ऐसा नहीं था। जातिगत विशेषताओं का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी वे व्यक्ति की विशिष्टता का निषेध नहीं करना चाहते थे।[२]

तीसरा सिद्धान्त बताता है कि 'चरित्र जीवन के अनुरूप होना चाहिए- यह गुण पूर्वोक्त 'भद्रता' और 'औचित्य' से भिन्न है।[३] अर्थात् अस्वाभाविक, अवास्तविक जीवन के नरनारी का चित्रण नहीं होना चाहिए। पात्र जैसे जीवन में पाये जाते हैं उन्हीं के अनुरूप चरित्र चित्रण होना चाहिए जिससे सजीव और विश्वसनीय प्रतीत हों। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि परम्परागत धार-

---

१. डॉ० नगेन्द्र-'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्र०सं०, सं० २०१४ वि०, पृ० ४०, अनुवाद अंश से, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली वि०वि० दिल्ली के निमित्त, भारती भण्डार द्वारा प्रकाशित।

२. उपर्युक्त पुस्तक से, पृ० ११०

३. वही, पृ० ४० (अनुवाद अंश से)

णाओं के अनुकूल पात्रों का चरित्र-चित्रण हो । जैसे युधिष्ठिर का धर्मराज होना, द्रौपदी का चंचल, तेज स्त्री होना जगत्प्रसिद्ध है । इसके विपरीत चरित्र चित्रण न हो । इन परम्परागत धारणाओं की रक्षा चरित्र को जीवन के अनुरूप बनाने में समर्थ होगी ।

चौथी बात यह है कि "चरित्र में एकरूपता हो । हो सकता है कि मूल अनुकार्य के चरित्र में ही अनेकरूपता, हो, किन्तु फिर भी, यह अनेकरूपता ही एकरूप होनी चाहिए ।[१] अनेकरूपता में एकरूपता की कल्पना अरस्तू की प्रतिभा के अनुकूल ही है । चरित्र में एकरूपता का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें परिवर्तन पूर्णत: वर्जित ही हो । पात्रों के चरित्र में बड़ा से बड़ा परिवर्तन हो सकता है किन्तु मूल प्रकृति की परिधि पर विवेक सम्मत ढंग अपनाया जाना उचित है । अनेकरूपता में एकता का प्रयोग ही अरस्तू के विचारों का सही वाक्य है । अत: इसका अनर्थ नहीं हो सकता कि उक्त विद्वान् चरित्र में स्थिरता का सिद्धान्त हमारे सम्मुख रखता है । किन्तु ध्यान रखने की बात यह भी है कि एक कठोर व्यक्ति को मृदु दिखाने में, अस्थिर को स्थिर चरित्र में परिवर्तन दिखाने में नाटककार को पात्र की प्रकृति में उसके अनुरूप कुछ संस्कार अवश्य वर्तमान रखने चाहिए तभी दर्शकों को ग्राह्य हो सकते हैं । डॉ० नगेन्द्र[२] ने अपना मत व्यक्त किया है कि अरस्तू न चारित्रिक विचित्रता का तिरस्कार करते हैं और न परिवर्तन की संभावना का निषेध बल्कि इस बात पर बल देते हैं कि चरित्र चित्रण में कवि की दृष्टि सुस्थिर एवं निर्भ्रान्त होनी चाहिए और अंकन विधि विवेक सम्मत हो, प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र में गौण पात्रों में स्वभाव परिवर्तन दिखाया जाता है किन्तु प्रमुख पात्र में नहीं ।

पाँचवीं बात यह है कि " कथानक के संगठन की भाँति चरित्र चित्रण में भी कवि को सदैव अवश्यम्भावी या सम्भाव्य को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए ।

---

१. डॉ० नगेन्द्र—'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि०, अनुवाद भाग है, पृ० ३०

२. वही, पृ० १११

जैसे आवश्यक या सम्भाव्य पूर्वापर क्रम से एक के बाद दूसरी घटना आती है, वैसे ही आवश्यकता या सम्भावना - नियम के अधीन विशिष्ट चरित्र के व्यक्ति को अपने विशिष्ट ढंग से ही बोलना या काम करना चाहिए ।'[1] डा० नगेन्द्र ने इसका स्पष्टीकरण यह कहकर किया है कि अरस्तू के लिए चरित्र का अर्थ केवल वर्गगत नैतिक गुणदोष है --यहाँ वे स्पष्ट शब्दों में आवश्यकता या सम्भावना नियम के अनुसार व्यक्ति के विशिष्ट ढंग से बोलने और काम करने की अनिवार्यता पर बल देते हैं जो निश्चित रूप से व्यक्ति वैशिष्ट्य की स्वीकृति है ।[2] पात्र के अपनी प्रकृति के विपरीत बोलने से या कार्य करने से असम्भाव्यता की स्थिति पैदा हो जायेगी । अत: भारतीय नाट्यशास्त्रियों के समान ही अरस्तू ने भी सम्भाव्यता का नियम लागू किया है । अन्तर दोनों में यह है कि भारतीय नाटकों के नायक आदर्श चरित्रों से युक्त होते हैं चाहे वह उस अंश तक विश्वसनीय न हो हों । नायकों में भूलें दिखाना उन्हें स्वीकार नहीं है किन्तु पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में ऐसा नहीं है जैसा कि अरस्तू के सम्भाव्यता नियम पर बल देने से स्पष्ट होता है तथा नाटकों के नायकों के देने से प्रतीत होता है । भारतीय आदर्श चरित्र प्रस्तुत करता है ।

छठवीं बात यह है कि 'चूंकि त्रासदी में ऐसे व्यक्तियों की अनुकृति रहती है, जो सामान्य स्तर से ऊँचे होते हैं, अत: उसमें श्रेष्ठ चित्रकारों का आदर्श सामने रखना चाहिए । ये चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्यंकन करने के अतिरिक्त एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत कर देते हैं जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कहीं अधिक सुन्दर भी होती है ।'[3] अरस्तू इस बात पर बल देते हैं कि चरित्र चित्रण में यथार्थता का ध्यान रखते हुए भी सामान्य स्तर से ऊँचे व्यक्तियों का चित्र

---

१. डॉ० नगेन्द्र- 'अरस्तू का काव्यशास्त्र,' प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि० , अनुवाद खंड से , पृ० ५१

२. वही, पृ० १११

३. वही, पृ० १११

उपस्थित करना चाहिए । अर्थात् कलाकार अपनी कला के माध्यम से आदर्श और यथार्थ और यथार्थ का समन्वय करके कल्पना और भावना के रंगों में रंगकर उसे ऐसा रूप प्रदान करें जो यथार्थ के अनुरूप होता हुआ भी एक नवीन आकर्षण उत्पन्न करे । कलाकार के हाथों में पड़कर पात्र को एक विशिष्ट सौन्दर्य की उद्भावना करनी चाहिए । पात्रों का सामान्य रूप में अंकन दर्शकों या पाठकों को पर्याप्त रूप में प्रभावित करने में समर्थ नहीं हो सकता है ।

चरित्र और परिस्थिति(Character and Situation)

गाल्सवर्दी महोदय ने संकेत किया है कि " चरित्र परिस्थिति है । मनुष्य के मानसिक संघर्ष, एक दूसरे पात्र से बाह्य मुठभेड़ या उसकी परिस्थितियों से संघर्ष चरित्र को अधिक अंश में प्रभावित करते हैं । चरित्र में परिवर्तन दिखाने से पहले परिस्थितियों में तदनुरूप परिवर्तन अनिवार्य है । बेकर महोदय का मत है कि यदि वे विशेष परिस्थिति में पात्रों का पूर्ण ज्ञान चरित्र चित्रण में सफलता नहीं प्रदान कर सके तो उन चरित्रों के लिए पूर्व परिस्थितियों का अध्ययन करें । कई बार ऐसा देखा गया है कि नाटककार प्रमुख चरित्र या चरित्रों का पूर्व परिचय सावधानीपूर्वक लिखित रूप में न रख लेने से कुछ दृश्यों का सफल निर्माण करने में असमर्थ रहे हैं । इस प्रकार विस्तृत प्राप्त ज्ञान बतायेगा कि इच्छित परिस्थिति में पात्रों का प्रवेश कराया जाय या नहीं और अगर कराया जाय तो किस प्रकार हो ।[२] तात्पर्य यह है कि चरित्र चित्रण में परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान है । परिस्थितियों पर विचार करते हुए तथा पात्रों का गम्भीर ज्ञान रखकर ही नाटककार चरित्र निर्माण में सफलता प्राप्त कर सकता है । चरित्र के विकास के लिए पात्र के जीवन का पिछला इतिहास जानना इच्छित उद्देश्य की पूर्ति में सहायक

'Character is situation'

१. गाल्सवर्दी: Some platitude concerning Drama, Atlantic Monthly, December 1909 से उद्धृत जी०पी०बेकर: 'ड्रैमेटिक टेक्नीक', न्यूयार्क, 1919, कांस्टेबल एण्ड कं०(?), पृ०280

२. जी०पी० बेकर--ड्रैमेटिक टैक्नीक, १९३०, पृ० २८३-८४

होगा । चरित्र की परख का अधिकाधिक निश्चयात्मक क्षण स्थिति है जो अपरिचित एवं अशंकित गुणों को प्रकाशित करता है अन्यथा वह अवरुद्ध होकर रह जाता ।[1]

<u>ट्रैजेडी का नायक</u>—

अरस्तू के काव्यशास्त्र में ट्रैजेडी के नायक के प्रसंग में जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर 'भाग्य परिवर्तन के अंकन में किसी सत्पात्र का सम्पत्ति से विपत्ति में पतन न दिखाया जाये क्योंकि इससे न तो करुणा की उद्बुद्धि होगी, न त्रास की, इससे हमें आघात ही पहुँचेगा । साथ ही उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से संपत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नहीं रहना चाहिए क्योंकि ट्रैजेडी की आत्मा के इससे अधिक प्रतिकूल और कोई स्थिति नहीं हो सकती । इसमें ट्रैजेडी का एक भी गुण विद्यमान नहीं है । इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है न करुणा और त्रास की उद्बुद्धि की ही । किसी अत्यन्त खल पात्र का पतन दिखाना भी संगत नहीं है —इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा परन्तु करुणा या त्रास का उद्बोध नहीं हो सकेगा क्योंकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से ही जागृत होती है और त्रास समान मात्र की विपत्ति से । अतः ऐसी घटना से न करुणा उत्पन्न होगी, न त्रास । अब, इन दो सीमान्तों के बीच का चरित्र रह जाता है —ऐसा व्यक्ति जो अत्यन्त सच्चरित्र और न्याय परायण तो नहीं है फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नहीं वरन् किसी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है । यह व्यक्ति अत्यन्त विख्यात एवं समृद्ध होना चाहिए जैसे —ओड दि पुस (ईडिपस) थ्यूस्तेस अथवा ऐसा ही कोई अन्य यशस्वी कुलीन पुरुष ।'[2] हमारे

---

१. सी० ई० वान: 'डायमेन्ड आफ ड्रैमेटिक ड्रामा', १९०८, पृ० २५०

२. डॉ० नगेन्द्र : 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्रथम संस्करण, सं० २०१४ वि० पृ० ३२-३३

प्राचीन भारतीय नाट्याचार्यों की भाँति अरस्तू ने भी सत्पात्र के लिए सम्पत्ति से विपत्ति में पतन दिखाने की आज्ञा नहीं दी है क्योंकि इससे करुणा उत्पन्न होने की संभावना तो नहीं है पर दर्शकों के मन पर आघात अवश्य लगेगा। बिल्कुल यही विचार भारतीय आचार्यों के हैं कि नायक सद्गुणों से युक्त होता है । अन्त में नायक की पराजय दिखाने से लोगों के मन को ठेस पहुँचेगी किन्तु पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त किसी भूल या दुर्बलता के कारण अन्त में नायक की मृत्यु दिखाता है। यह हमारे यहाँ की पद्धति से बिल्कुल ही भिन्न है।

अरस्तू के उपरोक्त विवेचन के आधार पर नायक को अत्यन्त खलपात्र के रूप में दिखाना उचित नहीं है क्योंकि उसका पतन हमारे मन में न दुःख उत्पन्न करेगा और न सहानुभूति, न्याय का भाव अवश्य जाग्रत होगा। किन्तु नायक को अत्यन्त सच्चरित्र और न्याय परायण भी नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसे व्यक्ति के पतन से हमारे मन को भीषण आघात पहुँचता है। ऐसा व्यक्ति श्रद्धा और आदर का पात्र होता है। लोगों के मन में उसकी विपत्ति न सह सकने की दुर्बलता सदैव बनी रहती है। नायक न अति खल और न अति सत्पात्र हो, वरन् दोनों अति के मध्य की स्थिति वाला सहज मानव भावनाओं से युक्त हो जिसके साथ प्रेक्षक की प्रकृति का तादात्म्य हो सके। प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र की भाँति नायक को यशस्वी, कुलीन वैभवशाली पुरुष के रूप में स्वीकार किया है। राज परिवार एवं सामन्त परिवार से ही नायक का चयन हो सकता है क्योंकि ट्रैजेडी नायक की सम्पत्ति विपत्ति दोनों अपने तक ही सीमित न रह कर व्यापक जन समाज के लिए है। एलिज़ाबेथकालीन नाटकों के नायक इसी सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण वर्ग प्रधान अर्थात् 'टाइप' हैं । भारतीय नाट्य-शास्त्र में भी कुलीन एवं प्रख्यात नायक का विधान है। फिर भी अरस्तू का नायक उज्ज्वल होकर भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। दुष्ट और पापी तो नहीं होना चाहिए किन्तु सत् के साथ असत् का कुछ मेल, स्वभाव में कुछ न कुछ दुर्बलता अथवा भूलों की प्रवृत्ति दिखाया जाना चाहिए।

नायक की विपत्ति के कारण—

नायक की विपत्ति के पाँच कारण हैं — (१) दैव अथवा भाग्य का

कोप— जिसका उत्तरदायित्व इंसान पर नहीं (२) पाप— मनुष्य मनमाना अपने चारित्रिक दुर्गुण के कारण अपराध करता है और फलस्वरूप दण्ड का भागी बनता है। (३) स्वभाव दोष— मनुष्य इच्छापूर्वक अपराध नहीं करता है परन्तु स्वभावदोष के कारण विवश सा अपराध करता जाता है। (४) अज्ञान— वस्तु-स्थिति के अज्ञान के कारण अपराध कर उसका दण्ड भोगता है। (५) निर्णय सम्बन्धी भूल— निर्णय करने में भूल होने के कारण अपराध कर बैठता है।[१] अरस्तू ने प्रथम दो कारणों को ट्रैजेडी का सफल नायक नहीं माना है। अज्ञानवश अपराध करने वाला बिल्कुल निर्दोष है तो भी वह आदर्श नायक नहीं हो सकता है क्योंकि ऐसे पात्र के पतन से न्याय सम्बन्धी आस्था को आघात पहुँचता है जिससे ट्रैजेडी के प्रभाव में बाधा अवश्य पड़ती है। पर यह अनुपयुक्त नहीं है बल्कि ट्रैजेडी की प्रेरक स्थितियों में इसे उत्कृष्ट माना है। ट्रैजेडी का आदर्श नायक स्वभाव से या किसी मानवोचित दुर्बलता — आवेश, निर्णय सम्बन्धी भूल के कारण अपराध करता हुआ दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। इसकी विपत्ति इसके दोष के अनुपात में कहीं अधिक होती है इसलिए वह प्रेक्षक के मन में करुणा और त्रास उत्पन्न करके नायक के प्रति सहानुभूति की भावना से भर देती है। यही आदर्श ट्रैजेडी नायक है।

हरमन आउल्ड ने भी सुनिर्मित नाटक में पात्रों द्वारा व्यवहार मानवसुलभरूप से प्रदर्शित करने की ही कामना की है।[२] शेक्सपियर आदि एलिजा-बेथ कालीन नाटककारों में भी चरित्र चित्रण की प्रधानता पाई जाती है। रोमियो एन्ड जूलियट' एन्टोनी और क्लीओपैट्रा को छोड़कर शेक्सपियर के अन्य नाटकों में नायिका का कोई स्थान नहीं है। कोई कहानी ऐसी नहीं है जिसके अन्त

---

१. डॉ० नगेन्द्र- 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', पृ०, सं० २०१४ वि० , पृ० ११३-१४

२. " In a well made play, characters are expected to behave like humanbeings . "

३. — हरमन आउल्ड, 'दि आर्ट आफ प्ले', १९३८, पृ० ७५, संस्करण ?

में नायक जीवित रहता है । शैक्सपियर के नाटकों में नायक के जीवन के जीवन विपत्ति के कारणों का ही चित्रण है जो धीरे धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर करते हैं । शैक्सपियर का नायक एकाएक वैभव एवं उन्नतिशील जीवन के मध्य ही किसी दुर्घटना का शिकार नहीं हो जाता है वरन् विपत्तियां उसे मृत्यु की ओर ले जाने का प्रबन्ध करती हैं । शैक्सपियर का नायक भी कोई प्रख्यात व्यक्ति ही हुआ है अतएव ये विपत्तियां और कष्ट भी कुछ विशेष प्रबल रूप में प्रतीत होती हैं । ये विपत्तियां प्रारम्भिक वैभव और खुशियों की दृष्टि से अप्रत्याशित होती है । ब्रैडले महोदय ने इन आपदाओं को विशेष ढंग का बताया है क्योंकि ये विख्यात और वैभव-शाली के पास ही जाती है और निराले ढंग की होती हैं ।[1] इस प्रकार नायक के चारों ओर विपत्तियां घेरा डालकर एक करुणाजनक, दु:खपूर्ण वातावरण की सृष्टि करके ट्रैजेडी का कार्य पूरा किया है ।

एफ०एल० ल्यूकस का कहना है कि अरस्तू ने ट्रैजेडी के नाटकीय पात्रों के विषय में स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि— कथावस्तु जिस प्रकार के चरित्र का अधिकार दे तदनुरूप ही नाटकीय पात्रों की सृष्टि की जाये ।' अरस्तू ने कथा-वस्तु को नाटक के तत्वों में सबसे अधिक महत्व दिया है अत: उनके ये विचार उनके लिए ठीक ही है किन्तु सभी को तो यह मान्य हो नहीं सकता । इसके विरोध में ल्यूकस महोदय का कथन है[2] कि वस्तुत: शोकान्त नाटक सम्बन्धी पात्रों के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं है । उनको एक चरित्र होना चाहिए

---

१. एन्०सी० ब्रैडले-'शैक्सपीरियन ट्रैजेडी', १९३०, चितऽ०, पृ० ८

२. " Aristotle is clearly insisting that the'dramatis personae' of tragedy shall be as as fine in character as the plot permits .

X X X X

But we may feel , too, that there is really no rule about the character of tragic characters except that they must have character and we can only add that not wickedness but weakness , remains the hardest of all human qualities to make dramatic .

२. — एफ०एल० ल्यूकस; 'ट्रैजेडी,' १९५७,पृ० १२८

और हम उसमें केवल इतना जोड़ सकते हैं कि दुष्टता नहीं बल्कि कमजोरी (चरित्र की दुर्बलता) मानव स्वभाव की दुर्बलता को अभिनयात्मक रूप देना सर्वाधिक कठिन है।

फिर भी ल्यूकस अरस्तू के इस कथन से सहमत है कि नायक और नायिका को बिल्कुल पूर्ण नहीं होना चाहिए। इस कारण नहीं कि हम पूर्ण चरित्र वाले आदर्श पात्र के दुर्भाग्य को सहन नहीं कर सकते बल्कि वे स्वयं में ही असत्य हो उठेंगे। स्वर्ग लोक के दैवी पात्र तुच्छ नाटकीय पात्र के समान कार्य करते हैं। हम लोग नाटकीय पात्र के रूप में मानव प्राणी चाहते हैं।[१] पाश्चात्य नाट्यशास्त्री सम्भाव्यता पर अधिक बल देते हैं अतः सहज मानव भावनाओं से युक्त पात्रों की सृष्टि ही उनको मान्य है। विक्टर ह्यूगो का दृष्टिकोण है कि जहाँ अधिकांश व्यक्ति दर्शक समूह का कार्यव्यापार चाहते हैं, अधिकांश स्त्रियाँ की रुचि संवेग की ओर लगी रहती है, इसके विचारवान व्यक्तियों का ध्यान सबको छोड़कर चरित्र योजना की ओर लगा रहता है।[२] नाटककार को स्वयं अपने पात्रों के चरित्र का वर्णन नहीं करना चाहिए। चरित्र चित्रण का सुन्दरतम ढंग कार्यव्यापार के द्वारा सिद्ध किया जाता है।[३] इब्सन आदि आधुनिक नाटककारों के पात्रों का चरित्र-विकास कार्य व्यापार के द्वारा ही हुआ है।

नायक के सहायक—

नाटक में प्रधान नायक के सहायक हुआ करते हैं जिनमें प्रधान पताका नायक होता है। नायक के अन्य सहायक विट एवं विदूषक होते हैं। पताकानायक प्रधान नायक की अपेक्षा गुणों में कुछ ही कम होता है तथा नायक का भक्त एवं चतुर होता है। विट गीत, नृत्यादि किसी एक गुण में पारंगत होता है। तथा

---

१. एफ०एल० लूकस: 'ट्रैजेडी', १९५७, पृ० १३०
२. वही—एफ०एल० लूकस: 'ट्रैजेडी', १९५७, पृ० १३६
३. जी०पी० बेकर: ड्रैमेटिक टैक्नीक, १९५७, पृ० ८२

विदूषक नाटक का हसोड़ एवं मजाकिया पात्र होता है। विस्तृत विवरण के लिए फुटनोट में दी गई पुस्तकें सहायक हैं।[१]

यौरप के नाटकों में विदूषक पाये जाते हैं। अंग्रेजी में विदूषक को क्लाउन या फूल कहते हैं। इन विदूषकों के चार स्वरूप होते हैं — १. मूर्ख, २. विनोदी ३. धूर्त, ४. व्यंग्य वक्ता। पहला मूर्ख मूर्खतापूर्ण कार्य करके, उलटे पलटे विचित्र वेशभूषा द्वारा हास्य उत्पन्न करता है। दूसरा अपनी मस्ती से ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न करता जिससे विनोद हो, तीसरा दम्भियों और अभिमानियों को मूर्ख बनाकर हास्य उत्पन्न करता है और चौथा प्रत्युत्पन्नमतित्वपूर्ण जोड़ तोड़ की बातें कह कर हास्य की सृष्टि करता है।[२] भारतीय तथा यौरपीय विदूषकों में बहुत अधिक अंश में समानता पाई जाती है। दोनों देशों के विदूषक भोजन-भट्ट होते हैं तथा उपर्युक्त अन्य विशेषताएं भी भारतीय विदूषकों में प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार हमारे यहाँ प्रारम्भिक समय से ही विदूषक का विधान है, यौरप में भी प्रारम्भ से ही इसका महत्त्व रहा है क्योंकि ट्रैजेडी और प्रहसन —यही दो नाटक के प्रकार माने गए। प्रहसन में विदूषक ही प्रमुख पात्र है।

प्रतिनायक —

भारतीय नाट्यशास्त्र में प्रतिनायक लुब्ध, धीरोद्धत, स्तब्ध, पापी व्यसनी तथा नायक का शत्रु होता है। यह नायक की फल-प्राप्ति में आरम्भ से अन्त तक बाधक होता है। जैसे राम और युधिष्ठिर के शत्रु क्रमश: रावण और दुर्योधन हुए।[३] प्रधान नायक के शत्रु होने तथा उपर्युक्त अवगुणों के कारण ये दोनों पात्र

---

१. धनिक धनंजय : 'दशरूपक', द्वि०प्र०, कारिका, ७-६

२. अभिनव भरत पं० सीताराम चतुर्वेदी : 'अभिनवनाट्यशास्त्र', द्वि०सं० १९५४, किताब महल, इलाहाबाद, पृ० २२८

प्रतिनायक कहे गए । अरस्तू के काव्यशास्त्र में खलनायक की चर्चा नहीं हुई है । ऐसा प्रतीत होता है कि ट्रेजेडी का नायक भूल या पाप, अज्ञान आदि के कारण विपत्ति का भागी बनता है अत: खलनायक को विघ्न डालकर कथा का विकास करने का अवसर यूनानी नाटकों में नहीं रखा गया । यूनानी नाटकों में धृष्टता महत्वाकांक्षा आदि के कारण विनाश की ओर नायक बढ़ जाता है । परन्तु पाश्चात्य नाटकों का आरम्भ ही संघर्ष से होता है जिसके लिए प्रतिनायक अपेक्षित है कुछ नाटकों में संघर्ष मुख्य पात्र के अन्तस में होता है । प्रतिनायक भारतीय तथा पाश्चात्य में समानगुणों वाला होता है ।

नायिका

प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र में या साहित्य में नायक की पत्नी या प्रिया को ही नायिका माना गया है । पाश्चात्य नाट्यशास्त्र अथवा आधुनिक नाट्यशास्त्र की भांति नाटकीय कथा प्रवाह में नायिका का प्रधान भाग होना अनिवार्य नहीं है किन्तु व्यावहारिक रूप में हम यही पाते हैं कि नायिकाएं भी अधिकाधिक सक्रिय ~~बनती जाती~~ हैं । कालिदास की शकुन्तला सुस्त नायिका नहीं है । नायक के समान नायिका में भी सामान्य गुण होने का विधान है । कभी कभी ऐसा भी होता है कि नायिका से अधिक अन्य स्त्री पात्र का पूरे नाटक में प्रधान कार्य होता है किन्तु नायक की पत्नी न होने के कारण नायिका नहीं कही जा सकती क्योंकि प्राचीन नाट्याचार्यों ने नायक की पत्नी को ही नायिका माना है ।

नाट्याचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के चार भेद — दिव्या, नृपतिनी, कुल स्त्री और गणिका बताए हैं । [1] किन्तु यह भेद बाद के आचार्यों को मान्य नहीं हुआ । आचार्य कौशिक के मत में नायिकाएं तीन प्रकार

1_ भरतमुनि : 'नाट्यशास्त्र', २४ अध्याय, श्लोक ७

की होती है — स्वकीयक, परकीया और पुनर्भू ।[१] किन्तु बाद के आचार्यों ने, या विद्वानों ने नायिका को नायक के ही सामान्य गुणों से युक्त माना है तथा इनके अनुसार यह तीन तरह की होती है — स्वकीय, परकीया एवं सामान्या ।[२] स्वकीया—उत्तररामचरित की सीता, मृच्छकटिक की वसन्तसेना साधारण स्त्री, परकीया का वर्णन काव्यों व नाटकों में अंगीरस के आलम्बन के रूप में नहीं किया जाता । स्वकीया अपनी, परकीया पराई तथा सामान्या किसी की स्त्री नहीं होती । सामान्या को ही गणिका या वेश्या भी कहते हैं । जिस प्रकार नायक के सहायक मित्र आदि होते हैं उसी प्रकार भारतीय आचार्यों के मतानुसार नायिका के कार्यों में सहायता पहुँचाने के लिए भी दूतियाँ आदि होती है । दासी, सखी, धोबिन, नौकरानियाँ, पड़ोसिनें, चित्रणी चित्र बनाने वाली स्त्रियाँ (शिल्पिनी) नायिका की दूतियाँ होती हैं । कभी कभी स्वयं नायिका भी दूती बन जाती है । वह स्वयं दूती कहलाती है । ये पीठ मर्द, विट, विदूषक के समान गुणों से युक्त होती हैं । इनमें कलानिपुणता, उत्साह , स्वामिभक्ति तीव्र स्मरणशक्ति, मिष्टभाषिता, वाक्‌पटुता आदि गुण अपेक्षित हैं ।

नायिका में प्राप्त सात्विक भाव —

नायक के समान नायिका में भी सात्विक गुणों का वर्णन मिलता है । इनको अंगज, अयत्नज तथा स्वभावज कहा गया है । गुणों तथा भावों के सूक्ष्म अवलोकन के लिए फुटनोट में दिए गए ग्रन्थों को देखें ।[३]

पाश्चात्य नाटककारों ने नायिका आदि का इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं किया है । यौरपीय नाटकों को देखने से पता चलता है कि उनके स्त्री पात्रों के जीवन में भी संघर्ष, आवेश, आवेग, उत्कण्ठा आशा, निराशा, सफलता—

---

१. संदर्भ—रामलाल वर्मा शास्त्री, एम०ए० : 'अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, प्रथम सं०, १९५५, नेशनल पब्लि० हा०, दिल्ली, पृ० ४४

२. धनिक धनंजय 'दशरूपकम्', द्वि० प्रकाश, कारिका, १५

३. वही, कारिकाएँ १८,२०,३३,३४

असफलता का तीव्र स्वरूप चित्रित किया गया है। ट्रैजेडी में प्राय: डायन, कर्कशा स्त्रियों की योजना की गई है जो अपने प्रतिपक्षी या विरोधी की हत्या करने में भी नहीं देर करतीं। विरोध भावना जागृत होने पर उनका वीभत्स रूप सामने आता है जैसे शेक्सपियर की नायिका लेडी मैकबैथ। रानी बनने की महत्वाकांक्षा में उसने हत्या जैसा नीच कार्य भी करा दिया। भारतीय नाटकों में ऐसी नायिका की योजना नहीं की गई है। पाश्चात्य नाटकों में नायक की पत्नी का ही नायिका होना अनिवार्य नहीं माना गया है। `किंगलियर` में शेक्सपियर ने लियर की तीसरी लड़की को नायिका बनाया किन्तु हमारे यहां ऐसा विधान नहीं था। अन्य स्त्री पात्र नायिका से अधिक सक्रिय होते हुए भी उस श्रेणी में नहीं रखी जा सकतीं। हमारे यहां अधिकांशत: संस्कृत नाटकों की नायिकाएं शृंगार जनित आचरण में लीन रहीं और यौरपीय नायिकाएं अधिकाधिक सक्रियता की ओर बढ़ीं।

चरित्र चित्रण की प्रधानता-

पाश्चात्य देशों में कथानक और चरित्र चित्रण में प्रधानता की दृष्टि से बहुत विवाद रहा है। अरस्तू आदि कुछ विद्वानों ने कथावस्तु को प्रधानता दी किन्तु विलियम आर्चर, जी०पी० बेकर, गार्ल्सवर्दी आदि कुछ विद्वानों ने चरित्र चित्रण को नाटक का प्रधान तत्त्व बताया। व्यावहारिक रूप में इस संबंध में नियम भ्रमपूर्ण है क्योंकि रचयिता कभी कथावस्तु से और कभी पात्रों के चरित्र से प्रेरणा ग्रहण करता है और यह उसकी मानसिक परिस्थिति पर निर्भर करता है। कथावस्तु वाले अध्याय में वस्तु के पक्ष में बोलने वालों के मत उद्धृत हैं। जी०पी० बेकर चरित्र को प्रधानता देते हुए कहते हैं -` निस्संदेह नाटक में क्रियाकलाप सामान्य जनता में सबसे अधिक शक्तिशाली तात्कालिक आकर्षण पैदा करता है तथापि अगर एक नाटककार अपनी रुचि के अनुसार प्रेक्षकों को कुछ बताना चाहता है तो कथोपकथन अपरिहार्य है। किन्तु एक नाटक का स्थायी मूल्य उसके चरित्र चित्रण की अपेक्षा रखता है। चरित्र चित्रण ध्यान केन्द्रित करता है। नाटक के विषय एवं पात्रों के प्रति दर्शकों में सहानुभूति पैदा करने का चरित्र चित्रण

ही प्रमुख साधन है ।"[१] गाल्सवर्दी भी इसी मत को अभिव्यक्त करते हैं – 'जो नाटककार कथावस्तु को चरित्र पर आधारित करने के बदले पात्रों को कथावस्तु पर निर्भर कराता है उसे स्वयं निर्भर करना पड़ता है ।'[२]

कथानक और चरित्र चित्रण –

कथावस्तु की क्रियाशीलता में ही चरित्र का विकास पाया जाता है तथा चरित्र के विकास के लिए कथानक में घटनाओं की उपयोगिता है । एक शरीर है तो दूसरा प्राण । नाटककार अपनी विशेष मानसिक अवस्था तथा रुचि के अनुसार कभी कथा को प्रधानता देता है, कभी चरित्र को । मानव स्वभाव का प्रस्तुतीकरण चरित्र चित्रण ही करता है तथा नाटक का प्राय: उद्देश्य मानव-स्वभाव स्वभाव का चित्र समाज के सामने उपस्थित करना होता है । घटनाओं एवं कार्य -

---

१. " In drama , undoubtedly , the strongest immediate appeal to the general public in action. Yet if a dramatist is to communicate withx audience as he wishes, command of dialogue is indispensible . The permanent value of a play ,however , rests onits characterisation . Characterisation focuses attention . It is the chief means of creating in an audience sympathy for the subject or the people of the play ."

— जी०पी० बेकर :' ड्रैमेटिक टैकनीक' , १६४० , कापी राइट बाई क्रिस्टिना एच० बेकर, पृ० २३४

२. The dramatist who depends his characters to his plot instead of the plot to his character ought himself to be depended .

—वही —उपर्युक्त पुस्तक है , पृ० २४१

व्यापारों के माध्यम से मानव चरित्र का चित्रण उसकी अच्छाइयों बुराइयों के रूप में दिखाया जाता है।

चरित्र के रूप —

नाटक में दो प्रकार के चरित्र प्रयोग में लाये गए हैं — १. वर्ग प्रधान, २. व्यक्ति प्रधान। वर्गगत विशेषताओं से युक्त चरित्र में वर्गगत विशेषताओं पर प्रकाश डालने का अधिक प्रयत्न किया जाता है जैसे रामायण के राम जातीय नेता, उद्धारक, रक्षक एवं आदर्श पुरुष हैं। वह निजी सुख दुःख की चिन्ता से पीड़ित नहीं हैं। बाइबिल के ईसा ऐसे ही पात्र हैं जिन्होंने समाज - उद्धार के लिए स्वयं को शूली पर लटका दिया था। व्यक्तिवादी चरित्र में व्यक्तिवादी विशेषताओं पर बल दिया गया है। वर्ग से व्यक्ति की ओर बढ़ना नाट्यकला के विकास का चिह्न है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना ही कला का विकास कहलाता है। यही बात नाट्यकला के साथ भी हुई है। नाटक के आरम्भ में लोग वर्गगत चरित्र के उद्घाटन में रुचि लेते थे किन्तु क्रमशः व्यक्तिगत चरित्र के चित्रण में कुशलता दिखाई जाने लगी क्योंकि व्यक्तिवाद की प्रधानता ही आज की विशेषता है। वर्गगत चरित्रआदर्श पर आधारित होते थे। "किसी भी देश में, दर्शकों के असर से वर्ग के द्वारा आधुनिक नाटक का इतिहास कल्पना और मानवी - करण से व्यक्तिगत पात्रों की ओर प्रस्थान है।"[१] बेकर महाशय व्यक्तिगत चरित्र चित्रण पर इतना बल देते हैं कि उन नाटककारों को जो व्यक्ति का चरित्र चित्रण नहीं कर सकते उन्हें नाटक लिखने का अधिकार ही नहीं देते। उन्हें केवल प्रहसन तथा उसी प्रकार के हल्के सुखान्त नाटक लिखने का ही प्रयत्न करना अपेक्षित

---

१. " In any country , the history of modern drama is a passing under the influence of the audience, from abstractions and personifications, through type , to individualized character."

—जीएपी० बेकर : "ड्रैमेटिक टैक्नीक," कापी राइट १९४७ बाई क्रिस्टिना एच० बेकर, पृ० २३४

है।[१] उन्होंने यह भी कहा है कि "मूलत: वर्गगत चारित्र्य मिथ्या अनुमान पर आधारित रहता है जैसे प्रत्येक मानव प्राणी पूर्णत: किसी प्रधान विशेषता अथवा आपस में सम्बद्ध छोटे समूह की विशेषताओं का प्रतिनिधित्व कर सकता है। सभी उत्तम आधुनिक नाटक बहुत सी विरोधी उत्तेजनाओं और भावनाओं से प्रेरित मानव प्राणियों में सुखान्तक अथवा दुखान्तक संघर्षों पर बल देते हैं।[२]

रौनाल्ड पीकाक ने श्री बेकर के कथन का दृढ़ता पूर्वक विरोध किया है कि वर्गगत चारित्र्य को बुरा और व्यक्तिगत को अच्छा सिद्ध करने का प्रयास स्वयं ही मिथ्या अनुमान पर आधारित है। वर्गगत चारित्र्य का बुरा होना निश्चित नहीं है। यह चरित्र प्रस्तुतीकरण का एक प्रकार है और यह अधिक अंश में औचित्य के अनुकूल हो सकता है।[३] नाटक के पात्रों का चरित्र नाटककार के मस्तिष्क की उपज है। इसमें यथार्थ और इतिहास की विशेषताएं ही चित्रित नहीं की जाती हैं वरन् नाटककार अपनी रुचि के अनुकूल किसी पात्र में दुर्बल आदि पात्रों की कल्पना करके उसका व्याख्यात्मक अर्थ प्रदान करता है। ट्रैजेडी में एक या दो पात्रों (प्रमुख) पर विशेष रुचि दिखाई जाती है। उन्हीं का पूरे नाटक पर प्रभाव छाया रहता है। कामेडी में अवश्य नाटककार की रुचि विभिन्न रूपों में वितरित रहती है। निकल महोदय के अनुसार "नायक ही वह पात्र है जो ट्रैजेडी को गौरव प्रदान करता है तथा जीवन्त बनाता है।"[४]

---

१. "He who cannot individualise character must keep to the broader kinds of melo drama and farce and above all to that last asylum of honoured types musical comedy ."

— जी०पी०बेकर :"ड्रैमेटिक टेक्नीक", १६५०, पृ० २३५

२. वही, पृ० २३५

३. रौनाल्ड, पीकाक :" दि आर्ट आफ ड्रामा", १६५७, प्रथम संस्करण, रूटलेज एण्ड केगन पाल लि० ब्राडवे हाउस ६८-७४, कार्टरलेन, लन्दन ई०सी०, पृ० १६६-

४. ए० निकल - :" दि थ्योरी आफ ड्रामा", १६३७, पृ० १७०

चरित्र चित्रण और मनोविज्ञान —

चरित्र चित्रण और मनोविज्ञान का अन्योन्याश्रित होना स्वाभाविक है क्योंकि पहला दूसरे पर और दूसरा पहले पर निर्भर करके ही अपना क्षेत्र विस्तार करता है। चरित्र चित्रण में ज्ञान, भावना और संकल्प इन तीनों मनोवृत्तियों का सम्यक प्रयोग पाया जाता है। यह हो सकता है कि कभी बाह्य संसार के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में कोई मनोवृत्ति प्रधानता ग्रहण करती है किन्तु हमारे मस्तिष्क में तीनों सदैव स्थित रहती हैं। इन तीनों मनोवृत्तियों को ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहा गया है। ज्ञान इच्छा का रूप लेकर क्रिया के लिए प्रेरणा देता है। चरित्र चित्रण मानव स्वभाव का प्रस्तुतीकरण ही तो है और मनोविज्ञान मानव मन के खोज में व्यस्त है। किसी नाटक के स्वाभाविक चरित्र चित्रण से प्रभावित होकर हम शीघ्र कह उठते हैं कि इस नाटककार ने एक मनोवैज्ञानिक की भाँति पुरुष पात्रों और स्त्री पात्रों का प्रकृति चित्रण किया है। मनोविज्ञान का कार्य ही सफल स्वाभाविक चित्रण में सहयोग देना है। अच्छे नाटक सदैव मनोविज्ञान को आधार बनाकर चलते हैं। वर्गगत चरित्र चित्रण में मनोविज्ञान कुछ ढीला भी पड़ सकता है किन्तु व्यक्ति प्रधान चरित्र चित्रण मनोविज्ञान के अभाव में दर्शकों के मनोभावों से तादात्म्य कर सकने में असमर्थ रहेगा। आधुनिक नाट्यकारों जैसे गाल्सवर्दी, इब्सन, शा आदि ने मनोविज्ञान के आधार पर पात्रों का चरित्र विकास दिखाने का प्रयत्न किया है। अतएव ये नाटककार अपेक्षाकृत अधिक सफल एवं स्वाभाविक चरित्र चित्रण के समीप हैं।

कामेडी के पात्र—

अरस्तू के अनुसार कामेडी के पात्र (१) स्वभावत: सामान्य से निम्नतर कोटि के होते हैं (२) निम्नतर का अर्थ खल या दुष्ट का नहीं है, केवल अभिहास्य का है जो कुरूप या विकृत का एक उपभाग मात्र है।[1] भारतीय नाट्यशास्त्र के

---

१. डॉ० नगेन्द्र -'अरस्तू का काव्य शास्त्र' (भूमिका से) पृ० १२५, प्र०सं०, सं० २०१३ वि०

प्रहसन के समान पाश्चात्य नाट्य शास्त्र भी कामेडी के पात्रों को ट्रैजेडी की अपेक्षा निम्नकोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है। कामेडी का मूल भाव हास्य है अत: निम्न का अर्थ दुष्ट नहीं है बल्कि भद्दापन, कुरूपता, आदि है जिससे हास्य की सृष्टि होती है किन्तु क्लेषोत्पादक नहीं होता है। अरस्तु ने कामेडी की परिभाषा में कहा है कि यहां निम्न शब्द का अर्थ बिल्कुल वही नहीं है जो दुष्ट का होता है क्योंकि अभिहस्य तो कुरूप का एक उपभाग मात्र है। उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेश या अमंगलकारी नहीं होता।[१]

भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यग्रन्थों में पात्र-योजना के संबंध में विभिन्नता होते हुए भी समानता पाई जाती है। नेता के सामान्य गुण अधिक अंश में समान हैं किन्तु विषमता तब उपस्थित होती जब भारतीय नाट्यशास्त्र नायक में कोई त्रुटि नहीं देखना चाहता है और पाश्चात्य नाट्यशास्त्र औचित्य तथा सम्भाव्य को दृष्टि में रख कर चलता है फलस्वरूप मानवोचित दुर्बलता का चित्रण आवश्यक है। भारतीय नाटकों तथा प्राचीन यूरोपीय नाटकों (ट्रैजेडी) के नायक वैभवशाली यशस्वी राजा हुआ करते थे। दोनों देशों के नायकों की विदाएं दुर्भाग्य, निराशा आदि सम्पूर्ण राज्य के दुर्भाग्य की सूचक थी। वर्गगत पात्रों का प्रभाव यूरोपीय देशों में धीरे धीरे कम होने लगा। राजा, राजकुमारों का स्थान आधुनिक युग के शा, गाल्सवर्दी, इब्सन आदि के नाटकों में समाज के वास्तविक प्राणी लेने लगे जिनके चरित्र पूर्ववर्ती नाटकों के पात्रों की भांति स्थायी चरित्र को धारण करने वाले नहीं हैं, वरन् परिस्थिति के अनुसार उनके स्वभाव में भी परिवर्तन हो सका है। भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य साहित्य में प्रहसन को निम्नकोटि का माना गया है अत: उसके पात्रों का चयन भी स्वभावत: निम्नकोटि के पात्रों से किया जाना चाहिए किन्तु वह दुष्ट न हो बल्कि कुरूपता, भद्दापन आदि से हास्योत्पादकता की सृष्टि होनी चाहिए। दोनों देशों की नायिकाओं के चरित्रमें महान् अन्तर दिखाई पड़ता है। एक धीरो-धारी, शील-लज्जा युक्त नायिका पति को प्रसन्न

---

१. डॉ० नगेन्द्र 'अरस्तु का काव्यशास्त्र' (अनुवाद से पृ० ९७) प्र०सं०, २०१४वि०

करने की चिन्ता में ही अपने जीवन का सारा समय व्यतीत कर देती है और दूसरी महत्वाकांक्षा आदि में अपना पूरा समय सक्रिय रहकर जीवन के उतार चढ़ाव में बिता देती है। विदूषक का चरित्र साम्य पाया जाता है। वातावरण, सामाजिक संस्कार आदि के कारण दोनों के पात्र-योजना में अन्तर दिखाई पड़ता है किन्तु गहराई में जाने पर समता भी कम नहीं है। सामाजिक संस्कार तथा वातावरण और सुविधा योरोपीय नायिकाओं को कर्कशा, डायन, ईर्ष्यालु, हत्या जैसा जघन्य कार्य करने वाली बनाने में योग देते हैं अथवा जिन नायिकाओं का चरित्र सद्प्रवृत्तियों की जागरूकता के साथ चित्रित हुआ है, वे भी निष्क्रिय नहीं हैं जैसा हमारे यहाँ नायक अपने पुरुषार्थ के प्रदर्शन में जुटा रहता है और नायिका ने बहुत सक्रियता दिखाई तो नायक की विपत्ति से गम्भीर मुसकुरावाली हो गई। इससे अधिक कर भी क्या सकती है। हिन्दी नाटकों में अवश्य सक्रिय नायिकाओं की योजना होने लगी। पात्र-योजना के उपरान्त पात्रों के वाग्व्यापार का विवेचन अपेक्षित है जिसका माध्यम है भाषा और शैली।

चरित्र चित्रण—

संस्कृत तथा पाश्चात्य आलोचकों एवं नाट्याचार्यों ने पात्र-योजना को नाटक का एक प्रमुख तत्त्व कहा। रामगोपालसिंह चौहान[1] ने पात्र-योजना नामक प्रमुख तत्त्व को भ्रामक कह कर छोड़ दिया है क्योंकि पात्र योजना ऐसा तत्व माना है जो नाटक को साहित्य की अन्य विधाओं से पृथकता प्रदान करते हैं — (१) कथावस्तु, (२) संवाद, (३) दृश्य विधान। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या कथावस्तु कहानी, उपन्यास आदि में तत्त्व रूप में नहीं आती है। कथावस्तु भी तो पात्र योजना के समान साहित्य की प्राय: सभी विधाओं में पाया जाने वाला सामान्य तत्त्व है। अत: चरित्र चित्रण भी कथावस्तु के समान नाटक का अनिवार्य तत्त्व क्यों नहीं कहा जायेगा ? जिन तत्त्वों के समन्वय से नाटक की रचना होती है उनमें चरित्र चित्रण की उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती। नाटक की रचना में आरम्भ से अन्त तक मानव के कार्य व्यापारों का ही तो चित्रण रंगमंच पर उपस्थित किया जाता है अत: चरित्र चित्रण को विशिष्ट स्थान दिया

---

१ रामगोपाल सिंह चौहान : 'हिन्दी नाटक सिद्धान्त और समीक्षा', प्र०सं०, १६५६, प्रगति प्रकाशन, २०५, चावड़ी बाजार, दिल्ली, पृ० १२२

जाना अपेक्षित है। चरित्र चित्रण के द्वारा कथा को चरित्र सीमा पर पहुँचाया जाता है। एवं जीवन के विविध रूपों का अनुकरण किया है। आजकल तो चरित्र प्रधान नाटक लिखने की प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। किसी न किसी रूप में मानव चरित्र और मानव जीवन ही नाटक का प्रतिपाद्य विषय रहता है।

हिन्दी नाटकों का आविर्भाव १६ वीं शताब्दी में हुआ जबकि पाश्चात्य देशों में नाट्य रचना विकास की अधिक सीढ़ियां चढ़ चुकी थी। भारत तथा अन्य सभी देशों की प्रारम्भिकअवस्था में कथावस्तु को महत्व दिया गया है किन्तु विकास की स्थितिमेंसभी देशों में चरित्र चित्रण को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। प्रारम्भिक अवस्था में सामन्ती उच्चवर्ग के जीवन का अस्वाभाविक चित्रण यांत्रिक रूप में पाया जाता है। शनै:शनै: स्वाभाविक चरित्र चित्रण की ओर ध्यान दिया जाने लगा फलस्वरूप व्यक्ति वैचित्र्य को स्थान मिला। समाज का यथार्थ चित्र अंकित करने के प्रयत्न में अमीर-गरीब, शोषक-शोषित सभी वर्ग के लोगों का चरित्र-चित्रण किया जाने लगा। वस्तुत: नाटक का प्रेरक भाव मानव और उसके जीवन से संबद्ध है।

<u>शास्त्रीय पात्र विधान—</u>

हिन्दी नाटकों में कुछ पात्र ऐसे प्रयुक्त हुए हैं जो शास्त्रीय सीमा में आबद्ध दिखाई पड़ते हैं। नायक अपने कार्यों में स्वतंत्र नहीं है। नाटककार विशिष्ट प्राचीन भारतीय अथवा पाश्चात्य पद्धति पर उसे परिचालित कर रहा है। भारतेन्दु जी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' के नायक राजा हरिश्चन्द्र फल के उपभोक्ता हैं तथा धीरोदात्त नायक के सभी गुण जैसे महासत्व (क्रोध, शोक आदि विकारों से अभिभूत न होने वाला) अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन (अपनी प्रशंसा न करनेवाला), निगूढ़ अहंकार वाला, तथा दृढ़व्रत होना आदि इनमें पाये जाते हैं। हरिश्चन्द्र सर्वगुणयुक्त नायक है। 'नीलदेवी' का नायक राजा सूर्यदेव गम्भीर, न्याय प्रिय, स्थिर प्रकृति का अधिक में विश्वास करने वाला धीरोदात्त नायक है किन्तु विचित्रता यह है कि धीरोदात्त नायक का नाश संस्कृत में नहीं दिखाया है और सूर्यदेव की मृत्यु रंगमंच पर प्रतिनायक द्वारा दिखाई गई है अत: यह निश्चित है कि

नाटककार ने इस नायक की सृष्टि शास्त्रीय दृष्टि से नहीं की है। वस्तुत: नायिका के चरित्र को प्रकाशित करना नाटककार का उद्देश्य है अत: नायक की मृत्यु के बाद उसे ऐसा करने का अवसर दिया गया है। राधाचरण गोस्वामी के 'अमरसिंह राठौर' में अमरसिंह धीरोदात्त नायक हैं। भारतेन्दु ने अपने 'भारत-दुर्दशा' को नाट्य रासक कहा है किन्तु तदनुसार धीरोदात्त नायक की योजना नहीं की है। चन्द्रहास में धीरोदात्त नायक के सभी गुण पाये जाते हैं। राज्य पाकर वह एक धीर, गंभीर व्यक्ति के समान कहता है — 'भाई लोग जानते हैं कि राजसुख कोई बड़ा भारी सुख है पर यथार्थ में ऐसा नहीं। राजकुल असंख्य दायित्व भारों से दबा हुआ है।'[1] मदन के कथन में उसके सभी गुण वर्णित हैं — 'निस्संदेह चन्द्रहास कोई अलौकिक व्यक्ति है। क्या रूप, क्या गुण दोनों ही बातों में वह अद्वितीय है। शील और सौजन्य, विनय और वीर्य विद्या और बुद्धि सभी बातें उसमें विलक्षण हैं। सद्भाव का तो वह स्वरूप ही है।'[2]

ईसा त्याग, अहिंसा, सेवा, सत्य, वीरता आदि की प्रतिमूर्ति के रूप में चित्रित हैं। आवेश उनके स्वभाव में कहीं नहीं आया है। सिपाही काँटों का ताज पहनाकर अपमान करते हैं। अन्य प्रकार से भी तंग करते हैं किन्तु वह विचलित नहीं होते। चरित्र में स्वाभाविकता लाने के लिए ईसा को क्रूस पर चढ़ाये जाने के समय मरियम आती है और सिपाही उसे घसीटते हैं तब माँ की ममता के कारण मन में आन्दोलन दिखाया गया है किन्तु इसी प्रकार नित्य अनेक माताओं के अपमान की कल्पना करके ममत्व को भुला देने के प्रयत्न करते हैं।[3] दृढ़ता, तेजस्विता शास्त्रज्ञान तथा धार्मिकता ईसा के प्रमुख गुण वर्णित हैं। ईसा का दैवी रूप भी अन्त तक दे दिया है। राजा सुलोम भी धीरोदात्त नायक के गुणों से पूर्णतया युक्त है। कुलदत्त पुरुषों बच्चों को पकड़ कर नरबलि के लिए इकट्ठा कर रहा है। सुलोम उनके रक्षार्थ यशोधन आदि के मना करने पर भी अकेले वणिक वेश में निकल जाते हैं। कुलदत्त द्वारा बन्दी बनकर अनेक यातनाएं सहनी पड़ती हैं किन्तु अन्तत:

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : 'चन्द्रहास', तृतीयावृत्ति, सं० १९८०, पृ० ४७-४८

२. वही, पृ० ६२

३. बेचन शर्मा उग्र : 'महात्मा ईसा', प्रथमावृत्ति, १९२२, पृ० १२९

बुलदत्त का मन परिवर्तित करके छोड़ता है।[१] परवर्ती नाटककारों ने नायकों को लोकोत्तर होने से बचाने का प्रयत्न किया है किन्तु कुछ लोक प्रचलित बातों को नहीं भी हटा पाए हैं जैसे सेठ गोविन्ददास के `कर्ण` में कवच कुण्डल की कथा। फिर भी नाटककारों में चरित्र-चित्रण की नवीन कल्पना का समन्वय `पुण्यपर्व` में भी दिखाई पड़ता है। इस पौराणिक नाटक का नायक मानव आदर्श का संकेत बुलदत्त के साथ संवाद में देता है -- " सुतसोम -- वेण या चाण्डाल छू ले तो स्नान करने की बात मेरे मन में कभी नहीं आती। यह दूसरी बात है कि मैं उस समय तक स्नान कर लिया करता हूं।"[२] सुतसोम के चरित्र में प्राचीन नवीन का समन्वय दिखाई पड़ता है।

लक्ष्मण[३] तथा भीम[४] प्रख्यात धीरोद्धत नायक के रूप में हिन्दी नाटक साहित्य में अवतरित किये गए हैं। ये शीघ्र ही चंचल हो जाने वाले, आत्म-श्लाघी तथा उद्धत स्वभाव वाले नायक हैं। इन दोनों नायकों को उद्धत स्वभाव लोक प्रचलित है।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र नाटक साहित्य में अधिक अंश में धीरललित नायक के रूप में ही अवतरित हुए हैं। पुराणों का आधार लेकर ही साहित्यकारों ने कृष्ण का उस रूप में विचित्र चित्रण किया है। भारतेन्दु जी की 'चन्द्रावली नाटिका' के नायक कृष्ण हैं किन्तु कृष्ण के चरित्र का चित्रण कहीं भी स्पष्ट नहीं है। केवल एक बार के कहने से ही कृष्ण जोगिन का रूप धर कर चन्द्रावली के पास आते हैं अतः उनके चरित्र का विकास नहीं हुआ है। संकेत से अर्थ लगा सकते हैं कि धीर ललित नायक का ही रूप हो सकता है क्योंकि सखियों के कथोपकथन में एक स्थान पर " प्यारी जू के मनाइबे को मेरो जिम्मा"[५] आता है तथा

---

१. सियारामशरणगुप्त :`पुण्यपर्व`, प्रथम बार, १९३३, साहित्य सदन चिरगांव, झांसी

२. वही, पृ० ६१

३. बालकाचार्य गिरि: 'बालिवध', १९०४ ई०,

४. बद्रीनाथ भट्ट :" कुरुवनदहन" (१९१२)

५. ब्रजरत्नदास:-'भारतेन्दु नाटकावली' (चन्द्रावली से), प्रथम भाग, द्वि०सं०,सं०२००८, रामनारायण लाल,इलाहाबाद, पृ० २०१

ललित स्वभाव वाले कृष्ण एक बार कहने पर ही चन्द्रावली के समीप उपस्थित होते हैं। विद्याधर त्रिपाठी 'रसिकेश' के 'उद्धवशीठि नाटिका'[१] के धीर ललित स्वभाव वाले नायक कृष्ण हैं। ब्रज में रहकर गोपियों से प्रेम किया, मथुरा जाकर कुब्जा को अपनाया तथा सब पर समान रूप से प्रेम किया। गोपियों का पत्र पाकर प्रेम विह्वल हो जाते हैं। कुब्जा नामक प्रगल्भा नायिका तथा अनुरागवती नायिका राधा के धीरललित नायक कृष्ण हैं।

'प्रभास मिलन नाटक'[२] के नायक कृष्ण विनोदशील, चतुर, विलास-प्रिय मथुरा के राजा हैं। धीरललित नायक के गुणों से पूर्णतया युक्त हैं। रुक्मिणी सत्यभामा, राधा और अन्य गोपियों के बीच आनन्द लेने और देने की योग्यता उनकी विनोद प्रियता एवं विलासप्रियता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। संस्कृत नाटकों के अनुकरण पर नायक के रूप में कृष्ण के चरित्र को दोषमुक्त करने के लिए शाप की कथा जोड़ दी गई है। शृंगार रस तथा स्त्रियों के साथ व्यवहार के आधार पर कृष्ण दक्षिण नायक हैं। कृष्ण रुक्मिणी, सत्यभामा को सदैव प्रसन्न रखते हैं और राधा से मिलने पर राधा जब मान करती है तो उसके पैरों पर गिर पड़ते हैं। राधा को प्रसन्न करने के लिए सब कुछ करने को तैयार हैं। अन्य नाटककारों ने कृष्ण का चरित्र-चित्रण भी शास्त्रीय पद्धतिपर नहीं किया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक रचना में भारतीय नायकों के चरित्र-चित्रण में प्राचीन भारतीय रीति का अनुसरण किया है किन्तु पाश्चात्य रीति के साथ समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखा है। 'रणधीर प्रेममोहिनी' का रणधीर[३] अवश्य ही मानवोचित गुणों से परिपूर्ण भद्र चरित्रवाला, शूर वीर, औचित्य की सीमा में रहने वाला नायक है। सामान्य से उच्च स्तर का प्राणी है किन्तु असम्भाव्य चरित्रवाला नहीं है। कल्पना एवं विवेक का उचित सामंजस्य होने से अनुचित नहीं प्रतीत होता। जैसा कि सामान्य रूप से भारतीय नाट्य चरित्र में नायक

---

१. विद्याधर त्रिपाठी 'रसिकेश': 'उद्धवशीठि नाटिका'; १८८७ ई०, प्र०बार,

२. बलदेवप्रसाद मिश्र : 'प्रभास मिलन नाटक', सन् १९०२

३. लाला श्रीनिवासदास : 'रणधीर और प्रेममोहिनी', तृतीय बार, १९७९वि०

ने नायिका को देख और पागल के समान बिना सोचे समझे अपने को समर्पित कर दिया है, वैसा इसमें नहीं है। रणधीर प्रेममोहिनी को देखकर आकृष्ट होता है किन्तु अपना विवेक नहीं खो देता है। प्रेममोहिनी का प्रेम सच्चा है अथवा नहीं, इसकी वह परीक्षा लेता है क्योंकि प्रेममोहिनी का प्रेम सच्चा है अथवा रूप की पुजारिन है, इसका पता लगाना अपना हृदय देने के पूर्व विवेकी व्यक्ति के लिए अपेक्षित है। अरस्तु के शास्त्रीय विधान के अनुसार यथार्थ चरित्र के साथ ही उसमें एक भव्य आकर्षण भी है।

बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षा दान अथवा जैसा काम वैसा परिणाम' का नायक रसिकलाल विकृत प्रकृतिवाला है जिसका चरित्र पूर्णतया हास्यास्पद है। रसिक लाल उन मानव भावनाओं से युक्त है जिसके साथ प्रेक्षक का तादात्म्य हो सकता है क्योंकि समाज में ऐसे बहुतेरे लोग होते हैं जो रसिक के चरित्र की समानता रखते हैं जिनमें एक पाप है तथा जिसमें मनुष्यता इच्छा पूर्वक अपने चारित्रिक दुर्गुणके कारण अपराध करता है फलत: दण्ड का भागी बनता है। रसिकलाल चारित्रिक दुर्गुण के कारण वेश्या की फटकार का भागी बनता है। चरित्र चित्रण में सम्भाव्यता का ध्यान रखा गया है। वस्तुत: हिन्दी नाटककारों ने अधिकांशत: भारतीय तथा पाश्चात्य पात्र-योजना पद्धति को नहीं अपनाया। उन्होंने दोनों के सम्मिश्रण से अपना स्वतंत्र पथ ढूंढ निकाला है।

<u>चरित्र चित्रण की दृष्टि से प्रमुख पुरुष पात्र—</u>

हिन्दी नाटक साहित्य के प्रारम्भिक काल में नाटकों की पात्र-योजना पर संस्कृत की शास्त्रीय पद्धति का विशेष प्रभाव पड़ा। फलस्वरूप अलौकिक आदर्श पात्रों में अधिक दिखाई पड़े। पुराणों से ग्रहण किये गए कथानकों में नायकों का चरित्र शास्त्रीय परंपरा के अनुसार ही लोकोत्तर आदर्शों से युक्त रहा [2] किन्तु धीरे

---

१. बालकृष्ण भट्ट : 'शिक्षादान अथवा जैसा काम वैसा परिणाम', हि०सं०, १६८५

२. ब्रजरत्नदास: 'भारतेन्दु नाटकावली', प्रथम, हि०सं०, सं० २००८, रामनारायण, इलाहाबाद (प्रथम परिच्छेद)

धीरे सामाजिक नाटक लिखे जाने लगे और उनमें तथा राष्ट्रीय , ऐतिहासिक नाटकों के चरित्र चित्रण में अपनी स्वतंत्र रुचि के अनुसार स्वाभाविक रूप देने का प्रयास दिखाई पड़ने लगा । वस्तु की अपेक्षा चरित्र को प्रधानता दी जाने लगी । प्राचीन पात्रों में भी दैवी रूप को विस्मृत करके नवीन के अनुसार मानवी रूप चित्रित हुआ । कृष्ण द्वारा सुदामा के दारिद्र्य - मोचन की कथा प्राचीन है तथा इसी पौराणिक कथा के आधार पर सुदामा तथा कृष्ण के चरित्र-चित्रण में अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण और विवेचन शक्ति का परिचय किशोरीदास वाजपेयी ने दिया है । इसमें `बाम्हन के धन केवल भिच्छा` वाले नरोत्तमदास के कथन को नितान्त त्रुटिपूर्ण विचार सिद्ध कर दिया है । उन्होंने अपने `द्वापर की राज्यक्रांति ` नाटक में ब्राह्मणों के चरित्र का उज्ज्वल पक्ष दिखाकर उनकी महत्ता प्रतिपादित की । क सुदामा इसके नायक हैं जिनमें प्रतिभा तथा लोकहित की कामना में आत्मत्याग का अपूर्व बल दिखाया गया । वह लोभी ब्राह्मण नहीं हैं । कृष्ण ने उन्हें राज्य देकर उनकी दरिद्रता का निवारण नहीं किया वरन् उनके त्याग एवं प्रतिभा एवं परिश्रम के फलस्वरूप राज्य स्वयं उनके पास आ गया । नाटककार स्वतंत्र उद्भावना से कार्य न करता तो घिसे पिटे रूप में सुदामा का चरित्रांकन हो गया होता किन्तु नाटककार ने चरित्रचित्रण में स्वतंत्र रुचि का परिचय दिया ।

इसी प्रकार `प्रसाद` के प्रमुख पात्रों को घात-प्रतिघात तथा अन्तर्द्वन्द्वों में बहुत उलझना पड़ता है । उनके पात्र मानवीय दुर्बलताओं से युक्त हैं । उन्होंने शास्त्रीयरीति के अनुसार एकरूपता का बंधन नहीं स्वीकार किया । `चन्द्रगुप्त ` के चाणक्य के चरित्र में `प्रसाद` ने पारिवारिक तथा मानव सुलभ दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है । स्कंदगुप्त , चन्द्रगुप्त, जनमेजय,गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु आदि सभी नायक कुलशील में श्रेष्ठ हैं । इनका ख्यात वृत्त होना स्वाभाविक है किन्तु नाटककार ने इनके चरित्र चित्रण में ऐतिहासिकता की रक्षा के साथ ही मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए स्वच्छंदता का सहारा लिया ।`विशाख` नाटक में नायक विशाख है किन्तु सम्राट नहीं । वह तक्षशिला विश्वविद्यालय से निकला हुआ स्नातक है जो प्रथम बार सीधे समाज में पदार्पण कर रहा है । गुरुकुल के उपदेशा--

नुसार दु:खी चन्द्रलेखा के उद्धार का अवसर शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है किन्तु नाटककार इसे बताता चलता है कि उसकी उदारता के मूल में उसकी काम वासना अन्तर्निहित है। स्थितियों के द्वारा उसे व्यवहारिकता का ज्ञान होता चलता है। इसके चरित्र चित्रण में पूर्णतया स्वतंत्र मनोवृत्ति से कार्य किया गया है। 'राज्यश्री' में नाटककार का उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र चित्रण करना बताया गया है अत: अन्य पात्रों का चरित्र विकसित भी नहीं हो पाया है। ग्रहवर्मा की मृत्यु आरम्भ में ही हो जाती है। हर्षवर्द्धन का चरित्र भी पूर्ण विकसित नहीं हो पाया है। नवीन दृष्टिकोण के अनुसार राज्यश्री का पति नहीं वरन् भ्राता नायक कहा जा सकता है। नाटककार चरित्र चित्रण में सफल नहीं हो पाया है। अजातशत्रु के चरित्र में अधिकार,सफलता, मद शासन की क्रूरता, उच्छृंखलता और दु:शीलता प्रारम्भ में दिखाई पड़ती है। इसी चरित्र का विकास होता चलता है। अजातशत्रु की दुर्विनीत प्रवृत्ति का बड़ा स्वाभाविक रूप चित्रित हुआ है। आवेशपूर्ण उग्रता का स्वरूप सदैव दिखाई पड़ता है। वाजिरा पर प्रेम प्रकट करते हुए वह सच्चे प्रेमी के रूप में हमारे सम्मुख आता है। शास्त्रीय रीति के विपरीत इस नाटक के नायक तथा अन्य सभी पात्रों में मानवोचित दुर्बलताओं और अच्छाइयों का समुचित समावेश किया गया है। इसके पात्र यथार्थ मानव के रूप में निर्धारित ~~समावेश किया गया है। इस~~ किये गए हैं।

जनमेजय तेजस्वी, वीर , उत्साही, कर्तव्यशील , विनोदप्रिय किंतु राजशक्ति के गर्व से भरा हुआ युवक है। वंशगत विरोध के कारण नागजाति के प्रति उसका हृदय विद्वेष से भर उठा है। गुरु , गुरुकुल के प्रति ममत्व रखता है। ये सभी चारित्रिक विशेषताएं शास्त्रीय औचित्य की सीमा को लांघकर दिखाई गई है। स्कन्दगुप्त के चरित्र में शौर्य, कष्टसहिष्णुता, त्याग , देश-प्रेम, संस्कृति-प्रेम आदि उदात्त भावनाओं के द्योतक हैं किन्तु मानव मन की निर्बलता रेखाओं को उभाड़ने में भी सतर्कता दिखाई गई है जिससे स्कंदगुप्त मानवीय धरातल का व्यक्ति दिखाई पड़ने लगा है। उसके निर्लिप्त हृदय की झलक उसके अशांत मानसिक स्थिति के समय स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय में.

अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशांति । केवल मेरे अस्तित्व से ? मालूम होता है कि सबकी, विश्वम्भर की शांति-रजनी में मैं ही धूमकेतु हूं, यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता । परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक एक कोने को छान डाला — कहीं भी कामना की वन्या नहीं । .... कोई भी मेरे अन्त:करण का आलिंगन करके न रो सकता है और न तो हंस सकता है । तब भी विजया .....? ओह ![1] यही दशा `चन्द्रगुप्त` नाटक के चन्द्रगुप्त के चरित्र विधान में पाई जाती है कि वह वीर, उदार आत्मबलिदान की क्षमता रखनेवाला, राष्ट्रभक्ति के भावों से ओतप्रोत है किन्तु अन्तर्संघर्षों और मानवीय भावों का आधिक्य सच्चे मानव के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित करता है । `ध्रुवस्वामिनी` का गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त भी उपर्युक्त नायक के गुणों से विभूषित है । अपनी उदात्त भावनाओं के कारण ही पिता द्वारा दिये गए उत्तराधिकार को बड़े भाई रामगुप्त को समर्पित करता है । ध्रुवस्वामिनी के प्रति अनुराग होने पर भी उसे बड़े भाई की इच्छानुसार त्याग करता है किन्तु विवेकबल से हृदय पर नियंत्रण रखते हुए भी ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास उपहार रूप में भेजे जाने की बात पर सक्रिय हो उठा । बुद्धि और भावुकता के आग्रह से वह इसका विरोध करता है और शकराज को मार कर ध्रुवस्वामिनी को उसकी अनुमति के अनुसार पत्नी रूप में स्वीकार करता है । उसका कथन`प्रारंभ से ही अपनी संपूर्ण भावना से प्यार किया है ।`[2] में उसकी मानवीय निर्बलता का परिचय मिलता है । ध्रुवस्वामिनी को आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होते देख क्षुब्ध हो उठता है । रामगुप्त उसकी उदारता का अनुचित लाभ उठाना चाहता है किन्तु परिस्थिति को बिगड़ते देख कर शीघ्र ही वह मौन भंग करके सक्रिय हो जाता है । अगर उसने स्वच्छन्द कदम न उठाया होता तो ध्रुवस्वामिनी का जीवन खिलौना बन जाता ।

---

१. जयशंकर प्रसाद :`चन्द्रगुप्त`, बारहवां संस्करण, सं० २०१३ वि०, भारतीय भंडार,इलाहाबाद, पृ० ८१

२. जयशंकरप्रसाद : `ध्रुवस्वामिनी` सोलहवां संस्करण, सं० २०१७, भारतीय भंडार, इलाहाबाद,पृ० ५५

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में प्रमुख पात्र अर्थात् नायक में आदर्श चरित्र के साथ मानव जीवन की साधारण और व्यापक भावनाओं का स्वाभाविक चित्रण पाया जाता है। प्रधान पात्र प्राय: क्षमा, दया, वीरता आदि उदात्त गुणों से युक्त हैं, हिंसा, क्रूरता के शत्रु हैं। इनके नाटक-रचना काल में अंग्रेजों को निकाल बाहर करने के लिए साम्प्रदायिक राष्ट्रीय एकता की बहुत आवश्यकता थी अत: प्रेमी ने मुस्लिम काल के ऐसे भाग को वस्तुविकास के लिए चुना जिससे हिन्दू-मुस्लिम प्रेम की अभिव्यक्ति हुई। चरित्रों पर गांधी वादी आदर्श तथा राष्ट्रीय आन्दोलन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ये प्रभाव स्वतंत्र चरित्र-चित्रण के उदाहरण हैं। 'शिवासाधना' के शिवाजी, के चरित्र में मुसलमानों के प्रति कोई द्वेष विद्यमान नहीं है। 'रक्षा बंधन' का हुमायूं गांधीवादी आदर्श पर चलने -वाला दिखाई पड़ता है।

कर्मवती की राखी पाकर हुमायूं का सहायता के लिए चल पड़ना बड़ी प्रचलित कथा है किन्तु स्वतंत्र चिन्तन के सहारे शिवाजी के चरित्र द्वारा हिन्दू-मुस्लिम भेद भाव दूर होते हैं और दो सम्प्रदायों के हृदय के मिलन में सहयोग देते हैं। 'स्वप्नभंग' के दारा में स्वच्छंदतावादी चरित्रों के होने पर भी आदर्श चरम सीमा पर पहुंच गया है।' प्रेमी के सभी नायकों में भावुकता तथा आदर्श-प्रेम की भावना पराकाष्ठा पर दिखाई पड़ती है। उन्होंने मानव सुलभ दुर्बलताओं का समावेश प्रमुख पात्रों में दिखाया परन्तु बहुत कम। मानवता, दया, उदारता में कहीं कहीं त्रुटि नहीं दिखाई पड़ती फिर भी नायक अतिमानवीय नहीं प्रतीत होते हैं क्योंकि उसके लिए नाटककार ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने में समर्थ हो सका है।' तिरिया तेल हम्मीर हठ चढ़े न दूजी बार'[१] नायक हम्मीर के मुख से प्रथम अंक में ही ललकार पूर्ण शब्दों में सुनते हैं और अन्त तक इसी हठ का पालन पाते हैं जो स्वाभाविक दिखाई पड़ता है क्योंकि हम्मीर हठ लोक प्रसिद्ध है। हमारे

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी :'आहुति', कारत्मा सं०, १९४५, हिन्दी भवन जालंधर, और इलाहाबाद, पृ० २८

हम्मीर ने जिस आदर्श का पालन किया है, वह मानवीय ही है।

प्रेमी के सामाजिक नाटकों के प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण भी विलक्षण आदर्श को लेकर चलता है। 'बंधन' का प्रकाश मानवता को विस्मृत करने के लिए शराब पीता है क्योंकि होश में रह कर वह पिता द्वारा शोषण का विरोध न करता मानव आदर्श का पतन समझता है। शिकारी, शरारती होने के साथ साथ वह मानवता की पुकार पर दौड़ पड़ता है। पूंजीवाद के विरुद्ध और मजदूरों का सहायक होना उसकी मानवता के द्योतक हैं। भट्ट जी का नायक दाहर नीति, धर्म, उदारता, दया, मानवता त्याग आदि गुणों के होते हुए भी अतिमानवीय सीमा पर नहीं पहुंचा। शास्त्रीय पद्धति पर धीरोदात्त नायक का रूप देना अभीष्ट होता तो नाटककार कभी दाहर की मृत्यु नहीं दिखाता। दाहर ने ऊंच नीच का भेदभाव मिटा दिया, साथ ही उसकी नीतिमत्ता का उदाहरण उसके कथन में मिलता है — हमारे शास्त्र में दूत अवध्य है। इसीलिए हमने तेरी दुष्टता भरी बातें शांति से सुनी हैं।[१] भट्ट जी के ऐतिहासिक, पौराणिक पात्रों को तत्कालीन उलझनों को वर्तमान के दृष्टिकोण से सुलझाते हुए पाते हैं फिर भी नाटककार की कुशलता तथा विषय एवं पात्र के उचित चुनाव के कारण तत्कालीन वातावरण की सृष्टि में कोई अभाव नहीं है। सामाजिक पात्रों में जीवनगत चढ़ाव, उतार, मानवीय दुर्बलता के फलस्वरूप अन्तर्द्वन्द्व आदि मिलते हैं, ऐतिहासिक पौराणिक पात्रों में भी परम्परा के प्रति उनका विद्रोही स्वर मुखरित हो उठा है। 'अंबा' के नायक शाल्व नहीं भीष्म कहे जा सकते हैं। वस्तुत: वह नायिका प्रधान नाटक है। पात्र की सक्रियता की दृष्टि से भीष्म को पुरुष पात्रों में प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। भीष्म के चरित्र में मानवोचित मानसिक चिन्ताएं चित्रित करके शास्त्रीय धीरोदात्त चरित्र होने से नायक को बचा लिया है। अपनी भूलों पर अन्तिम अवस्था में जब विश्लेषण करने पर प्रतिक्षण बढ़ती हुई उद्विग्नता उनके क्षोभ को प्रदर्शित करती है। 'मुक्तिदूत' का नायक सिद्धार्थ भी मानवीय गुणों से सम्पन्न आदर्श व्यक्ति है। भट्ट जी के सभी प्रमुख पात्रों में चरित्र विधान मानवीय आग्रह के आधार पर हुआ है। इसी प्रकार गोविन्दवल्लभ पंत

---

१. उदयशंकर भट्ट : 'दाहर या सिंध पतन', द्वि०सं०, १९३६, पृ० ३५

का अवीक्षित स्वाभिमानी किन्तु उदारमना नायक है।[१] उसके विचारों में उतार चढ़ाव स्वभाव में क्रोध आदि का समावेश उसकी अपनी वैयक्तिकता प्रकट करता है। छिपकर वैशालिनी के उपवन में प्रेम का प्रतिदान पाने की अभिलाषा में पहुंच जाना सामान्य व्यक्ति की दुर्बलता का द्योतक है। वैशालिनी द्वारा तिरस्कृत होकर वह पुनः राजकुमारी के बहुत सेवा शुश्रूषा करने पर भी उसका प्रतिशोध भाव समाप्त नहीं करता है। राजकुमारी की क्षमा-याचना को वह अस्वीकार कर देता है। संयोगवश ही एक दिन वन में अवीक्षित द्वारा वैशालिनी की रक्षा होती है और मानव-संवेग के फलस्वरूप प्रार्थना स्वीकार करके सूखी वरमाला वैशालिनी के हाथों से पहनता है। नायक के चरित्र की दृष्टि में नाटककार ने स्वाभाविकता का पूर्ण ध्यान रखा है। शास्त्रीय परंपरा में नायक को सीमाबद्ध नहीं होना पड़ा है।

'अन्तःपुर का छिद्र' में उदयन को संगीत प्रेमी, वीणा से विशेष प्रीति रखनेवाला, विलासप्रिय देखकर हम शीघ्र ही धीर ललित नायक की कोटि में रखने की चेष्टा करने लगते हैं किन्तु शास्त्रीय दृष्टि के 'धीर' शब्द हटाकर 'ललित' को रहने दिया जाय तो भी कुछ ठीक है यही पात्र धीर ललित नायक के रूप में संस्कृत नाटकों में आ चुका है। यहां भी दो पत्नियों का पति है किन्तु पन्त जी ने जैसा सहज स्वाभाविक मानवीय जीवन के उतार-चढ़ाव से युक्त चरित्र-चित्रण किया है, वह शास्त्रीय पद्धति से परे है। मागंधिमी द्वारा बोए गए ईर्ष्या बीज के कारण शंकालु होकर तब तक उदयन अपना व्यवहार पद्मावती से ठीक नहीं रखता जब तक राज नहीं खुलता है। राज खुलते ही अपनी भूल स्वीकार करके पश्चा-ताप करता है। पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार इन नाटकों में पात्रों का चरित्र चित्रित नहीं होता है जैसा प्राचीन नाटकों में हुआ करता था वरन् नायक का व्यवहार सर्वसाधारण के समान स्वाभाविक रीति पर दिखाया गया है। सामाजिक नाटकों के नायकों का चरित्र चित्रण भी प्रायः यथार्थ को ध्यान में रख कर किया गया। 'अंगूर की बेटी' का नायक शराबी मोहनदास पत्नी तथा को बर्बाद कर डालता है किन्तु उसके चरित्र में परिवर्तन आकस्मिक रूप में न दिखाकर धीरे धीरे

१_ गोविन्दवल्लभ पन्त : 'वरमाला', षष्ठमावृत्ति, १९५६

परिस्थिति तथा पत्नी की कुशलता के फलस्वरूप दिखाया गया है। जिससे उसका चरित्र-सुधार स्वाभाविक दिखाई पड़ने लगता है। वस्तुत: भट्टजी तथा पन्त जी के स्त्री पात्रों का अधिक विकसित चरित्र उनके नाटकों में मिलता है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि द्वारा उन्हें मानव भावभूमि पर ला खड़ा किया है तथा मुख्यतया पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने के लिए मूक अभिनय का सहारा लिया है। प्राय: वर्तमानयुगीन नाटककारों द्वारा प्रत्येक पात्र की परिस्थिति को सहानुभूति की दृष्टि से देखने का सफल प्रयास पाया जाता है। मिश्र जी के सभी पात्र मानवीय संवेदनाओं से युक्त हैं जिससे पात्रों के साथ दर्शकों का रागात्मक संबंध नहीं स्थापित हो पाया है किन्तु पात्र इससे दूर भी नहीं दिखाई पड़ते क्योंकि नाटककार अब चरित्र को विचार द्वारा समझाने का प्रयत्न करते हैं। यहां तक कि दुष्ट पात्रों से भी हमारी सहानुभूति होने लगी। उनकी दुष्टता के कारणों को ढूंढते हुए कभी समाज को उत्तरदायी ठहराया गया कभी परिस्थितियां उत्तरदायी रहीं। मिश्र जी के नाटकों में पात्र संख्या बहुत कम है। उन्होंने एक एक साथ अधिक पात्रों को अपनी समस्या सुलझाने के लिए उपस्थित नहीं किया 'राजयोग' में राजकुमार मधुसूदन सिंह का स्वार्थी विचार एवं प्रकृति उसके हृदय पर शासन करते हैं अत: वह भीरु और दुर्बल व्यक्ति के रूप में चित्रित हुआ है। इसमें कुल पांच पात्र हैं। पांचों की अलग अलग समस्याएं हैं। योगी के वेश में नरेन्द्र द्वारा गजराज सिंह का गुप्त रहस्य अनावृत कर दिया जाता है। एक ग्रन्थि खुल जाने से अन्य पात्रों की समस्याएं भी बुद्धि और विश्लेषण के द्वारा सुलझा दी जाती हैं जितनी सरलता से यह कार्य सम्पन्न कर दिया गया है, शायद व्यावहारिक जीवन में ऐसा न हो सके। फिर भी परिस्थिति की उलझन के कारण गजराज सिंह, रघुवंश सिंह और मि मधुसूदन सिंह के मन में तीव्र संघर्ष चरित्र का बड़ा स्वाभाविक चित्र उपस्थित करता है। सभी पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व की तीव्रता के कारण नाटकीय स्थिति तथा चरित्रचित्रण बहुत सफल हो पाया है। 'मुक्ति का रहस्य' में उमाशंकर के चरित्र में असाधारणता के दर्शन होते हैं। प्रारम्भ से ही उसे निष्कपट, सच्चरित्र, त्यागी आदर्श चरित्रवाला चित्रित किया गया है किन्तु आशा देवी के मुख से डाक्टर को जीवन साथी बनाने का फैसला सुनकर उमाशंकर की कारुणिक स्थिति उसके चरित्र की मानवीय दुर्बलता का परिचय देती है। आशादेवी ने उमाशंकर के प्रेम में एकाधिकार स्थापित करने के

लिए उसकी पत्नी को विष देकर मार डाला किन्तु उमाशंकर की ओर से प्रेम के प्रतिदान का कोई संकेत नहीं मिला । अंतर्मुखी प्रवृत्ति का उदाहरण उमाशंकर के चरित्र में अच्छीतरह मिलता है । दूसरी बात यह है कि नाटककार उमाशंकर के प्रेम को अध्यात्म सीमा पर स्पर्श करता हुआ बताया है जिसकी सामान्य मानव उपेक्षा करता है । मानव डाक्टर के पास मानवीय प्रवृत्तिवाली आशादेवी चली जाती है, देवता उमाशंकर को छोड़ कर । उमाशंकर से पाठकों को प्रारम्भ से ही सहानुभूति होती है । व्यावहारिक दृष्टि से अस्वाभाविक प्रतीत होता है किन्तु ऐसे पात्र का समाज में होना असंभव नहीं है । मिश्र जी के पात्र अधिक अंश में बौद्धिक हैं । 'सिन्दूर की होली' में पुरुष पात्रों में मनोजशंकर के चरित्र का उद्घाटन बौद्धिक तर्क वितर्क के आधार पर ही हुआ है । बौद्धिकता के कारण तर्क को अधिक प्रश्रय मिला है किन्तु क्रियाशीलता के द्वारा चरित्र चित्रण में योग-दान का अभाव है । मूक अभिनय तथा संवादों के साथ सात्त्विक अभिनय के द्वारा चरित्र पर प्रकाश डाला गया है । अन्तर्द्वन्द्व सभी पात्रों में पाया जाता है । अस्वाभाविकता से रक्षा करने के लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैय्यार की गई है । मुरारीलाल में वर्ग-प्रतिनिधि चरित्र का सुन्दर, मनोवैज्ञानिक चित्रण पाया जाता है । धन का आकर्षण तथा दया की भावनाओं का द्वन्द्व द्रष्टव्य है । लोभ की पाशविक वृत्ति ने प्रथम हत्या कराई जिसके प्रायश्चित्त स्वरूप मनोजशंकर को उच्च-शिक्षा दिलाकर दामाद बनाने की ठानी । दूसरी बार पुनः मनोज के विलायत जाने के खर्च को लेकर लोभ वृत्ति जाग्रत हुई । राय साहब को कानून की शक्ति से बचाने में समर्थ था किन्तु निरपराध रजनीकान्त मारा जा चुका होगा, जान-कर मानवीय रूप तीव्र हो उठा किन्तु अब क्या हो सकता था । अब रायसाहब जैसे हत्यारे से चालीस हजार लेकर उसे दण्ड देने की बात सोचकर सन्तोष कर लिया तथा अस्पताल में कहीं रजनीकांत के बच जाने पर रायसाहब को रुपये लौटा देने की बात से अपना अपराध अपने मन से कम कर लेने के लिए सोच ली । किन्तु तब तो हत्या हो चुकी थी । दैवी और दानवी वृत्ति का द्वन्द्व मुरारीलाल के चरित्र में बहुत सफल रूप में चित्रित हुआ है । व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त होने के कारण चन्द्रकली और हरनन्दन सिंह का चरित्र चित्रण अन्तर्द्वन्द्व और व्यावहारिकता के सहारे सफल सिद्ध हुआ है । मिश्र जी के नाटकों में नायक को

अलग कर पाना कठिन है । नायक की दृष्टि से इनके नाटक नहीं लिखे गए । समस्याओं के समाधान हेतु पात्रों का सृजन किया अतः नायक के पीछे चिन्तित रहना बेकार श्रम करना है । मिश्र जी के पात्र कुछ तो तर्क के साथ सक्रिय हैं और कुछ बिलकुल ही निष्क्रिय । 'राक्षस का मन्दिर' में रघुनाथ सुस्त है । तीसरे अंक में उसका अंतर्द्वन्द्व राक्षस मुनीश्वर के विरुद्ध उत्साहित होकर थोड़ी सक्रियता लाता है किन्तु फिर शान्त हो जाता है । मुनीश्वर सक्रिय है । समाज में प्रतिष्ठा तथा धन प्राप्त करने के लिए वेश्या औरतों के लिए आश्रम खोलता है । स्वर्ग-नरक नहीं मानता है । वेश्यासुधार के नाम पर स्वयं अनाचार करता है । वह कहता है कि "ईश्वर निर्बलों के लिए है जो अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकते, ईश्वर के सहारे खड़े होते हैं ।"[1] रामलाल को सुरा और सुन्दरी से आगे कोई दूसरी चिन्ता नहीं । संयम, त्याग, उदारता, विचार स्वातंत्र्य भी इसके चरित्र के गुण हैं परन्तु उन्हें समाज की ओर ध्यान नहीं देना है । वह स्वयं में मस्त है । अपने संरक्षण में होने वाले पाप का भी ज्ञान नहीं है किन्तु इनके सभी पात्र पश्चाताप की अग्नि में तपकर शुद्ध हो जाते हैं । रामलाल भी रघुनाथ तथा अस्करी के प्रति किए गए व्यवहार के लिए पश्चाताप करके शुद्ध हो जाता है । सभी पात्रों में बुराई के साथ सत्-प्रवृत्ति भी दिखाई गई है । रघुनाथ के कथन उसके चरित्र की अभिव्यक्ति करते हैं — "मैं जो कुछ करता हूँ, विवश होकर । जैसे और लोग सोच विचार कर सब तरह से दूर तक सब कुछ देखकर करते हैं ...... वह मुझे नहीं आता[2]।" मिश्र जी ने भूमिका में संकेत भी किया है कि "हमारी कमजोरियाँ हमें जिधर चाहती हैं घुमा देती हैं, हम साहस के साथ खड़े नहीं होते ...... पग पग पर हमें भय का सन्देह का, सुख दुःख का दुर्लभ्य पर्वत देख पड़ता है ।"[3] आदि ।

सेठ गोविन्ददास के नाटक शिल्प की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं । उन्होंने प्रमुख पात्रों के नाम पर ही अपने अधिकांश नाटकों का नामकरण किया है ।

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र : "राक्षस का मन्दिर", तृतीय सं०, १९५८ ई०, हि०प्र०पु०, वाराणसी, पृ० ८८

२. वही, पृ० १०५

३. वही, पृ० ९

वाह्य तथा आन्तरिक संघर्ष चरित्र चित्रण का प्रमुख आधार है। ऐतिहासिक पात्रों में बाह्य संघर्ष की प्रधानता है किन्तु अन्तर्संघर्ष भी कम नहीं है। कर्ण के चरित्र को ऐसी मनोवैज्ञानिक रीति से चित्रित किया गया है कि एक ओर वह महान उदार तथा उच्च चरित्र के रूप में कवच कुण्डल तक दान दे देता है और दूसरी ओर हीन भावना से आवृत होकर पाण्डवों के विरुद्ध षड्यन्त्र करता है। हीन भाव का कारण है कि कुन्ती ने विवाह के पूर्व पैदा होते ही कर्ण को त्याग दिया जिसे सूत अधिरथ ने पाला। सूत शूद्र पुत्र होने के कारण समाज ने यथोचित सम्मान नहीं दिया और कर्ण वैध पुत्र पाण्डवों से ईर्ष्या करने लगा। सेठ जी के राजनीतिक, सामाजिक नाटकों के पात्रों का चरित्र भी कहे स्वाभाविक रूप में चित्रित हुआ है जो सत्-असत् दोनों प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करते हैं। `नैवापथ` का श्रीनिवास, शक्तिपाल `गरीबी और अमीरी` का लक्ष्मीदास, `प्रकाश` का दामोदरदास आदि। प्राय: सभी नाटकों का चरित्र विकास परिस्थितियों तथा बाह्य द्वन्द्व के मध्य हुआ है। सेठ जी के प्राय सभी नायक धनी वर्ग के हैं और जो आरम्भ में नहीं हैं, उन्हें अन्त तक बनाने का प्रयत्न हुआ है जैसे `विश्व प्रेम` का मोहन शूरसेन नामक जमींदार के यहां पला हुआ युवक है जिसे वह घर से निकाल देता है और परिस्थिति के अनुसार विचारों में परिवर्तन होकर अपना सम्पूर्ण धन देने को तत्पर होता है, उधर शरण देने वाले रूपसेन ने अपना सब धन दे दिया किन्तु वह किसी को स्वीकार नहीं करता है और विश्वप्रेम का बीड़ा लेकर चल पड़ता है। यहां चरित्र आदर्श है किन्तु अमानवीय नहीं है, अव्यावहारिक अवश्य है। आलोचकों ने कर्तव्य के राम और कृष्ण को धीरोदात्त तथा धीर ललित नायक कहा है दोनों में कर्तव्य परायणता का आदर्श है किन्तु उन्हें श्रेष्ठ मानव के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। राम का चरित्र अन्तर्द्वन्द्वों से भरा है जैसा सामान्य मानव करता है। कृष्ण सदैव समझकर परिस्थिति के अनुसार कार्य करने वाले हैं। राम और कृष्ण दोनों चरित्रों का निर्माण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हुआ है। राम कर्तव्य और मर्यादा के सामाजिक बंधन में निरन्तर संघर्ष करते हुए चल रहे हैं और कृष्ण स्वतंत्र दृष्टि से समस्याओं में कर्तव्य का निर्धारण, पिष्टपेषित पुरानी निकृष्ट मर्यादा को तोड़कर करते हैं। कृष्ण मानव मात्र के वृहत्तर कल्याण के लिए -

वह युद्ध से पलायन करते हैं, नारी हरण करते हैं तथा अपनी बहिन का भी हरण हरा कराते हैं, राधा जैसी प्रियतमा को एकदम भुला देते हैं। छल से महाभारत में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि का बध कराते हैं। राम और कृष्ण दोनों ही मनुष्य के रूप में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। कृष्ण कूटनीतिज्ञ के रूप में वर्णित हैं। नाटककार ने इनके चरित्र निर्माण में बहुत कुशलता दिखाई है।

हिन्दी नाटक साहित्य में ऐसे पात्र भी देखने को मिलते हैं जो अपने ढंग के बिल्कुल नए हैं। माधव सौंदर्य और कला का उपासक है। भावनाओं के प्रवाह में बहकर सम्पूर्ण वैभव का परित्याग करता है। नगर सेठ होकर भी धन का त्याग करने में संकोच नहीं करता। इसका चरित्र रहस्यपूर्ण चित्रित हुआ है। वह स्वर्ण रसायन का प्रयोग करता है। उसका ग्रन्थ उसकी गतिशीलता एवं विकासोन्मुखता का परिचायक है।[१] 'राखी की लाज' में एक डाकू में भी सत् व प्रवृत्ति का दृढ़ चरित्र वर्णित है जो चम्पा द्वारा राखी बांधे जाने पर उसके यहाँ डाका पड़ने पर उसकी रक्षा करता है। वर्मा जी ने ऐसे पात्रों की सृष्टि 'बांस की फांस' में गोकुल और फूलचन्द के चरित्र में की है जो क्रमशः पुनीता और मंदाकिनी को अपना रक्त देकर उनकी जान बचाते हैं। ये वही पात्र हैं जो आरम्भ में रेलवे प्लेटफार्म पर आंख मारने के उपलक्ष में पुनीता द्वारा अनेकों गालियाँ सुनते हैं। अश्क ने भी प्रथम नाटक 'जय पराजय' की रचना सामन्ती व्यक्तियों के चरित्र चित्रण के रूप में किया। तत्पश्चात् सभी नाटकों में सामाजिक भूमिका पर मध्यवर्गीय तथा साधारण जीवन के चरित्रों को उपस्थित किया गया। पात्र संख्या कम रही। यथार्थ का अंकन विविध चरित्रों में हुआ। अश्क के पात्रों का चरित्र चित्रण सामाजिक नाटकों में यथार्थता तथा स्वाभाविकता को स्पर्श कर रहा है। चरित्र चित्रण में अश्क को बहुत सफलता प्राप्त हुई है। उन्होंने 'छठा बेटा' में पिता, माता, पुत्र, पति, पत्नी का बड़ा अच्छा चित्र उपस्थित किया तथा 'स्वर्ग की झलक' में आधुनिक पढ़ी लिखी पत्नियों के पढ़े लिखे पति की दुर्दशा का अच्छा व्यंग्य चित्र प्रस्तुत किया।

---

१. वृन्दावन लाल वर्मा : 'फूलों की बोली', प्रथमावृत्ति, १९४७ ई०, मयूर, प्रकाशन, झांसी।

हिन्दी नाटकों में प्रतिनायक—

भारतेन्दु जी के `सत्यहरिश्चन्द्र` नाटक में विश्वामित्र प्रतिनायक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। प्रथम अंक के अंत में इन्द्र के मुख से राजा हरिश्चन्द्र की नारद के द्वारा प्रशंसा के दोहराये जाने पर विश्वामित्र उत्तेजित होकर हरिश्चन्द्र के तेज, तप और सत्यव्रत को भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। और अन्त में हरिश्चन्द्र की राह में रोड़ा बन कर खड़े हो जाते हैं किन्तु अन्त तक नायक को सफलता मिलती है और प्रतिनायक विश्वामित्र नायक से क्षमा माँगते हैं। नायक हरिश्चन्द्र के शत्रु प्रतिनायक विश्वामित्र धीरोद्धत, घमण्डी के रूप में चित्रित किए गए हैं। भारतेन्दु जी के `नीलदेवी` में नायक राजा सूर्यदेव के जीवन में संघर्ष तथा घात-प्रतिघात पैदा करने वाला प्रतिनायक अमीर अब्दुश्शरीफ है। वह धीरोद्धत, घमण्डी, लोभी, पापी व्यसनी है। राधाचरण गोस्वामी के `अमर सिंह राठौर`[१] में प्रतिनायक सलावतखाँ नायक के कार्यों में विघ्न डालने वाला हुआ है। वामनाचार्य गिरि के`वारिदनादवध व्यायोग`[२] का प्रतिनायक वारिदनाद नायक लक्ष्मण के कार्यों में विघ्न डालने वाला समान रूप से वीर है। दोनों राजघराने के हैं। स्त्री के लिए युद्ध हुआ है, इसका संकेत नहीं मिलता। बद्रीनाथ भट्ट के`कुरुवनदहन` में दुर्योधन घमण्डी, बेईमान आदि प्रतिनायक के दुर्गुणों से युक्त है। पाण्डवों को धरती का एक इंच भी नहीं देना चाहता। कथावस्तु में घात-प्रतिघात उत्पन्न करने के लिए तथा नाटक को विकसित करने के लिए प्राय: नाटकों में प्रतिनायक अनिवार्यत: आ जाते हैं परन्तु ऐसे नाटकों का भी अभाव नहीं है जिनमें प्रतिनायक बिल्कुल ही न हों। भारतेन्दु जी का `सती प्रताप` प्रतिनायक से रहित है किन्तु इसमें किसी पात्र का चरित्र विकसित नहीं हो पाया है क्योंकि घात-प्रतिघात का बहुत कम अवसर मिला है। भारतेन्दु जी इसे अपूर्ण छोड़ गए थे जिसे बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया अत: वह स्वाभाविकता नहीं आ पाई है।

प्रतिनायक, नायक के समान धन, बल वाला अधिकांशत: होता है

---

१. राधाचरण गोस्वामी : अमरसिंह राठौर, प्र०सं०, १८९५,
२. वामनाचार्य गिरि :`वारिदनादवध व्यायोग`, १८[illegible] ई०

किन्तु हिन्दी नाटक साहित्य में धृष्टबुद्धि जैसा चन्द्रहास का विरोधी भी पाया जाता है जो चन्द्रहास के पिता तुल्य है किन्तु चन्द्रहास की हत्या के लिए निम्नतम स्तर पर उतर आता है। वह क्यों ऐसा कर रहा है, उसके कथन से पता चलेगा—

"हां, तो चन्द्रहास मेरी सम्पत्ति — कुल सम्पत्ति का अधिकारी होगा ? और मेरी सन्तान ? फिर उसके लिए क्या है ? परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। इस जन्म में तो मैं ऐसा होने न दूंगा।

< < <

पर सन्देह के अंकुर को उखाड़ डालना ही अच्छा होता है क्योंकि आज जो अंकुर है, वही एक दिन विशाल पुष्ट कहलाता वृक्ष हो सकता है।"[1]

चन्द्रहास धृष्टबुद्धि के इस विचार को नहीं समझता है क्योंकि वह किसी के सामने इसका प्रदर्शन नहीं होने देता है। चन्द्रहास का अनिष्ट मृत्यु रूप में करने के लिए वह छिपकर अनेक प्रयत्न करता है किन्तु नियति इतनी बलशाली है कि सदैव बाल-बाल बच जाता है। वह प्रतिनायक की शास्त्रीय पद्धति के अनुसार निर्मित नहीं हुआ है परन्तु कथा में आरम्भ से अन्त तक जटिलता पैदा करने वाला है। हिन्दी नाटकों में वस्तुतः प्रतिनायक का शास्त्रीय रूप के अनुसार समावेश नहीं हुआ है परन्तु कथा को रुचिकर तथा गतिशील बनाने के लिए इनका निर्माण किया गया है। पाप पुण्य की, बुराई अच्छाई की, कालिमा धवलता की कसौटी है, उसी प्रकार प्रतिनायक नायक का प्रतिद्वन्द्वी होते हुए कसौटी का कार्य करता है। 'प्रसाद' के 'स्कन्द गुप्त' में किसको प्रतिनायक कहा जाय। पुरगुप्त अपनी मां अनन्तदेवी और महात्वाकांक्षी भटार्क के हाथों का पूर्णरूप से खिलौना है। उसका चरित्र स्वतंत्र रूप से नहीं खिल पाया है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिनायक का रूप इसमें बिल्कुल ही नहीं दिखाई देता। इसमें प्रमुख कथा आर्यावर्त पर हूणों के आक्रमण से उत्पन्न संघर्ष की है जिसके लिए स्कन्दगुप्त तथा उसके सहयोगी प्राणपण

---

1. मैथिलीशरण गुप्त : 'चन्द्रहास', तृतीयावृत्ति, सं० १९८०, पृ० ११-१२

से संघर्ष करते हैं और उसके विरोधी विमाता अनन्त देवी की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए स्कंदगुप्त की राह में रोड़ बनकर आते हैं। भटार्क अनन्तदेवी तथा शर्वनाग के षड्यंत्र से स्कंदगुप्त को अनेक कष्ट तीव्र रूप में उठने पड़ते हैं फिर भी भटार्क , अनन्तदेवी क्रमश: तीव्र प्रतिशोध तथा महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर ऐसा करते हैं , प्रतिनायक का रूप किसी में दर्शनीय नहीं है। शत्रुओं, षड्यन्त्रकारियों के कारण स्कंद के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने में सहायता मिली है। पुरगुप्त को खिलौना बनाकर अनन्तदेवी का षड्यन्त्र गृह-कलह के अन्तर्गत होता है। हूणराज प्रतिनायक हो सकता था किन्तु उसका तो स्पष्ट स्वरूप ही कहीं नहीं दिखाई पड़ता है। भटार्क को बहुत धन देकर अपनी ओर मिला लिया है। हूण सेना अवश्य लड़ती दिखाई पड़ती है। `चन्द्रगुप्त` में सिकन्दर भारत-विजय की आकांक्षा लेकर चढ़ाई करता है। यहीं पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त की चढ़ाई में पर्वतेश्वर सिकन्दर से युद्ध करता है। चन्द्रगुप्त पुरुषार्थ में अग्रणी सिद्ध होकर नायकत्व प्राप्त करता है किन्तु जहां तक प्रतिनायक का संबंध है निर्णय नहीं हो पाता है। चन्द्रगुप्त का विशेष रूप से विरोधी न सिकन्दर है और न सिल्यूकस। प्रतिनायक के सम्बन्ध में प्रसाद के अन्य नाटकों में भी यही स्थिति है। प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिकोण से युक्त प्रतिनायक का चित्रण कहीं भी नहीं हुआ है। `राज्यश्री` में राज्यश्री के सौंदर्य के कारण अनेक भयंकर विपत्तियां आती है। संघर्ष में ग्रहवर्मा, राज्यवर्द्धन मार डाले जाते हैं। हर्ष बचता है तो बौद्ध सन्यासी बन जाता है। अत: यहां भी नायक के कार्यों में बाधक बन कर प्रतिनायक कहीं नहीं आया है।

प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों को ही ले लें जिनमें मार-काट , हत्या वध का साम्राज्य छाया हुआ है। दो विरोधी दलों में ही ये संघर्ष होते हैं। प्रमुख सत्पात्र नायक और प्रमुख असत्पात्र प्रतिनायक कहला सकते हैं जैसे - `शिवा-साधना` का औरंगजेब, `आहुति` का अलाउद्दीन। प्रेमी के `विषपान` में मान-सिंह प्रतिनायक का कार्य करता है। वस्तुत: इसकी कथा विषपान की प्रमुख घटना को लेकर लिखी गई है। नायक, प्रतिनायक के महत्त्व पर विशेष ध्यान नहीं है जैसा संस्कृत नाटकों में पाया जाता है। `मित्र` नाटक में अलाउद्दीन के पुत्र महबूब और जैसलमेर के महारावल के छोटे भाई रत्न सिंह की मित्रतामुखता दी गई है

किन्तु हम परम्परागत रुचि के अनुसार महारावल को नायक और अलाउद्दीन को प्रतिनायक मान बैठते हैं। `रक्षा बंधन` में कर्मवती की राखी स्वीकार करके उसकी तथा उसके राज्य की रक्षा में बहादुरशाह के विरुद्ध लड़ने वाला हुमायूं नायक है। प्रथमत: विक्रमादित्य का शत्रु, फिर सहायता के लिए आए हुए हुमायूं का शत्रु जो कभी एक का, कभी दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी है, किसी नायक प्रतिद्वन्द्वी तो नहीं हुआ अत: प्रतिनायक की सीमित दृष्टि से हम क्यों विचार करें जैसा कि संस्कृत नाटकों में हुआ है। इसी प्रकार सेठ जी के `कर्तव्य` में राम और कृष्ण का क्रमश: चरित्र चित्रण किया गया है। द्वितीय अंक में रावण सीता को चुराकर ले जाता है और तृतीय अंक में रावण का वध हो जाता है। प्रथम, चतुर्थ और पंचम में रावण का कहीं पता नहीं है। बालिवध, शम्बूक वध आदि के द्वारा राम के अन्तर्द्वन्द्वमय चरित्र का चित्रण किया गया है। प्रतिनायकत्व को ध्यान में रखकर रावण के चरित्र की सृष्टि नहीं हुई है। कृष्ण के सम्बन्ध में भी यही बातें चरितार्थ होती है। इसमें कोई विशेष व्यक्ति प्रतिनायक के रूप में चित्रित नहीं हुआ है। दूसरे नाटक `कुलीनता` में ऐतिहासिक कथा को लेकर कुलीन अकुलीन के मानव निर्मित भेदभाव पर प्रहार है। प्रतिनायक की आशा नहीं की जा सकती। ऐतिहासिक नाटकों में भी नाटककारों ने प्रतिनायक के शास्त्रीय रूप की सृष्टि नहीं की है क्योंकि अब नाटकों का उद्देश्य केवल युद्ध द्वारा किसी नायक का महत्व दिखाना नहीं रह गया। उदयशंकर भट्ट तथा अन्य नाटककारों के चरित्रांकन में प्रतिनायक की कहीं भी शास्त्रीय विधान नहीं किया गया है। सामाजिक समस्या प्रधान नाटकों में इनका कोई प्रयोजन ही नहीं है।

विदूषक--

भारत तथा यौरप में प्रारम्भ से ही विदूषक का बड़ा महत्त्व रहा है। वे विदूषक विनोदी, व्यंग्यवक्ता, विचित्र वेशभूषा वाले, उलटे पलटे कार्य करने वाले हुआ करते हैं। विदूषक के सम्बन्ध में भी सिद्धान्त पक्ष में विस्तृत रूप से विवेचन हो चुका है अत: पुन: दुहराना अनावश्यक है। भारतेन्दु-

युग के नाटकों में विदूषक के समावेश की प्रवृत्ति नहीं दृष्टिगोचर होती है। इस युग के नाटककारों ने हास्य व्यंग्य प्रस्तुत करने के लिए नाटकों से भिन्न स्वतंत्र रूप से प्रहसन लिखे जिनमें सामाजिक कुरीतियों पर व्यंग्य उपस्थित करने का सफल प्रयास दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु ने स्वयं `सत्यहरिश्चन्द्र` ,`नील देवी` आदि में विदूषकको नहीं स्थान दिया किन्तु `वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति` के विदूषक में प्राचीन नाट्य शास्त्रीय विदूषक परम्परा की गरिमा स्पष्ट विद्यमान है।[१] भारतेन्दु के उपरान्त एवं प्रसाद से पूर्व लिखे गए नाटकों में अधिकांश ऐतिहासिक नाटक हैं और प्राय: सभी में विदूषकों का विधान है। ये नाटक शैक्सपियर की मार-काट वाली शैली में लिखे गए रोमांचकारी दृश्य उपस्थित करने में समर्थ हैं। वियोगी हरि कृत` प्रबुद्ध यामुन` में मल्लिनाथ, बल्देवप्रसाद मिश्र कृत`शंकरदिग्विजय` में विदूषक, मैथिलीशरण गुप्त के `चन्द्रहास` में माधव नामक पात्रों ने विदूषक का कार्य किया है। `उर्वशी ` में तीसरे अंक के पांचवें दृश्य में रंगमंच पर विदूषक प्रथम बार आता है। उसकी सभी बातों में भोजन का संबंध जुड़ा हुआ है।`क्षुधा पीड़ित को किसी की बात अच्छी नहीं लगती मेरी तो तुर्दोष की दशा हो जाती है । वायु का वेग प्रलाप अधिकांश हो जाता है` तथा इसी में आगे कहता है " अपने पांडित्य में भले हींग की बघार दिये जायस में सब सुनता हूं।"[२]

उपर्युक्त विदूषक निर्भीक होकर राजा को राय देने, राजनीतिक उलझनों को सुलझाने में हास्य व्यंग्य तथा अन्य रीतियों को कार्य रूप में लाता है एवं गम्भीर कार्यों को सम्पन्न होने में भी सहायता देते हैं। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में विदूषक का प्रवेश साभिप्राय हुआ है। राजपरिवार का स्नेह भाजन समीपवर्ती होने के कारण यथा संभव स्वच्छंदतापूर्वक राजपरिवार सम्बन्धी घटनाओं परिस्थितियों एवं मनोवृत्तियों की आलोचना भी करते हैं। `प्रसाद` के विदूषकों

---

१. ब्रजरत्नदास :` भारतेन्दु नाटकावली` , द्वितीय भाग, द्वि०सं०, सं० २०१२, रा०ना०,इलाहाबाद, पृ० ८०

२. लक्ष्मीप्रसाद : `उर्वशी` , प्रथम संस्करण, १६१० ई० , पृ० ८१

में हास्य विनोद की मात्रा न्यून है। उनके प्राय: सभी नाटक गम्भीर परिस्थितियों से आवृत हैं अत: निश्चय ही हास्यविनोद का अधिक समावेश अस्वाभाविक होता तथा रस-विरोध की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती। वस्तु गम्भीर हो तो उच्छृं-खल दृश्यों का आधिक्य नीरसता पैदा करता है। 'अजातशत्रु' में वसन्तक एवं 'स्कंदगुप्त' में मुद्गल नामक विदूषकों की सृष्टि हुई है जो राजा के अंतरंग मित्र के रूप में विनोदपूर्ण व्यंग्यों के साथ चल रहे हैं। उन्होंने चन्द्रगुप्त 'कामना' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' में विदूषक का पूर्णतया बहिष्कार किया। 'अम्बा' नामक पौराणिक नाटक में विदूषक की योजना पाई जाती है। काशिराज तथा सौभ-राज के साथ विदूषक हास्य व्यंग्य करते हुए चलते हैं। इनको भोजन सम्बन्धी बातें करते हुए अधिक पाते हैं।[1] कहीं कहीं नाटककारों ने देशकाल का ध्यान नहीं रखा है और पौराणिक नाटकों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग विदूषक से कराया है। धर्मावतार माई बाप का प्रयोग अनेक बार करता है। वह कहता है — 'आनन्दित करता हूं महाराज लोगों को, रजिस्टर्ड करता हूं हास्य रस फनों को।'[2] तत्का-लीन विदूषक को अंग्रेजी बोलने का अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है जबकि वह उस समय के लोगों को हंसाने के प्रयत्न में रत दिखाया गया है। प्रसाद-युग के पश्चात् तो विदूषकों के दर्शन प्राय: नहीं ही होते हैं। सामाजिक, राजनीतिक समस्या नाटकों का आधिक्य होता गया और इन समस्याओं की उलझनों में विदूषकों को बिल्कुल ही विस्मृत कर दिया गया है।

'पाहर' में कंकुली नामक पात्र विदूषक बना है। बात को बतंगड़ बना देने की रुचि सर्वत्र चित्रित की गई है। सूर्य देवी और परमाल देवी उससे कुछ भी कहती हैं तो वह दार्शनिकता की ओर खींच ले जाता है या व्याकरण से उसका सम्बन्ध जोड़ने लगता है। एक भरणी को सूर्यदेवी पकड़ लेती है जिसके पास अरबी भाषा में लिखा एक पत्र है। विदूषक कंकुली इस भाषा का ज्ञाता है किन्तु पढ़ने

---

1. उदयशंकर भट्ट : "अंबा", प्रथमावृत्ति, १९३५ ई०, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर, पृ० ३, ४८

2. पं० कृपाशंकर मेहता : "कमला सुन्दरी", सं० [illegible], सं० १९७६, एस०एस०, मेहता एण्ड ब्रदर्स, काशी, पृ० २६

के लिए कहने पर उसकी बातें बकवादी किन्तु रुचिकर प्रतीत होती हैं —

"कंचुकी — यह संयुक्त क्रिया है और दो धातुओं से बनी है। एक पढ़ और दूसरी सक, सक से सामर्थ्य की प्रतीति होती है और पढ़ से पढ़ने की। तुम्हारा किससे आशय है, राजकुमारी ?

सूर्य० — (खीझकर) तेरे सिर, ले इसे पढ़।

पर० — (हंस कर) बड़ा ज्ञानी है।

कंचुकी — सिर, सिर से संसार की सभी क्रियाओं की उत्पत्ति होती है और विवेचना शक्तियों का आविष्कार सिर से ही हुआ है। राजकुमारी, इसे पढ़, यह वाक्य सार्वनामिक कर्ता का है। वाक्य की पूर्ति गति....... "।[१]

सूर्यदेवी के कान पकड़ने पर बकवाद बन्द करके पत्र पढ़ता है। कंचुकी बहुत डरपोक है। सिंह की आवाज से डर कर वृक्ष की जड़ में छिपकर बैठ जाता है।[२] अपनी ऊटपटांग किन्तु सत्यवादिता से पात्रों में हंसी की सृष्टि करता है। बात की बात में बड़ी बुद्धिमानी और दार्शनिकतापूर्ण बात करता है।

" विश्वास और होनहार दो वस्तुएं हैं। संसार ने भूलकर दोनों को एक समझ लिया है। शायद निराशा की पैदायश इनके बेजोड़ मेल से होती है (अभियुक्त की ओर घूरकर) समझे मियां, क्यों[३]।"

* * *

" आम के वृक्ष पर बैठ कर मैना जब मैं ना मैं ना करती है तब उसका आशय यही है कि उस वृक्ष के सामने वह कुछ भी नहीं है।"[४]

ज्ञानहृद (गौड़-देश का सेनापति) के साथ [illegible] नामक व्यक्ति का चरित्र भी विदू-

---

१. उदयशंकर भट्ट : "दाहर", सिन्ध०, सन् १९३४, पृ० ३०
२. वही, पृ० ४८
३. वही, पृ० ४२
४. वही, पृ० ५८

अक के समान हँसाने वाला, बात को बतंगड़ बना देने वाला है।

<u>अनावश्यक पात्र</u>—

हिन्दी नाटक साहित्य में कुछ ऐसे पात्र भी देखने को मिलते हैं जिनके नाटक में प्रवेश करने से नाटक का सारा कुतूहल क्षणमात्र में समाप्त हो जाता है। प्रारम्भ में ही अन्त की सूचना मिल जाती है। गुप्त जी की 'नियति' प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में प्रवेश करके दो पृष्ठों में लम्बा चौड़ा भाषण अपने चरित्र के गुणगान में करती है और कथा में उत्सुकता की हत्या कर देती है —

> रे धृष्ट बुद्धि! बल है सब व्यर्थ तेरा,
> श्री चन्द्रहास पर है जब हाथ मेरा।।[१]

धृष्टबुद्धि के चन्द्रहास के प्रति किये गए कुकृत्य को देखकर दर्शक फल के लिए जिज्ञासु रहता किन्तु नियति के कथन से उसे फल मस्तिष्क में दिखाई पड़ता रहता है कि चन्द्रहास का कुछ नहीं बिगड़ेगा। उससे भी विचित्र यह है कि कि गुप्त जी ने फुटनोट में नियति का प्रवेश सर्वत्र अदृश्य भाव से कराने का संकेत किया है, उसे केवल दर्शक देख सकेंगे।[२] अर्थात् नियति का आना रंगमंच पर दर्शक देखेंगे किन्तु रंग-मंच के अन्य पात्रों को उसकी उपस्थिति का ज्ञान नहीं रहेगा। यह बहुत ही अस्वा-भाविक है। नियति को हटाकर केवल घटनाओं के आधार पर ही कथा का निर्माण अधिक सफल होता। इस पात्र की योजना पूर्णतया अनावश्यक है। ऐसे ही भारतेन्दु जी ने 'नीलदेवी' में देवता की सृष्टि करके मूर्च्छित महाराज सूर्यदेव के सम्मुख लावनी राग में भारत के सुख-सूरज के स्वप्न में भी उदय न होने की बात की है तथा भारत की आशा त्याग करने की राय दी है। सूर्यदेव ज्योंही सिर उठाकर उपर्युक्त बातों की घोषणा करने वाले को देखना चाहता है, देवता अदृश्य हो जाता है। पूरा दृश्य देवता के कथन तथा राजा के उन्हीं बातों को लेकर चिन्ता से समाप्त हो जाता है। देवता की अवतारणा पूर्णतया अनावश्यक

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : "चन्द्रहास", तृतीयावृत्ति, १९२३ ई०, पृ० १४
२. वही, पृ० १९

है[1]। "सतीप्रताप" में वनदेवी और वनदेवता की योजना निरर्थक है।[2] भारतेन्दु युग के नाटकों में इनका प्रयोग अधिक हुआ है।

अधिक संख्या में पात्रों का विधान प्रसाद, प्रेमी आदि प्राय: सभी नाटककारों के ऐतिहासिक नाटकों में पाया जाता है किन्तु इन कुशलनाटककारों ने सबका महत्त्व स्थापित कर दिया है। हिन्दी के परवर्ती नाटककारों में सीमित और अनावश्यक पात्रों को रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटकों में पात्र बहुत कम तथा गिने-चुने रखे गए हैं। अश्क भी इसी मार्ग के अनुगामी हैं।

<u>नारी पात्र</u> —

वर्तमान युग में नारी जागरण की अवस्था में सुधार हुआ है। राजनीतिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान महत्त्वाकांक्षा और साहस के साथ चल रही हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अतीत काल में ऐसी प्रकृति वाली स्त्रियों का अभाव था। अतीत को आधार बनाकर अनेक नाटक रचे गए जिनमें गर्वयुक्त वीर माताओं, युवतियों, पुत्रियों का त्यागमय चरित्र चित्रित हुआ है। हिन्दी नाटककारों ने अतीतकाल की क्षत्राणी नारियों में साहस का विशेष रूप से चित्रण किया है। हिन्दी नाटककारों ने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा वर्तमान सामाजिक जीवन से पात्रों का चयन करके उनका चरित्र चित्रण किया है जिनमें स्वभाव भेद से अनेक प्रकार के चरित्र दर्शकों के सम्मुख आते हैं। प्रारम्भ में हिन्दी में कुछ नाटक नायक नायिका को ध्यान में रखकर तथा उन्हें विशेष महत्व प्रदान करते हुए लिखे गए किन्तु परवर्ती नाटककारों में सामाजिक समस्याओं को लेकर चलने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। समस्या के समाधान में बौद्धिकता का विशेष आग्रह हुआ है किन्तु नायक नायिका का विशेष महत्त्व हो, यह अनिवार्य नहीं रहा।

---

1. व्रजरत्नदास : "भारतेन्दु नाटकावली", प्रथम भाग, वि०सं०, सं० २००८, रामना०, इलाहाबाद, साढ़ा मूल्य, पृ० ४४६-४७
2. वही, पृ० ३४८-४०१

यही बात आजकल के कुछ सामाजिक नाटकों में पाई गई है जिसकी चर्चा की जायेगी ।

हिन्दी में अनेक ऐसे नाटक प्राप्त होते हैं जिनमें चरित्र-चित्रण की प्रधानता होती है । उनका उद्देश्य ही चरित्र-चित्रण करना होता है । गंगाबाई के चरित्र में नवीन ढंग पर मानसिक बल के साथ साहस का समन्वय दिखाई पड़ता है ।[१] भारतेन्दु की "नीलदेवी" नायिका प्रधान नाटिका है । यद्यपि इसमें घटनाओं की प्रधानता है तथापि नायिका नीलदेवी की चारित्र सर्वाधिक विकसित हुआ है । इसका चरित्र चित्रण शास्त्रीय पद्धति पर नहीं हुआ है । नाट्यशास्त्र की दृष्टि से वह स्वकीया नायिका कही जा सकती है किन्तु लज्जाशीला इस तरह की नहीं है जैसी राम की सीता । नीलदेवी आधुनिक नारी के समान अवसर पड़ने पर लज्जा को त्यागनेवाली तथा कामी, लोभी, पापी, घमण्डी अमीर अब्दुश्शरीफ को उसके दुष्कर्मों का मजा चखाने वाली निकली । आरम्भ में ही नाटककार ने अंग्रेज रमणियों को अपने पति के साथ घूमते, कार्य करते, संतान को शिक्षा देते, अपना स्वत्व पहचानते देखकर भारतीय सीधी सादी स्त्रियों की हीनावस्था पर दुःख प्रकट किया है ।[२] इस हीन भाव को हटाने के लिए ऐतिहासिक आख्यान लेकर नीलदेवी के उन्नतिशील चरित्र की सृष्टि की है । वह अपना स्वत्व पहचानती है । अपनी जाति और देश की सम्पत्ति विपत्ति को समझती है । अब्दुश्शरीफ की हत्या में सहायता ही नहीं देती, स्वयं अपने हाथों अपने साथियों की सहायता से उसका वध करती है । नीलदेवी के चरित्र में भारतीय नारी की जागरूकता का अच्छा चित्रण है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चन्द्र' की स्वकीया नायिका शैव्या शील, लज्जा, सच्चरित्रता, पतिव्रता आदि नाट्यशास्त्रीय गुणों से युक्त है । पति की उचित अनुचित सभी बातों को निर्विरोध सहन करती है । भारतेन्दु की चन्द्रावली परकीया नायिका है क्योंकि उसका प्रेम पर पुरुष से है । श्रीकृष्ण के पास

---

१. [illegible] गोस्वामी : " [illegible] नाटिका" , प्र०सं०, १९८२ वि०, गीति-नाट्य समिति, वृन्दावन

२. ब्रजरत्नदास : " भारतेन्दु नाटकावली" (नीलदेवी की भूमिका से) प्र०भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, पृ० ४२१

अपने पत्र में वह लिखती है कि " भला मैंने तो लोक वेद, अपना-विराना सब छोड़ कर तुम्हें पाया आदि"[1] तथा आगे कामिनी नामक सखी कहती है —" ...... ऐसे बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है और कैसे पतिव्रत पाल सकती है।[2] उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि नायिका किसी दूसरे की परिणीता स्त्री है तथा उपनायक कृष्ण के विरह से उत्कंठित है। राधाचरण गोस्वामी के "अमरसिंह राठौर"[3] नाटक की सूर्यकुमारी नवीन ढंग की नायिका है क्योंकि वह केवल लज्जाशीला, वेशभूषा की तड़क भड़क में सजी धजी रानी मात्र नहीं है वरन् नील देवी के समान वीर क्षत्राणी युद्ध में प्रवीण है। मुसलमानों से युद्ध करके अमरसिंह की लाश को घोड़े पर रख कर उठा ले जाती है। उस शव के साथ चिता में प्रवेश करती है किन्तु चितारोहण से पूर्व हिन्दुओं को, देश से मुसलमानों की निष्क्रान्ति करने की प्रेरणा देती जाती है। विद्याधर त्रिपाठी "रसिकेश" की उद्धव वशीठिनाटिका" में राधिका अनुरागवती नायिका के लक्षणों से युक्त दिखाई पड़ती है तथा कुब्जा प्रगल्भा नायिका के रूप में चित्रित की गई है। तथापि नाटककार ने प्रारम्भ में ही संकेत किया है कि यह गीत रूपक गोपियों का चरित्र है। वस्तुत: कृष्ण और मनसुखा के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र गोपिकाएं है जो मथुरा में कुब्जा के समीप प्रेम में लीन कृष्ण के वियोग में समान रूप से व्याकुल हैं किन्तु राधा को सभी गोपियां कुछ विशेष महत्व प्रदान करती दिखाई पड़ रही हैं। प्रिया जी का प्रयोग राधा के लिए हुआ है।

मैथिलीशरण गुप्त के "चन्द्रहास"[4] नाटक की नायिका विषया भारतीय दृष्टि से स्वकीया नायिका है। शील लज्जायुक्त, सच्चरित्र, पतिव्रता पति के प्रति व्यवहार में मिठास है। अवस्था भेद से स्वाधीन पति का नायिका है। उसका प्रिय उसके पास है तथा उसी अनुकूल रहता है। किन्तु "विष" का "विषया" बना देना और "कमी" शब्द को चाट जाना तथा परिस्थिति को अपने

---

१. ब्रजरत्नदास-: भारतेन्दु नाटकावली प्रथम भाग (चन्द्रावली नाटिका से) द्वि०सं०, पृ० ६८६, सं० २००८, रामना०, इलाहाबाद, पृ० ६८६

२. वही, पृ० ३००

३. राधाचरण गोस्वामी-: अमरसिंह राठौर, प्र०सं०, १८९५, प्र०स्थान?

४. मैथिलीशरण गुप्त :" चन्द्रहास," तृतीयावृत्ति, १९९३ वि०, साहित्य स०, झांसी

अनुकूल बना लेना, उसके चरित्र की विकसित अवस्था का द्योतक है। एक बार ही सुप्तावस्था में चन्द्रहास को देखकर पति रूप में चुन लेना रोमान्टिक प्रेम की ओर संकेत करता है। विशाखा गौतम बुद्ध के जन्म के पूर्व की नारी है किन्तु उसमें भी तर्कशील प्रवृत्ति का समावेश करके नाटककार प्राचीन में नवीन की कल्पना करता हुआ दिखाई पड़ता है। वह अपने पति सुलक्षण से कहती है — " पुरुषों ने अपने प्रतिपक्ष में अबला नारी को खड़ा करके अपने पौरुष को कौन सा गौरव प्रदान किया है, आर्यपुत्र , यह बात मेरी समझ में नहीं आती।[1] वह पति पर अनुरक्त है। वह पति की प्रसन्नता में प्रसन्न है किन्तु नारी की स्वाभाविक कामनाओं को भी अभिव्यक्त करती जाती है। अगले भव में पुरुषत्व प्राप्त करने की बात से उसका स्वर कम्पित हो उठता है।[2] उसके चरित्र का विकास नहीं हुआ है।

हिन्दी नाट्य साहित्य में स्त्री पात्रों की सूक्ष्म भंगिमाओं को भी व्यक्त करने में नाटककार बहुत सूक्ष्म है। प्राचीन पद्धति के अनुसार लज्जाशीला, सभी कलाएं सुन्दर सी गुड़िया रूप का ही चित्रण नहीं हुआ है वरन् उनके वणिकका रूप , षड्यन्त्री रूप का कहीं कहीं बड़ा ही सफल चित्रण हुआ है। प्रसाद, उदयशंकर भट्ट , गोविन्दवल्लभ पन्त ने विशेष रूप से नारी-चरित्र चित्रण में रुचि दिखाई है। ध्रुवस्वामिनी के अतिरिक्त प्रसाद के प्रमुख स्त्री पात्रों में भाव-प्रवणता की विशिष्टता पाई जाती है। कल्याणी , देवसेना, वासवी, मल्लिका क्रमशः चन्द्रगुप्त , `स्कन्दगुप्त`, और `अजातशत्रु` के आदर्श चरित्रयुक्त नारी पात्र हैं किन्तु इनमें अन्तर्द्वन्द्व का अभाव नहीं है अतः उनकी यह मनोवृत्ति अमानवीय नहीं प्रतीत होती। अधिकांश स्त्री पात्र देश-प्रेम और प्रकृति-प्रेम की भावनाओं से अनुप्राणित हैं। राज्यश्री धर्म, करुणा, सहृदयता की उज्ज्वल मूर्ति है किन्तु उसके सौन्दर्य पर मुग्ध देवगुप्त उसे पकड़ने की चेष्टा करता है तो वह वध करने का साहस कर लेती है। अतः राज्यश्री में शौर्य भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। नाटककार ने भूमिका में लिख रखा है कि इस नाटक का उद्देश्य राज्यश्री का चरित्र चित्रण

---

१. सियारामशरण गुप्त - 'पुण्यपर्व', प्रथमवार (१६३३ ई०) साहित्य सदन , चिरगाँव, झाँसी, पृ० २१

२ वही, पृ० २१

करना है किन्तु बहुत स्वाभाविक चरित्र चित्रण नहीं हो पाया है। भावी आशंकाओं से उद्विग्न पति को प्रबुद्ध करती है। युद्ध के समाचार को शुभ संदेश बताती है और मंदिर में पति की विजय के लिए पूजा करते समय अट्टहास होने पर तत्काल मूर्च्छित हो जाती है और देवगुप्त के आने की सूचना पाते ही मंत्री की तलवार लेकर दुर्गुप्त पर चला देती है आदि कुछ अस्वाभाविक बातें दिखाई पड़ती हैं। 'अजातशत्रु' की छलना, 'स्कंदगुप्त' की अनंतदेवी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए मर्यादा का बंधन तोड़ कर षड्यंत्र में प्रवृत्त होती हैं। दोनों ही राजमाता के पद से वंचित हैं अत: महादेवी और राजमाता वासवी तथा देवकी से क्रमश: दोनों असंतुष्ट होकर भयंकर ईर्ष्या की अग्नि में जलती है। एक ईर्ष्यालु नारी नारी प्रतिशोध की ज्वाला में जलकर किस सीमा तक क्रूर तथा पतित हो सकती है, इसका अच्छा चित्रण इन पात्रों में प्राप्त होता है। अवसर के अनुकूल महान् क्रूर तथा प्रतिकूल स्थिति देखकर अत्यन्त दीन भी बन सकती है। शर्वनाग को भयभीत करने के लिए अनंतदेवी कहती है — " सौगंध है। यदि विश्वासघात करेगा तो कुत्तों से नुचवा दिया जायेगा।"[1] देवकी की हत्या के षड्यन्त्र में स्कंदगुप्त द्वारा शर्वनाग और भटार्क को परास्त करके अनंतदेवी के पास पहुंचने पर वह तत्काल घुटने के बल बैठकर हाथ जोड़ देती है— " स्कंद! फिर भी मैं तुम्हारे पिता की पत्नी हूं।"[2] इन उदाहरणों उसकी व्यवहार कुशलता का परिचय मिलता है।

पन्त के नारी पात्रों का चरित्र भी कथा की घटनाओं के घात-प्रतिघात से स्वाभाविक और सरल रूप में विकसित हुआ। सत्, असत् दोनों प्रवृत्तियों वाली स्त्री पात्रों का चरित्र विकास आशा-निराशा के मनोभावों के मध्य हुआ। पद्मावती में सत् प्रवृत्तियां प्रमुख हैं। किन्तु उनका प्रतिफलन स्वाभाविक परिस्थितियों में यथार्थवादी स्तर पर हुआ। मागंधिनी की असत् प्रवृत्तियां अधिक जागृत हैं जिसके लिए नाटककार ने परिस्थिति तथा वातावरण का बड़ा यथार्थ चित्रण किया है। वह अपनी ईर्ष्याभाव से उद्विग्न रहती है। असत् पात्रों का बड़ा ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है। पद्मावती तथा मागंधिनी में मानव सुलभ चाह का चित्रण है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : "स्कंदगुप्त", बारहवाँ सं०, सं० २०१३, भारतीय भंडार, इलाहाबाद, पृ० ६३

२. वही, पृ० ६८

पद्मावती बुद्ध के सौंदर्य पर मोहित है । उनके प्रतिदिन दर्शन के लिए कक्ष की दीवार में छिद्र कर देती है तथा उदयन से छिपाने के लिए उसी की तस्वीर छिद्र पर लटका देती है । प्रतिदिन संध्या समय राजमार्ग की ओर लगी उत्सुक आँखें किस बेचैनी से अमिताभ के जाने की राह देख रहे हैं -" जब वह ठीक समय से आता है तो मैं ही क्यों कुसमय में उसकी आशा करूं ? मेरे मन में इतना धनत्व नहीं कि उसका नियम टूट जाय । मेरा अधैर्य खिसकर प्रतीक्षा बन जाता है । इस प्रतीक्षा का फल ही विरह है । यह मेरा ही दोष है, इसका मैं ही भोग करूंगी ।"[1] इस उदाहरण में वासनात्मक प्रेम के दर्शन होते हैं किन्तु उदयन के प्रति उसके प्रति कम में भाव ज्यों के त्यों हैं । मानव सुलभ सौंदर्य के प्रति पुरुषत्वाकर्षण से प्रेरित होकर उसकी दुर्बलता का चित्रण हुआ है किन्तु वह उच्च श्रेणी की नारी है । वैशालिनी रोमाण्टिक गुणों से युक्त नारी पात्र है । उसका अपना व्यक्तित्व भी कम आकर्षक नहीं है । अमीपाल को प्रणय के लिए आतुर देखकर वह उससे घृणा करने की बात भी कह देती है किन्तु घायल होने पर सेवा करती है । पुन: अमीपाल द्वारा ठुकराई जाकर सूखी वरमाला लिए घूमती रहती है । अन्त में अमीपाल को वरमाला पहनने के लिए तैयार कर देती है ।[2] पन्ना असाधारण स्त्री पात्र है जो अपने अन्तर्द्वन्द्व को दबाकर चन्दन की बलि देकर राजकुमार उदय की प्राणरक्षा करती है । त्याग की मूर्ति पन्ना असाधारण होते हुए भी मानव सुलभ दुर्बलताओं से युक्त है फिर भी उसकी भावनाएं उदात्त हैं ।"[3]

उदयशंकर भट्ट की "मेना" के चरित्र में अपमानित नारी के क्षुब्ध हृदय की फुफकार का सामना भीष्म के साथ साथ सम्पूर्ण समाज को करना पड़ता है । पुरुष की इच्छा पर स्त्रीत्व का बलिदान कर जीवन भर कराहती हुए पीड़ित नारी वर्ग का सच्चा चित्रण "मेना" नाटक में दिखाई पड़ता है । मेना पीड़िता किन्तु जागृत नारी रूप है और अम्बिका, अम्बालिका तथा सत्यवती के चरित्र में सामाजिक परिस्थिति की विवशता का सच्चा चित्रण प्राप्त होता है । मेना में प्रतिहिंसा का

---

१. गोविन्दवल्लभ पन्त : "अन्तःपुर का छिद्र", प्रथम आवृत्ति, सं० १९९७, गंगापु०, लखनऊ, पृ० ३०

२. गोविन्दवल्लभ पन्त : "वरमाला", षष्टमावृत्ति, सं० २००६, गंगापु०, लखनऊ

३. ,, : "राजमुकुट", प्र०सं०, १९३५ ई०

भाव यहाँ तक प्रबल हो उठा है कि भीष्म को इस जन्म में नहीं पराजित कर सकती है तो आत्महत्या करके पुनर्जन्म ग्रहण करती है और शिखण्डी के रूप में भीष्म की मृत्यु का कारण बनती है। 'सगर विजय' की बड़ी में सपत्नी ईर्ष्या का इतना उग्र रूप दिखाई पड़ता है कि वह पति तथा बड़ी रानी को विष दे देती है जिसके परिणामस्वरूप उसे भी विधवा बनना पड़ता है। बड़ी रानी बच जाती है और वशिष्ठ ऋषि के आश्रम में सगर का जन्म होता है एक दिन प्रतिहिंसा की मूर्ति बड़ी ने सगर को चुराकर उसे नदी में फेंकने का असफल प्रयत्न किया। भट्ट जी ने प्रतिहिंसा, स्पर्द्धा में उसे क्रूर तथा भयानक चित्रित किया है किन्तु कहीं कहीं नारी हृदय के कोमल भावों को जाग्रत करके बड़ा मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण कर सके हैं। उसकी असत् प्रवृत्तियों के साथ सत्प्रवृत्तियों का मेल है। " पर..... इसमें इस नन्हे, भोले सुकुमार शिशु का क्या अपराध है ? कैसे सुन्दर ओठ हैं ? पतले-पतले कोमल, मानों विधाता ने बिना हाथ लगाये ही इन्हें बनाया हो..... । न, इसका कोई अपराध नहीं, मैं इसे न मारूँगी ।"[1] वह पति द्वारा उपेक्षित नारी है अत: चोट खायी सर्पिणी के समान प्रतिशोध के लिए नाना चरित्र दिखाती है किन्तु क्रोधपूर्ण निर्भीकता में उसके हृदय का कोमल भाव प्रच्छन्न रूप में अन्तर्द्वन्द्व को भी सूचित करता है —" मूर्ख , मुझे कौन बन्दी बना सकता है। बिजली को कौन पकड़ सकता है, तूफान को कौन रोक सकता है, प्रलय को कौन हटा सकता है। जो मुझे बन्दी बना सकता था...... तुम मुझे बन्दी बनाओगे दुर्दम ?[2]........ दाहर की पुत्री सूर्य वीरांगना विचारों की दृढ़, कूटनीतिज्ञ तथा प्रतिशोध की अग्नि से युक्त है। उसकी कूटनीति से ख़लीफ़ा द्वारा कासिम के हाथ में खिलवा दिये जाने पर वह संतोष का अनुभव करती है और फिर ख़लीफ़ा को धक्का देकर दूसरी बहन परमाल से मिलकर एक दूसरे को मारकर मर जाती है। सूर्य जितनी ही तेज है, परमाल उतनी ही सरल है। सूर्य के कहने पर वह मरने को तैयार हो जाती है। नारी चरित्र का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण वीर, शीलवती तथा प्रतिशोध के तीव्र रूपों में प्राप्त होता है।

---

१. उदयशंकर भट्ट : " सगर विजय ", सं० तथा सन् ? , मसिजीवी प्रकाशन, दिल्ली, पृ० [illegible]

२. वही, पृ० [illegible]

समस्या नाटकों में नारी पात्रों का विकसनशील चरित्र दिखाने का प्रयत्न किया गया है। सन्यासी में अपने प्रेमी की अनुचित निष्ठुरता, कपट चातुरी एवं पाखण्ड पर मालती का स्वाभिमान जाग्रत हो उठता है और उसके विचार परिवर्तित हो जाते हैं। वह अपने प्रेमी विश्वकान्त के प्रतिद्वन्दी रमाशंकर से विवाह कर लेती है। इसके लिए वह प्रेम के स्वरूप को बुद्धि द्वारा स्पष्ट करती है — `मैं रोमान्टिक प्रेम नहीं चाहती, विश्वकान्त के साथ मेरा यही था। मैं वह प्रेम चाहती हूँ जो आजकल की दुनियाँ में समझदारी के साथ निभाया जा सके।`[1] समस्या नाटकों में नायक-नायिका की खोज नितान्त निरर्थक है क्योंकि उनको महत्ता प्रदान करने के लिए नाटक लिखे गए। मिश्र जी के स्त्री पात्र बहुत स्वच्छन्द और बौद्धिक दिखाई पड़ते हैं। किरणमयी और दीनानाथ के अनमेल विवाह पर किरणमयी पति को पिता के समान बताती है। परिस्थिति के अनुसार दीनानाथ को कहना पड़ता है कि `समझना किसी वेटिंग रूम या होटल में दो आदमी ठहरे हैं.. कभी कभी मन बहलाने के लिए यों ही बातें कर लिया करते हैं....... तुम भी स्वतंत्र और मैं भी। हम दोनों एक दूसरे की बेड़ी काट दें।`[2] वही किरणमयी अपने प्रेमी मुरलीधर की मृत्यु के पश्चात् भी अपने हृदय में बैठा हुआ मानती है। `राक्षस का मन्दिर` में वेश्या की कन्या असगरी के चारित्रिक विकास का सफल चित्रण पाया जाता है। बाल्यावस्था में ही रामलाल की रखैल बनकर आई। युवावस्था में रामलाल, मुनीश्वर तथा रघुनाथ तीनों के पास व प्राकृतिक मांग की पूर्ति के लिए जाती है। पहला उसकी समस्या की यथार्थता को समझाने असमर्थ है, दूसरा स्वार्थ के लिए प्रेम करता है किन्तु प्रणय को स्थायित्व देने के लिए उसे अपने साथ रखने को तैयार नहीं और रघुनाथ में साहस का पूर्णतया अभाव है। अन्त में वह विवश होकर ही रही परन्तु इस भाव का उन्नयन भगवद्भक्ति के माध्यमसे करने लग जाती है। समाज कल्याण तथा आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अध्यापिका का कार्य स्वीकार करती है। नारी जाति के उत्थान के लिए मातृ-मन्दिर आश्रम की व्यवस्थापिका स्वयं बनती है और पतन के गर्त में ले जाने वाले

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र : `सन्यासी`, पृ० १६६

२. वही, पृ० ११२

राजदास मुनीश्वर को आश्रम के कार्यों से मुक्त करा देती है। आधुनिक नारी की कामनाओं से युक्त अश्करी परिवर्तित होकर नारी वर्ग के उत्थान में प्रवृत्त देवी स्वरूप धारण कर लेती है।

'मुक्ति का रहस्य' की आशादेवी का चरित्र बड़ी कुशलता से अन्तर्द्वन्द्व पूर्ण चित्रित हुआ है। इसे गतिशील चरित्र कहना चाहिए। उमाशंकर पर एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए उनकी पत्नी को विष देना, उमाशंकर से उसका प्रतिदान न पाकर परिस्थिति से विवश होकर ही सही डाक्टर के साथ सीमा पार कर जाती है और फिर कर्म के प्रायश्चित स्वरूप स्वयं भी विष खाकर आत्महत्या की ओर प्रवृत्त होती है। डाक्टर द्वारा बचाई जाकर अन्त में डाक्टर के मानवीय गुणों पर अभिभूत होकर उसी को जीवन साथी बनाने का फैसला करती है। उसे मनुष्य चाहिए था, देवता नहीं। हमारी घृणा सहानुभूति एवं करुणा में परिवर्तित हो जाती है। कहीं कहीं चरित्र में अस्वाभाविकता भी विद्यमान है जैसे डाक्टर उमाशंकर से सारी बातें कह देने की धमकी देता रहता है और वह तर्क करती जाती है। यहाँ तर्क के स्थान पर मूक अभिनय, सात्विक भावों के प्रदर्शन आदि के द्वारा अन्तर्द्वन्द्व का प्रदर्शन अधिक सफल हुआ होता। नारी पात्रों में बौद्धिकता का समावेश इतना अधिक पाया जाता है कि इनको कार्य में संलग्न प्राय: नहीं देखा जा सकता, केवल तर्क वितर्क के द्वारा समस्याओं के समाधान में रत दिखाई पड़ती है। 'सिन्दूर की होली' के स्त्री पात्र मनोरमा और चन्द्रकला का चरित्र व्यक्ति वैचित्र्य के अन्तर्गत आता है। दोनों ही असाधारण चरित्र हैं। मनोरमा की बौद्धिकता चरमसीमा पर पहुँच कर आदर्श की चरमसीमा पर दिखाई पड़ने लगती है किन्तु नाटककार ने उसका मानवीय रूप उसके परम्परागत विधवापन की आलोचना चन्द्रकला से सुनते समय दिखाई पड़ता है। उसे चन्द्रकला को उत्तर देने के लिए अपने आपको संयत करना पड़ता है जिसके लिए सात्विक तथा मूक अभिनय का सहारा लिया गया है। मनोरमा बाल विधवा है किन्तु वह उच्छृंखल होने नहीं पाई है। वह शिक्षित भारतीय संस्कृति में आस्था रखनेवाली बौद्धिक विकास को प्राप्त समझदार नारी के रूप में चित्रित की गई है। विधवा-विवाहिका वह अनुगुण खण्डन करती है। विधवा के आन्तरिक संकल्प, साधना,

त्याग और तपस्या के आदर्श को गौरव की वस्तु बताया है। चन्द्रकला सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन कर आवेश में स्वच्छंद प्रेम की उस सीमा तक पहुंच जाती है जहाँ केवल वैधव्य है। इसकी पृष्ठभूमि में पाश्चात्य शिक्षा, आत्माभिमान, तर्क पूर्ण स्वभाव तथा पिता द्वारा पैसे के लोभ में नैतिक पतन कार्य करता है। पिता से प्रतिशोध उन्हें आजीवन के लिए मानसिक कष्ट देकर लेती है। मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए रजनीकान्त के हाथों अस्पताल में स्वयं जाकर अपनी माँग में सिन्दूर भर लेने और आजन्म वैधव्य जीवनबिताने तथा पिता से दूर रहने की घोषणा से इक - लौती पुत्री के पिता की अवस्था का अनुमान लगाना सहज है। नारी पात्रों में स्वच्छन्द चिन्तन तथा विचारधारा का समावेश विशेष रूप से इस युग के नाटकों में पाया जाता है। मिश्र जी के पात्र मनोवैज्ञानिक चरित्र बन पाए हैं जिनमें कर्मशीलता का अभाव है। परन्तु वाक्शक्ति तीव्र है। मिश्रजी के नारी पात्र शिक्षित होने के कारण चिन्तनशील चरित्र वाले हैं किन्तु वर्मा जी की पुनीता अनुपम रूपवती, दिमाग की तेज, भीख मांगने वाली विशिष्ट लड़की है।[1] इसका चरित्रनाटक के विकास में इस रूप में दिखाया गया है कि रेलवे प्लेटफार्म पर गोकुल के भीख मांगने ~~वाली विशिष्ट ल~~ पर अनेक कटु तिक्त गालियां दे डालती है। अन्त में ट्रेन चल देती है और आकस्मिक ट्रेन दुर्घटना में पुनीता आदि घायल होकर अस्पताल पहुंचाए जाते हैं। वहां गोकुल के रक्त और मांस देने की त्याग भरी बात डाक्टर से सुनकर वह उससे प्रभावित होती है और कभी गाली न देने का वादा करती है। गोकुल के आग्रह पर विवाह के लिए भी तैयार हो जाती है। कभी चंचल बालिका थी, अब प्रेम भार से नत युवती है। वस्तुत: वह आरंभ में भी अपने चरित्र की रक्षा के लिए मनचले लोगों को देखकर एक साथ अनेक गालियां दे डालती है जिससे लोग उसे पागल समझने लगते हैं किन्तु गाली का उद्देश्य शरीर रक्षा है। वर्मा जी के स्त्री पात्र समझदार हैं। शिक्षित, अशिक्षित सभी बुद्धि से कार्य करते हैं। भावनाओं में बह जाने की प्रवृत्ति से उनकी रक्षा हुई है। पुनीता की बुढ़िया माँ अपनी लड़की को घेरे वाले उच्छृंखल व्यक्तियों की आंखों से

---

१. वृन्दावनलाल वर्मा : 'बांस की फांस', प्र०सं०, १९४७, म०प्र०, झांसी

सुरक्षित रखने के लिए पुनीता से कहती रहती है — "..... जब तक तू काँटेदार बनी रहेगी कोई तुझे छू भी नहीं सकेगा । यदि हलुआ सरीखी मुलायम बन गई तो किसी दिन चट कर ली जायेगी ।"[1] किन्तु बेटी के समझाने पर गोकुल को अपना दामाद बनाने में बड़ी प्रसन्न है । मंदाकिनी बड़ी अप-टू-डेट लड़की है किन्तु प्रेम की गहराई को समझने में भी देर नहीं करती है । कालेज का छात्र फूलचन्द घायल मंदाकिनी को रक्तदान करता है और बदले में उससे विवाह की माँग करता है जिसे वह ठुकरा देती है । स्त्री पात्र प्रणय तथा परिणय में शीघ्रता करने वाली नहीं हैं । कामिनी का चरित्र आकर्षक है उसके सौंदर्य और कला दोनों का माधव पुजारी है किन्तु वह बराबर उसके प्रति तिरस्कार भाव रखती है जिसे वह दबाती रहती है । जब माधव के सच्चे प्रेम की पहचान कर लेती है तभी तिरस्कार भाव भी स्वतः समाप्त हो जाता है ।[2] माया जैसी स्त्री की कल्पना भी की गई है जो अधिकाधिक पैसा और परिणय चाहती है ।[3]

हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों के नारी पात्रों में पुरुषों की भाँति देश के प्रति सर्वस्वसमर्पण का भाव पाया जाता है । नारी पात्र मानव भाव भूमि पर स्वाभाविक रूप में चित्रित हुई हैं किन्तु अधिक अंश में राष्ट्रीय आदर्श इस रूप में चित्रित हुआ है कि भाव प्रधान पात्र बन गए हैं । शिवाजी जैसे बहादुर बेटे की जीजाबाई जैसी सुदृढ़ चरित्र वाली माता का होना स्वाभाविक है फिर भी मानवोचित दुर्बलता का थोड़ा समावेश चरित्र को अधिक विश्वसनीय बना देता है ।[4] जैबुन्निसा इतनी तरल तथा भाव प्रवण है कि अपने पिता के दुश्मन शिवाजी पर मुग्ध होकर मौन समर्पण कर देती है । शिवाजी जहाँ भी रहे सुरक्षित रहें, यही उसकी सदैव कामना है । इस चरित्र की कल्पना में रोमैन्टिक प्रेम के दर्शन होते हैं । महारानी का चरित्र क्षत्राणी के अनुकूल है । युद्ध में पुत्र की मृत्यु से भी वह पथ से विचलित नहीं होती वरन् अपने को सौभाग्यशालिनी समझती है ।

१: वृन्दावनलाल वर्मा : "बाँस की फाँस", पृ०४०, १९५०, म०प्र०, झाँसी

२: वृन्दावनलाल वर्मा : "फूलों की बोली", प्रथमावृत्ति, १९४७, मयूर प्रका०, झाँसी

३: वही

४. हरिकृष्ण प्रेमी : शिवासाधना (१९३७)

सुरजन का उत्तर महारानी देती है — " पत्थर का है। लेकिन इस पत्थर के अन्तस्तल में भी पानी है। प्राणों में आज भयंकर तूफान उठ रहा है। ज्वालामुखी जल रहा है।"[1] इस कथन में रानी के स्वाभिमान के साथ ही कितनी पीड़ा दिखाई पड़ रही है। नाटककार ने मानवेतर पात्र होने से बचा लिया है जिससे स्वाभाविकता की रक्षा हो सकी है। 'रक्षाबन्धन' की कर्मवती निर्भय वीरांगना है जो कठिन से कठिन परिस्थितियों में अपना सत्य नहीं छोड़ती। भ्रातृत्व और मानवता पर भरोसा रखनेवाली है। बड़ी दृढ़ चरित्र नारी होने के कारण विशेष उन्नत रूप में दिखाई पड़ती है। जीजाबाई, कर्मवती आदि प्रमुख स्त्री पात्रों में आत्मबल असाधारण रूप में दिखाई पड़ता है। रोशनआरा क्यामत से तेज, तलवार से अधिक तीखी, विनाश से खेलनेवाली, अपने भाई औरंगजेब को इशारों पर नचानेवाली है किन्तु उसके हृदय में भी मानव सुलभ नारी-भाव मंथन कर रहा है।"[2] प्रेमी के स्त्री पात्र अधिक अंश में आदर्शवादी हैं। सामाजिक नाटक 'छाया' में छाया भारतीय पतिव्रता नारी के समान पति की दुर्बलताओं का विरोध नहीं करती, वरन् चुपचाप सहती जा रही है। पति की चरित्र-दुर्बलता से उत्पन्न जटिल परिस्थिति में उसकी सहायता करती है तथा उसके लिए आदरपूर्ण वचनों का प्रयोग करती है। यह बहुत अस्वाभाविक दिखाई देता है किन्तु नाटककार ने नारी पात्रों को आदर्शरूप में चित्रित किया है। माया का चरित्र यथार्थवादी बनाने का प्रयास हुआ है किन्तु सब दुर्बलताओं पर आवरण डालने के लिए माया द्वारा छाया की सहायता करके उसे भी आदर्श की ओर लेकर चला जाता है।

सेठ गोविन्ददास के सामाजिक नाटकों की नायिकाएं विकसित चरित्र हैं। नारी चरित्र का चित्रण बहुत सहानुभूतिपूर्ण हुआ है 'दुख क्यों' की सुलभा पति परायणा है किन्तु अपने पति यशपाल को अपने उपकारी प्रभुदत्त के प्रति ईर्ष्यालु देखकर उसका विरोध करती है।" वह पति को भगवान स्वरूप महत्त्व देती है किन्तु विचारवान होने के कारण यशपाल के कुकृत्य उसकी उच्च भावनाओं

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी : 'आहुति', बारहवां सं०, १९६५, हिन्दी भवन जालंधर, इलाहाबाद, पृ० ७२

२. हरिकृष्ण प्रेमी : 'स्वप्न भंग', [illegible], १९४९, पृ० ३२

को ठेस पहुँचाती है। यशपाल द्वारा पुरस्कार की अभिलाषा में एक क्रांतिकारी को पकड़वाने में गरीबदास वैद्य भी गिरफ्तार हो जाता है तो सुखदा कचहरी में स्वयं पति का यथार्थ रूप जनता के सामने लाती है। इसमें सुखदा के चरित्र का बड़ा मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया गया है। 'गरीबी या अमीरी' में कमला का चरित्र चित्रण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हुआ है। कमला एक धनी व्यापारी की बेटी होते हुए भी विद्याभूषण के प्रेम में उस परिस्थिति में भारत आती है जब विद्याभूषण उसके ऐश्वर्य के कारण उससे विमुख होकर भारत चला आता है। अफ्रिका में रहते हुए पिता द्वारा अपने एजेन्ट के माध्यम से कमला की सहायता होती है जिससे पुन: विद्याभूषण घर से अलग दूसरे मुहल्ले में रहने लगता है। वहीं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है किन्तु कमला अपने नाम के अनुरूप गरीबी का व्रत लेकर देहात में विद्याभूषण के सिद्धान्तों का, अचल रह कर पालन करती है। विद्याभूषण तो गिरतेस्वास्थ्य के कारण असमय मृत्यु के मुख में चला जाता है किन्तु कमला अपने पुत्र सरस्वतीचन्द्र के साथ संयमित जीवन व्यतीत करती है। वैभव में पली, चंचल कमला का मानसिक परिवर्तन उसके विकसित चरित्र का द्योतक है।[१] 'महत्त्व किसे ?' की सत्यभामा बुद्धिमान विदुषी पत्नी है। अपने भावुक पति कर्मचन्द को सम्पन्नता का महत्त्व बता देती है सत्यभामा का चरित्र यथार्थ के आधार पर अंकित हुआ है। वह संसार की गति को पहचानने वाली है। धनी कर्म-चन्द समाज में बहुत आदरणीय थे। देश सेवा और भावुकतावश वह निर्धन हो गए तब उन्हें बेईमान, पापी, नीच, महामूर्ख तक समाज कहने लगा किन्तु कुशल-पत्नी ने पुन: सम्पन्नता ला दी और कर्मचन्द फिर से अच्छे कहलाने लगे। पत्नीश आरम्भ से ही कहती आ रही थी कि सम्पन्नता का निजी महत्त्व है जिसे उसने सिद्ध कर दिया। गोविन्ददास जी के प्राय: सभी नारी पात्र आकर्षक हैं। 'कर्ण' की रोहिणी एक नवीली, स्वाभिमानयुक्त नारी है।

सेठ जी को नारी पात्रों के चरित्र चित्रण में पर्याप्त सफलता मिली है। ऐतिहासिक नाटक '[illegible]' में [illegible] के चरित्र में भारतीय नारी की

---

१. सेठ गोविन्ददास : 'अमीरी या गरीबी', १९५७ ई०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

बेबसी का करुणा संकेत दिखाई पड़ता है। जिस वंह को वह पति मान बैठी है, उसी को उसकी जिद के कारण पुत्र मानना पड़ता है। विमाता के रूप में वंह के सम्मुख खड़ी होने पर उसका दिल धड़कना, रंग पीला पड़ना आदि उसके स्वाभाविक भावों की अभिव्यक्ति करते हैं।[१] बौद्धिक नारीके समान इस सम्बन्ध में वंह से तर्क करती है।[२] कर्तव्य भाव को लेकर वंह हांसा के इन भावों की उपेक्षा करती है जिससे हंसा चोट खाकर विकृत प्रतिशोध की ज्वाला में अन्त तक जलती रहती है। हंसा का चरित्र चित्रण बड़े स्वाभाविक स्तर पर हुआ है। इसके अतिरिक्त सभी नाटक वर्तमान सामाजिक जीवन से संबंध रखते हैं जिनमें जीवन के यथार्थ चरित्रों को उपस्थित किया गया है। नारी चरित्र की विविधता अश्क के नाटकों में दर्शनीय है। राणा लखसिंह की बड़ी रानी में नाटककार ने उस समय की राजपूती आदर्श का समावेश कराया है किन्तु उसमें भी अन्तर्मन में पीड़ा है, गहरा दर्द है। ऊपर से अपने दु:ख को दबाने का प्रयत्न करती है किन्तु मानव सुलभ स्वाभाविक दुर्बलता के कारण वह मन से नहीं निकाल सकती है अत: छिप कर राजा और नहीं रानी के व्यवहार देखती है तथा कष्ट का अनुभव करती है।[३] भारमती में पुरुष के कंधे से कंधा भिड़ाकर चलने की शक्ति है। उसके व्यक्तित्व में, ओज, गरिमा तथा दृढ़ता है। प्रिय के लिए मर मिटने की लगन है।[४] 'कैद' की अपराजिता पुरानी रूढ़ियों और संस्कारों के मध्य पिस रही है। प्राणनाथ की पत्नी के रूप में सदैव घुटन का अनुभव करती है और प्रेमी दिलीप को देखकर उसके कार्यों तथा संलापों में उसके प्रेम की बेचैनी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती है। वह पीड़ा का अनुभव करती हुई भी घुटन भरा जीवन व्यतीत करती जाती है किन्तु 'उड़ान' की माया के चरित्र में रूढ़ियों के प्रति विद्रोह दिखाई पड़ता है। वह पुरुष की संगिनी बन कर रह सकती है। 'उड़ान' के अन्त में उसका कथन प्रभावोत्पादक है —" तुम एक दासी, खिलौना या देवी चाहते हो, संगिनी की तुममें से किसी को आवश्यकता नहीं।" और वह तीनों को छोड़कर चली जाती है।[५] स्वच्छन्दता का

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क : 'जयपराजय', पाँचवाँ संस्क०, १९६२, नीलाभ प्रका०, इलाहाबाद, पृ० ८८, ६६

२. वही, पृ० [illegible] ८८, ६६

३. वही, पृ० ६०-६३

४. [illegible] — कौशल्या अश्क : 'नाटककार अश्क', प्रथम सं०, १९५४, नीलाभ प्रका०, इलाहाबाद, पृ० [illegible]

अर्थ उच्छृंखलता और दायित्व हीनता समझने वाली आधुनिक शिक्षित स्त्रियों की बड़ी अच्छी झांकी 'स्वर्ग की झलक' में अश्कजी ने प्रस्तुत की है। श्रीमती अशोक और श्रीमती राजेन्द्र स्वयं नाचने गाने में आनन्द लेती हुई पतियों से खाना बनवाती हैं तथा बच्चे खिलवाती हैं। पति राजेन्द्र के शब्द इन नारियों के चरित्र पर अच्छी तरह प्रकाश डालते हैं।[१] भारतीय नारी के विभिन्न रूप का बड़ा यथार्थ चित्रण पाया जाता है। बाहर बनाने और घर उजाड़ने वाली औरतों के साथ ही घर बसाने वाली नारी का चित्र भाभी के रूप में दिखाया है। अश्क के नाटकों में चरित्र चित्रण सम्बन्धी विशिष्टता इस रूप में प्राप्त होती है कि उन्होंने नाटक में आने वाले सभी पात्रों पर समान रूप से प्रकाश डालने का सफल प्रयत्न किया है।

प्रतीक पात्र -

हिन्दी नाटकों की आरम्भिक अवस्था में ही प्रतीक नाटकों में प्रतीक पात्रों की योजना आरम्भ हुई जिसका क्रम अब तक चला आ रहा है। भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' में भारत, भारत भाग्य, निर्लज्जता, भारतदुर्दैव, सत्यानाश, आलस्य, रोग, अंधकार, मदिरा आदि प्रतीक पात्र आए हैं जिनका नाम के अनुसार चरित्र चित्रण हुआ है। 'अंधेर नगरी' में गोबरधन मूर्खता का प्रतीक चित्रित हुआ है। भारतेन्दु युग में प्रतीक पात्रों का प्रयोग बहुत हुआ। 'भारत सौभाग्य' (१८८८ई०) में लिबरल पार्टी, ब्रिटिश नेशन, आर्मी कैप्टेन, फूट, बैर, कलह बकवक, झकझक, विद्या, बुद्धि आदि सैकड़ों पात्र स्त्री पुरुष मिलाकर भर दिए गए। कोई तत्त्वयुक्त बात बोल रहा है, कोई तत्त्व रहित। इतने अधिक पात्रों के चरित्र विकास की संभावना भी नहीं है फिर प्रतीक पात्रों के चरित्र-चित्रण में कोई आनन्द नहीं रहता। लाला घनश्यामदास का 'वृद्धावस्था नाटक' स्वार्थमल, अज्ञानवती, अभागवती, कुमतचंद, न्यायचंद आदि प्रतीक पात्रों से भरा है। सभी नाम के अनुरूप गुणों को धारण करते हैं। 'प्रबुद्ध यामुन' (सं० १८८६ वि०) में भक्ति, दम्भ, प्रतीक पात्र हैं। 'देश-दशा नाटक' में अघोरी, चटोरी, दरसौवा किसान आदि प्रतीक

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क : 'स्वर्ग की झलक', पांचवां संस्करण, १६३६, नीलाभ प्रका०, इलाहाबाद, पृ० [illegible]

पात्रों की योजना है। सभी नामों का सांकेतिक प्रयोग है जैसे संतवचनी मंत्री के लिए सं०व०मं० इससे पूरा नाम याद रखने में कठिनाई होती है। मायावी (१९२२) में नैतिक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक तीन प्रकार के प्रतीक पात्र रखे गए हैं। नैतिक—फैशन, मदिरा, आध्यात्मिक—सरलसिंह, मायावी, अन्तसराम, ज्ञानानन्द मनसाराम, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक-बुद्धि। नाम के अनुरूप इन पात्रों के कार्य पूर्णतया चित्रित किये गए हैं। बुद्धि कभी अशुभ सम्मति नहीं दे सकती। सरल सिंह इतना सीधा और सरल है कि अपनी पत्नी तक को छोड़ने की बात मायावी के फन्दे में आकर कह देता है। मायावी विषय, वासना, मायाजाल की चारित्रिक दुर्बलता से ऊपर उठ नहीं सका। ज्ञानानन्द कभी अज्ञानी के रूप में नहीं चित्रित हो सकते। नाम के अनुसार रूप और चरित्र प्रतीक पात्रों की विशेषता है। प्रसाद का 'कामना' प्रतीक नाटक है। इसमें विलास, कामना, सन्तोष, दम्भ, लालसा, महत्वाकांक्षा तथा करुणा मनोवैज्ञानिक पात्र हैं, दुर्वृत्त तथा क्रूर नैतिक पात्र हैं। इसके नैतिक पात्र पतनोन्मुख हैं—दुराचार तथा क्रूरता के प्रतीक। मनोवैज्ञानिक पात्र नाम के अनुसार गुणों वाले हैं।

हिन्दी नाटकों में 'प्रबोध चन्द्रोदय' की परम्परा के उपर्युक्त स्वतंत्र नाटक हैं। स्वतंत्र प्रतीक नाटकों में 'मुद्रिका' नाटक भी आता है जिसमें मनोवैज्ञानिक पात्र 'चिन्ता' के अतिरिक्त आध्यात्मिक पात्र ओंकार, सोऽहम्, ईश, माया आदि का समावेश हुआ है।[1] 'प्रबोध चन्द्रोदय' की परम्परा से अंशतः प्रभावित हिन्दी नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' में पाप, धर्म, सत्य प्रत्यक्ष पात्र के रूपमें अवतरित हुए हैं।[2] सेठ गोविन्ददास का 'नवरस' नौ रसों को प्रतीक रूप में धारण करता है। प्रत्येक रस एक पात्र का स्वरूप लेकर नाटक की कथा को गुंफित करता है। अचला अपने नाम के अनुसार कठिन से कठिन विपत्तियों में अचल है।[3] सेठ जी के 'सेवापथ' में दीनानाथ को गांधी जी का प्रतीक कहा जा सकता है।

---

१. मुकुलशरण अवस्थी : 'मुद्रिका', प्र०सं०, १९३९ ई०

२. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु नाटकावली' प्रथम भाग, द्वि०सं०, सं० २००८, रामना०, इलाहाबाद,

३. सेठ गोविन्ददास : 'गरीबी या अमीरी', १९४७, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इला०

तथा श्रीनिवास धन का प्रतीक है। दीनानाथ शरीर से तथा श्रीनिवास धन से देश-सेवा का मार्ग अपनाते हैं। दीनानाथ और श्रीनिवास ऐसे पात्र नहीं हैं जिनके चरित्र विकास का अवसर नहीं है क्योंकि 'प्रबोधचन्द्रोदय' की परम्परावाले पात्रों के समान सीमित चरित्र नहीं हैं। हिन्दी नाटकों में प्रतीक पात्रों का प्रयोग आधुनिक काल में पर्याप्त संख्या में पाया जाता है। सुमित्रानन्दन पन्त का 'ज्योत्स्ना' प्रतीक नाटक है जिसमें ज्योत्स्ना, ऊषा तथा प्रकाश का सजीव वर्णन दिखाई पड़ता है। इन्दु पति है और ज्योत्स्ना पत्नी। अन्य पात्र पवन, सुरभि, ओस, फूल, दूब पल्लव, किरण आदि की सहायता से नायक नायिका चराचर को अज्ञान से ज्ञान की अवस्था में लाने में सफल होते हैं। पन्त जी के ये पात्र प्रकृति से चयन किये गए हैं अतः बड़े मनोरंजक तथा नवीन प्रतीत होते हैं।

चरित्र और द्वन्द्व—

द्वन्द्व के दो रूप होते हैं — (१) अन्तर्द्वन्द्व (२) बहिर्द्वन्द्व। चरित्रप्रधान हिन्दी नाटकों में विशेष रूप से किसी न किसी प्रकार का द्वन्द्व दिखाया गया है। द्वन्द्व के द्वारा पात्रों का चरित्र कुतूहलमय और आकर्षक बन जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में चारित्रिक विकास का अवसर बहुत कम आया है। 'नीलदेवी' में अन्तर्द्वन्द्व का दृश्य गीति रूपक के अन्त में नीलदेवी द्वारा अब्दुश्शरीफ की हत्या के अवसर पर उपस्थित होता है। हत्या करते ही उसके सरदार समाजी और राजपूतों के साथ कुमार सोमदेव आकस्मिक आक्रमण कर देते हैं।[1] वस्तुतः भारतेन्दु तथा उनके युगीन नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व का अभाव है। 'नीलदेवी' में एक राजपूती शान के सैनिक की मनोदशा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसे अन्तर्द्वन्द्व नहीं कह सकते हैं। प्रसाद के नाटकों से पात्रों के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व का समावेश पाया जाता है क्योंकि उन्होंने कथानक से अधिक चरित्र की सजीवता तथा वैचित्र्य एवं मौलिकता को प्रतिष्ठित करना अपना लक्ष्य बनाया। मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रख कर अन्तर्द्वन्द्व का प्रकाशन भी किया है।

---

१. ब्रजरत्नदास-'भारतेन्दु नाटकावली'(प्रथम भाग) द्वि०सं०, रामना०, इलाहाबाद, (नीलदेवी से) पृष्ठ ३४३

'प्रसाद' के 'राज्यश्री' नाटक में नेपथ्य से बहिर्द्वन्द्व की सूचना दी जाती है किन्तु रंगमंच पर इसका दृश्य नहीं उपस्थित किया गया है। अन्तर्द्वन्द्व का अवसर ही नहीं आया है। 'अजातशत्रु' नाटक के बिम्बसार और वासवी राग विराग के अन्तर्द्वन्द्व में झूलते दिखाई पड़ते हैं। दोनों ही पात्रों के मानस में विराग का भाव-राग के द्वारा संघर्षमय रूप ले लेता है। बुद्ध ने बिंबसार को अजातशत्रु को सम्पूर्ण राज्य दे देने की अनुमति दी जिसका तत्काल उत्तर बिम्बसार जो देते हैं उससे राज्य के प्रति मोह और त्याग का अन्तर्द्वन्द्व स्पष्ट झलकता है।[1] वासवी त्याग की प्रतिमूर्ति है किन्तु अजातशत्रु के व्यवहार से राज्याधिकार के त्याग में थोड़ा बहुत अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो जाता है। इसका प्रकाशन उसके ही शब्दों में होता है -" तब भी आपको भिक्षावृत्ति नहीं करनी होगी। अभी हमलोगों में वह त्याग, मानापमान रहित अपूर्व स्थिति नहीं आ सकेगी। फिर जो शत्रु से अधिक घृणित व्यवहार करना चाहता हो, उसकी भिक्षावृत्ति पर अवलंबन करने को हृदय नहीं कहता।"[2] स्कन्दगुप्त तथा देवसेना के चरित्र में कई स्थलों पर अन्तर्द्वन्द्व का स्पष्ट स्वरूप दिखाई पड़ता है। स्कन्दगुप्त के मन में द्वन्द्व चलता है कि उसके अस्तित्व के कारण ही राज्य में, परिवार में, हृदय में सर्वत्र अशान्ति है किन्तु तत्क्षण ही द्वन्द्व उठता है कि उसका मित्र का कोई स्वार्थी हृदय के कोने कोने को छान डालने पर भी नहीं दिखाई देता। इसी समय विजया को देवसेना के साथ देखकर वह स्वगत कथन करता है -जिसे हमने सुख शर्वरी की संध्या तारा के समान पहले देखा, वही उल्का पिंड होकर दिगन्त दाह करना चाहती है। विजया! तूने क्या किया!"[3] यहां स्कंद अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है जिससे चरित्र देवोपम होते हुए भी मानव परक हो गया है। नाटककार ने मानवीय धरातल पर स्कंदगुप्त का विकास दिखाने के लिए ही अंतर्द्वन्द्व से पीड़ित दिखाया है। देवसेना स्कंद को अपना हृदय दे चुकी किन्तु आरम्भ में स्कंद का विजया का स्वप्न देखने की बात जानकर

---

1. जयशंकर प्रसाद- : "अजातशत्रु" द, सं० २००७ वि०, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ.४३-४४
2. वही पृ. ४४
3. जयशंकरप्रसाद :"स्कन्द स्कंदगुप्त, बारहवां संस्करण, सं० २०१३, भारती भंडार, - इलाहाबाद, पृ० ८६

वह स्कंद की पत्नी बनने से अस्वीकार कर देती है किन्तु `हाँ` और `ना` के अन्तर्द्वन्द्व में थोड़ी देर के लिए उलझ जाती है। हृदय में तो वह आजन्म के लिए रख चुकी है किन्तु भौतिक रूप में उसने नकारात्मक उत्तर दे दिया।[१] बहिर्द्वन्द्व का दृश्य स्कंदगुप्त में अनेक बार आया है।[२]

प्रसाद के `चन्द्रगुप्त` में बहिर्द्वन्द्वों तथा अन्तर्द्वन्द्वों का घात प्रतिघात विद्यमान है। स्नातकोत्तर परीक्षा के अनन्तर राज्याभिषेकतक चन्द्रगुप्त का समय युद्ध करते ही बीता है। अन्तर्संघर्ष का अच्छा उदाहरण चन्द्रगुप्त के निम्नलिखित कथन में प्राप्त होता है -- `संघर्ष! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो मालविका! आशा और निराशा का युद्ध भावों का अभावों से द्वन्द्व...... देखो मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता।[३] मानवीय अन्तर्द्वन्द्वों का स्वाभाविक चित्रण प्रसाद के नाटकों में प्राप्त होता है। ध्रुवस्वामिनी चरित्र चित्रण की दृष्टि से तथा अन्य दृष्टियों से भी प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्तर्द्वन्द्व का भाव उसके मानसपटल में उस समय दिखाई देता है जब वह एकान्त कथन करती है......... `कुमार! तुमने वही किया जिसे मैं बचाती रही। तुम्हारे उपकार और स्नेह की वर्षा से मैं भीगी जा रही हूँ। ओह, (हृदय पर उंगली रख कर) इस वक्षःस्थल में दो हृदय हैं क्या? जब अन्तरंग हाँ करना चाहता है, तब ऊपरी मन `ना` क्यों कहला देता है?`[४] चन्द्रगुप्त के मन में ध्रुवस्वामिनी को परिस्थिति के अनुसार पत्नी बनाने और रामगुप्त की विवाहिता होने से न बनाने को लेकर अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है।[५] बहिर्द्वन्द्व शकराज के दुर्ग में चन्द्रगुप्त और शकराजके

---

१. जयशंकर प्रसाद : `स्कंदगुप्त`, बारहवां संस्करण, सं० २०१३, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ० ५६ १३०

२. वही, पृ० ६८,९६,१०९

३. जयशंकर प्रसाद : `चन्द्रगुप्त`, पृ० ८४

४. जयशंकर प्रसाद : `ध्रुवस्वामिनी, सोलहवां संस्करण, सं० २०१७ वि०, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ० ३९

५. वही, पृ० ५५

दुर्ग में चन्द्रगुप्त और शकराज के मध्य दिखाया गया है ।[१] तथा नाटक के अंत में भी क्षण भर के लिए वैसा अवसर आया है ।[२] प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में गांधार नरेश अपने पुत्र और पुत्री दोनों की बातों को ठीक समझते हैं परन्तु किसी एक को स्वीकार करना है जिसके लिए अन्तर्द्वन्द्व उठता है ।[३] उधर अलका प्रणाय के कारण सिंहरण से अलग नहीं होना चाहती और उधर मालव भेजना आवश्यक समझकर अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है ।[४] कहीं चाणाक्य संकल्प विकल्प में पड़ा है ।[५] जन्मेजय का नागयज्ञ में बहिर्द्वन्द्व आर्यों और नागों में पर्याप्त मात्रा में हुआ है ।

हरिकृष्णा प्रेमी के नाटकों में बहिर्द्वन्द्व को प्रमुखता दी गई है । अन्तर्द्वन्द्वका अभाव दिखाई पड़ता है । अन्त द्वन्द्व का बाहुल्य लक्ष्मीनारायणा मिश्र के नाटकों में रहता है । मनोवैज्ञानिक विश्लेषणा आधुनिक अंग्रेजी नाटकों के अनुकूल है । जिसके फलस्वरूप चरित्र-वैचित्र्य को प्रधानता दी गई है । मिश्र जी ने समस्या नाटक ही अधिक लिखे हैं और समस्या नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व आवश्यक रूप में वर्तमान रहता है । समस्याएं अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देती हैं और अन्तर्द्वन्द्व समस्याओं को पैदा करता है । हरिकृष्णा प्रेमी ने ऐतिहासिक नाटक ही अधिक लिखे हैं जिनमें बाह्य संघर्ष का प्राचुर्य है किन्तु कहीं कहीं अन्तर्संघर्ष का भाव भी दिखाई पड़ता है जैसे रोशनआरा जैसी विनाशकारी स्त्री के मस्तिष्क में भी दुष्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्ति का संघर्ष चल रहा है -- मैं नारी हूं, नारी का अस्तित्व प्रेम करने के लिए है, संसार को स्नेह के निर्मल झरने में स्नान कराने के लिए है । मैं अपना स्वाभाविक धर्म छोड़कर हिंसा का भयानक खेल खेलने चली हूं कोई दिल में बार बार कहता है " रोशनआरा जरा सोच । आगे कदम बढ़ाने के पहले उसे परिणामों पर विचार करो" लेकिन हृदय में प्रतिहिंसा की कोलाहलमयता रही है उसके आगे यह धीमी आवाज "नक्कारखाने में तूती" के समान सुनाई नहीं देती ।[६] इधर शाइस्ता

---

१. जयशंकर प्रसाद: 'ध्रुवस्वामिनी', सोलहवां संस्करण, सं० २०१७, भारतीभंडार, इलाहाबाद, पृ० [illegible]

२. वही पृ० ६२

३. जयशंकरप्रसाद : 'चन्द्रगुप्त', बारहवां संस्करण, सं० २०१४वि०, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ० [illegible]

४. वही, पृ० १२०, ५. वही, पृ० ८३

६. [illegible] : 'स्वप्नभंग', [illegible] संस्क०, [illegible], दिल्ली, पृ० ३२

औरंगजेब और अन्य पुत्रों में विरोध होने के कारण अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। औरंगजेब अत्याचारी है किन्तु पुत्र है। दारा आदर्श गुणों से युक्त है, सत्पथ पर है। पिता होने के नाते किसी एक ओर जा नहीं सकता है। दारा का पक्ष ले अथवा औरंगजेब का। औरंगजेब संघर्ष के लिए तत्पर है। शाहजहाँ कहते हैं – "कुछ भी समझ में नहीं आता। चारों ही लड़के मेरे कलेजे के टुकड़े हैं। मेरे जीवन का प्रकाश हैं। मैं किसका मंगल और किसका अमंगल चाहूँ।"[१] यहाँ पिता के हृदय का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। 'बंधन' और 'छाया' में अन्तर्द्वन्द्व का प्राचुर्य है। 'बंधन' के प्रकाश में सद् व असद् भावनाओं का अन्तर्द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। सगर विजय में विमाता बर्हिष्मती, सगर को कैद करवा लेती है किन्तु जब हत्या करवाने के लिए घटनास्थल पर पहुँचती है तो उसे मुक्त कर देती है। बर्हिष्मती के अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

अम्बा का चरित्र अन्तर्द्वन्द्वों से भरा है। प्रेम के विश्लेषण में उलझी हुई अम्बा, अम्बालिका और अम्बिका के भोलेपन को देखकर कहती है – "ये छोकरियाँ कितनी प्रसन्न हैं, सौन्दर्य के आँगन में कली की तरह ये भोली नीरस पवन के प्रकम्पन से अनभिज्ञ हैं। संसार हँसता है पर इनकी हँसी में मुस्कराहट में, विलास में अपनापन है, आत्मा की उज्ज्वल चमक है। एक मैं हूँ जो सूर्य की किरणों से अग्नि बने हुए आतिशी शीशे की तरह जल रही हूँ। मेरी स्वच्छता मेरी जलन का कारण है।"[२] मिश्र जी के 'मुक्ति का रहस्य' में आशादेवी आरम्भ से अंत तक बुद्धिवादी विचारधारा और परम्परा संस्कारों के द्वन्द्व से युद्ध करती हुई पाई जाती है। मिश्र जी मूक अभिनय और स्वगत भाषण की तुलना करते हुए अपना विचार प्रकट करते हैं – "पात्रों की भीतरी भावनाओं और प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है उतना स्वगत नहीं। मनुष्य के भीतरी या
~~स्वगत में भी एक ही आदमी बैठे की आकृति का अभिनय कर खड़ा होकर~~------

१. हरिकृष्ण प्रेमी : 'स्वप्न भंग', दूसरा संस्करण, १९४६, आ०रा०ए०सं०क०लि०, दिल्ली, पृ० ३६

२. उदयशंकर भट्ट : 'अम्बा', प्रथमावृत्ति, सन् १९३५ ई०, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, लाहौर, पृ० ३०

भाव एकान्त में भी उसकी भावभंगी चेहरे आकृति या कभी कभी किसी तरह का काम कर देने में व्यक्त होते है, चुपचाप कुर्सी पर बैठकर, चारपाई पर लेटकर या जमीन पर खड़ा होकर व्याख्यान देने में नहीं।"[१] चरित्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए नाटककार ने अन्तर्द्वन्द्व की प्रक्रिया दिखाने के लिए स्वगतोक्तियों का सहारा अधिक अंश में लिया है। आशा देवी उमाशंकर से इतना प्रेम करती है कि उसकी पत्नी को ज़हर देकर मार डालती है किन्तु नारी की स्वाभाविक लज्जावश उमाशंकर से कह भी नहीं पाती है और अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। उमाशंकर के पुत्र मनोहर से बातचीत करते हुए आशादेवी के अन्दर का देव-दानव संघर्ष स्पष्ट प्रकट होता है।[२] अंतर्द्वन्द्व का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण उमाशंकर से आशादेवी के संवाद में नाटककार ने प्रदर्शित किया है। विष खाने के पूर्व आशादेवी के के हृदय का द्वन्द्व निम्नशब्दों में व्यक्त किया गया है —

" आशादेवी — आप जानते नहीं। इस डाक्टर ने आपकी कितनी हानि की।
उमाशंकर — मेरी हानि........ डाक्टर ने।
आशादेवी — हां, जिस दिन आप जानेंगे।
उमाशंकर — सुनूं भी।
आशादेवी — मैं नहीं कहूंगी.... शायद कहने के पहले मेरी जीभ गिर पड़ेगी।
उमाशंकर — (ध्यान से उसकी ओर देखने लगता है, आशा सिर नीचे कर लेती है) बात क्या है? इस तरह कांप क्यों रही हो? जहां तक मैं जानता हूं, डाक्टर ने कोई बुराई नहीं की मेरी।
आशादेवी — (सांस खींच कर) ईश्वर करे यही सच हो...... पर कैसे? जो मैं यह कह पाती।"[३]

इसमें स्वगतोक्ति, मूक अभिनय के द्वारा अन्तर्द्वन्द्व का प्रकटीकरण हुआ है।

"सन्यासी" में मिश्र जी ने अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति के लिए मूक अभिनय का सहारा लिया है जैसे मालती का विश्वकान्त की तस्वीर से अपना

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र —'मुक्ति का रहस्य,' पृ०४०, सं० २००७, साहित्य भवन, भूमिका
२. वही, पृ०
३. वही, पृ०

मुँह ढंक लेना, रमाकान्त का विश्वकान्त और मालती को दूर तक ए देखते रहना आदि ।[१] 'राक्षस का मन्दिर' में रघुनाथ के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व का पर्याप्त समावेश हुआ है क्योंकि वह अपनी दुर्बल वृत्तियों के कारण प्रत्येक कार्य में असफल रहता है। उसमें साहस, का अभाव है अत: अन्तर्द्वन्द्व में अधिक उलझता रहा। 'राजयोग' में रघुवंशसिंह गजराज सिंह, शत्रुसूदन सिंह और चम्पा सभी के हृदय में द्वन्द्व की तीव्रता है। रघुवंश सिंह स्वामिभक्ति के भाव से उद्वेलित होकर राज्य छोड़कर चला जाता है और पुश्तैनी मंत्रि-पद की रक्षा के विचार से विवश होकर वह पुन: लौट आता है। पर इन दोनों की रक्षा में अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित रहना पड़ा। सात्त्विक तथा मूक अभिनय के द्वारा अन्तर्द्वन्द्व का प्रकटीकरण 'सिन्दूर की होली' में मनोरमा के चरित्र में दिखाया है। मुरारीलाल के मन की लोभ वृत्ति तथा दया के भावों का द्वन्द्व बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किया गया है जिसकी चरित्र चित्रण में पीछे चर्चा हो चुकी है।

नाटककार ने अन्तर्द्वन्द्व का सफल चित्रण किया। मिहिरअली ने मनोजशंकर के पिता की हत्या में योग दिया है। अत: मनोजशंकर के पिता की मृत्यु का रहस्य जानने के लिए चिन्तामग्न दशा देखकर उद्विग्न हो जाता है। मनोज से वास्तविकता कह दे अथवा गुप्त रखे की स्थिति के मध्य अन्तर्द्वन्द्व में पड़ा है। अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में रहने के कारण मनोज तथा मिहिर दोनों ही अस्वस्थ हैं। रजनीकान्त की हत्या से वह विक्षिप्त-सा हो जाता है किन्तु अन्त में मनोज से रहस्य का उद्घाटन करने के पश्चात् वह स्वस्थ हो गया। मनोरमा तथा चन्द्रकला बौद्धिक तर्क वितर्क पर आश्रित हैं किन्तु दोनों ही आन्तरिक द्वन्द्व से पीड़ित हैं क्योंकि उनके जीवन में आधुनिक और पुरातन का संघर्ष आन्तरिक व्यथा का कारण है। अन्तर्द्वन्द्व के अतिरिक्त संवाद के द्वारा बाह्य द्वन्द्व आरम्भ से ही चलता है। रिश्वत और हत्या का द्वन्द्व, मनोजशंकर और चन्द्रकला संबंध को लेकर द्वन्द्व, मनोज और मनोरमा में प्रेम पर द्वन्द्व, चन्द्रकला और मनोरमा में आदर्शों का द्वन्द्व दिखाया

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'सन्यासी', पृष्ठ०, १९३१

गया है।[१]

पाश्चात्य प्रभाव के कारण आधुनिक युग के नाटकों में संघर्ष[२] कहीं ऊँची और नीची जाति के संघर्ष,[३] कहीं आधुनिक और प्राचीन के संघर्ष[४] का चित्रण किया गया है। सेठ गोविन्ददास के नाटकों में प्राय: मध्य तथा उच्च वर्ग का ही अधिक चित्रण हुआ है जिनमें उपर्युक्त सभी संघर्ष पाये जाते हैं। गोविन्ददास जी अन्तर्संघर्ष तथा बाह्य संघर्ष के चित्रण में अच्छी तरह सफल हुए हैं। अन्तर्संघर्ष में विशेष सफल दिखाई पड़ते हैं। सेठ जी के `कर्तव्य` में राम और कृष्ण के अन्तर्द्वन्द्व बड़े ही मनोवैज्ञानिक हैं। राम को परिस्थितिवश बालि-वध धोखे में करने के कारण अन्तर्संघर्ष का सामना करना पड़ता है।[५] सीता ग्रहण व तथा अग्निपरीक्षा आदि के समय राम के मन के अन्तर्द्वन्द्व अभिव्यक्त किये गए हैं।[६] भावना और कर्तव्यका संघर्ष मन में तीव्र रूप में चलता है। नि:शस्त्र शम्बूक को मारने में न्याय अन्याय का द्वन्द्व राम के मन में चल रहा है। राम चिंतन शील पात्र हैं अत: कर्तव्यपालन में भावना के सम्मिश्रण से अन्तर्संघर्ष में फँसे रहते हैं। जहाँ तक कृष्ण का संबंध है वह विषम परिस्थितियों में भी मायामोह तथा भावना के वशीभूत न होकर अपना कर्तव्यपालन करते हैं जिसमें अन्तर्संघर्ष को स्थान नहीं है। वह दृढ़संकल्प वाले राजनीतिज्ञ हैं। उनका स्वतंत्र विचार है। समाज की पिटीपिटी मर्यादाओं की सर्वथा उपेक्षा करते हैं।

`कर्ण` में विशेष रूप से कर्ण और कुन्ती द्वन्द्वात्मक भावनाओं से युक्त दिखाई पड़ते हैं। इसमें बाह्य संघर्ष से अधिक अन्तर्संघर्ष प्रभावशाली है। स्वगत कथन के द्वारा कर्ण तथा कुन्ती मन में उठते हुए संघर्ष को व्यक्त करते हैं

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र :`सिन्दूर की होली`, प्रथम संस्करण, `६१,भारती भंडार, बनारस सिटी ,प्रथम अंक, दूसरा अंक,तीसरा अंक।

२. सेठ गोविन्ददास :` प्रकाश`, दूसरा संस्करण, १९९२ वि०,महा०आ०मं०गो०, जबलपुर।

३. (क) सेठ गोविन्ददास :`कुलीनता`, द्वि०सं०,१९५८, विo०प्र०र०का०,गिरगांव,बंबई
(ख) ,, `कर्ण`, प्र०सं०, सं० २००३ वि०भ०प्र०सं०, ग्वालियर

४. लक्ष्मीनारायण मिश्र :`सिन्दूर की होली`, `६१वि०,भारती भंडार,वाराणसी

५. सेठगोविन्ददास :`कर्तव्य`,तीसरा सं.,१९६४, भारतीविश्व प्रकाशन, दिल्ली, पृ ३०-३१

६. वही, तृतीय अंक , पृ० ४४-४७

एक ओर कर्ण राधा-अधिरथ का पुत्र है अथवा कुन्ती और सूर्य का पुत्र है यसको लेकर अन्तर्द्वन्द्व में उलझा है दूसरी ओर कुन्ती ने कर्ण को बहाकर भूल की अथवा नहीं की, कर्तव्य पथ से हट गई ; आदि बातों को विचार करती हुई अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित है। कर्ण को सूतपुत्र कहकर कृष्ण तथा भीम आदि नीचा दिखा रहे हैं। ऐसे समय में कुंती का मानस में उथलपुथल होना पूर्णतया स्वाभिक है। पाश्चात्य नाट्यकला से अधिकाधिक प्रभावित होने के कारण सेठ जी प्राय: सभी नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने में सफल हुए हैं। `गरीबी या अमीरी` चरित्र प्रधान मनोवैज्ञानिक नाटक है जिसमें कमला तथा सच्चे अर्थों में विद्याप्रेमी , विद्याभूषण सबसे अधिक अन्तर्द्वन्द्वमय जीवन बिता रहे हैं। `अन्तर्संघर्ष` के चित्रण में कहीं कहीं बहुत अधिक लम्बे स्वगत कथन रखे गए है।[1] `कुलीनता` नाटक में बाह्य संघर्ष अधिक दिखाया गया है किन्तु अन्तर्संघर्ष भी कम नहीं है।

दुहरे चरित्रवाले पात्र —

हिन्दी नाट्य-साहित्य में दुहरे चरित्र के लोगों का समावेश विशेष रूप से समाज में फैले भ्रष्टाचार को प्रदर्शित करने के लिए किया गया है। वह बोलने में सिद्धान्तवादी है और कर्म में नितान्त भिन्न आचरण वाले हैं। ऐसे अनेकधारी रूप में समाज में बहुत लोग पाये जाते हैं। समाज, धर्म तथा राष्ट्र की सेवा का ढोंग रचने वाले व्यक्तियों में ऐसे आचरण विविध रूप में प्राप्त होते हैं। सामान्यत: सभी लोगों के लिए सामाजिक जीवन में दुहरा चरित्र अनिवार्य हो गया है क्योंकि मन के भाव बहुत ठीक न होने पर भी अधिक अंश में इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव आदि के प्रति शिष्टाचार या परिस्थितिवश श्रद्धा या प्रेम दिखाने को विवश होते है किन्तु उसमें कुटिलता का भाव न होने से किसी के लिए हानिकार नहीं होता। यहाँ दुहरे चरित्र से संबंध उन लोगों से है जिनके दुहरे चरित्र के कारण सामाजिक हानि होती रहती है।

---

1. सेठ गोविन्ददास : `कर्तव्य`, चतुर्थ अंक, पाँचवा दृश्य, तीसरा संस्करण, १९६४ भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली.

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दू जाति के सामाजिक आडम्बर पर `वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति` में तीखा व्यंग्य उपस्थित किया है जिसके लिए ढोंगी पात्रों की सृष्टि आवश्यक हो गई है। पाखंडी वैदिकधर्मानुयायियों से जनता को सावधान करने के लिए ऐसे पात्र निर्मित हुए किंतु इनका चरित्र चित्रण जितना स्वाभाविक हो सकता था, वैसा नहीं हुआ। दुहरे चरित्र की सृष्टि में नाटककार को सफलता नहीं मिली है। कंठी, माला, टीका को धारण किए पुरोहित मदिरा-पान एवं मांस भक्षण का समर्थन करता है तथा राजा, मंत्री आदि भी इसी चरित्र के हैं। ऐसी परिस्थिति, जिसमें इन पात्रों के दुहरे चरित्र का स्पष्ट प्रकाशन हो जाता, का अभाव पाया जाता है। इसमें पात्र अधिक अंश में धर्मशास्त्र की दुहाई देते हुए दुष्कर्म में प्रवृत्त हुए। अपने चरित्र पर आवरण डालने का विशेष प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता है। `सत्यहरिश्चन्द्र` के इन्द्र अवश्य दोहरा चरित्र-धारण किये हुए है। वह राजा हरिश्चन्द्र के सत्य, धर्म आदि सत्कर्मों की प्रशंसा सुनकर ईर्ष्या से भर उठे हैं। उन्हें चिन्ता है कि कहीं हरिश्चन्द्र धर्म करके उनका स्वर्ग न ले ले अत: उसे वह कठिन परीक्षा में डालना चाहते हैं जिसे नाटककार `आप ही आप` द्वारा अनेक बार प्रकट करता है। किन्तु नारद जी से अपना मन्तव्य पूरा होते न देखकर दूसरा चरित्र धारण करते हैं — `नहीं नहीं मेरी यह इच्छा थी कि मैं भी उनके गुणों को अपनी आँखों से देखता। भला मैं ऐसी परीक्षा थोड़े लेना चाहता हूँ जिससे उन्हें कुछ कष्ट हो।`[1] इन्द्र नारद को अप्रसन्न न होने देने के लिए दूसरा चरित्र धारण किए हैं और विश्वामित्र के क्रोध को प्रज्ज्वलित करके हरिश्चन्द्र को कष्ट में डाल देते हैं। राजा सूर्यदेव की मृत्यु के उपरान्त नीलदेवी को गायिका तथा चार सैनिकों को समाजियों का रूप अब्दुश्शरीफ की हत्या करने के लिए बनाना पड़ता है। गायिका अपने हाथों अमीर की हत्या करती है तथा छिपे हुए सैनिक और समाजी सहायता करते हैं।[2] यहाँ दुहरे चरित्र से दुष्ट प्रतिनायक की मृत्यु होती है। अमर बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ कहा

---

१. ब्रजरत्नदास :`भारतेन्दु नाटकावली` (प्रथम भाग) वि०सं०, २००८, रामना०, इलाहाबाद, पृ० ७४

२. वही — चौथे दृश्य में, पृ० ४४७

जाता है। वह हिन्दुओं तथा मुसलमानों को एक साथ प्रसन्न रखना चाहता है तथा हिन्दुओं को प्रसन्न रखकर उनपर आधिपत्य भी कर लेता है जिसके लिए उसे दूहरे चरित्र का सहारा लेना पड़ता है।[१]

हिन्दी नाटक साहित्य में ऐसे अनेक पात्र मिलते हैं जिनकी कथनी और करनी में उल्लेखनीय अन्तर दिखाई पड़ा। यशपाल ऐसा ही नेता है जिसके दोचेहरे हैं। वे नेता गीरी का बहाना बनाकर अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ साधना में जुटा है। गांधीवादी बनता है और अपने प्रति उपकारी बुलन्द से ईर्ष्या भाव लेकर उसके विरुद्ध अनेक दुष्कर्म करता है। पुरस्कार की अभिलाषा में एक क्रान्तिकारी को गिरफ्तार कराने का कार्य करता है।[२] कहीं मुनीश्वर वेश्या सुधार के बहाने आश्रम खोलता है और उन औरतों की फोटों खींचकर बाजार में बेचता है। आधा स्वयं लेता है और बेचने वाले को देता है।[३] रामलाल का सारा पैसा आश्रम के नाम पर ले लेता है। मंत्री, नेता, कौंसिल मेंबरों के दूहरे चरित्र वाले रंगेसियार होने का चित्रण भी प्राप्त होता है।[४] इस प्रकार ऐसे नाटकों में अनेक स्थानों पर दिखाई देते हैं।

हिन्दी नाटकों के कार्य व्यापार को परिचालित करने के लिए दिव्य अर्थात् अलौकिक मानव तथा प्रतीक पात्रों का समावेश किया गया है। प्रारम्भिक नाटकों में नायक, प्रतिनायक, विदूषक, नायिका का सम्मिलित होना दिखाया गया है। वस्तुतः भारतेन्दु के समय में प्रहसनों की विशेष रूप से रचनाएं होने के कारण विदूषक उसी में समाविष्ट हुए और नाटकों में नायक, प्रतिनायक, नायिका के संवाद, कार्यव्यापार द्वारा चरित्र चित्रण की सहायता से कथा संगठन हुआ। प्रारम्भ में नायक आदर्शचरित्र के रूप में हमारे सामने आए, धीरे धीरे उनमें मानवीय भावनाओं का समावेश प्रसाद के नाटकों से आरम्भ हुआ फिर तो उनका बिल्कुल

---

१. बाबू रत्नचन्द : "न्यायसभानाटक", पृ० भाग, १८८० ई०
२. सेठ गोविन्ददास : "दुःख क्यों ?", १९४६ ई०
३. लक्ष्मीनारायण मिश्र : "राक्षस का मन्दिर", तृतीय सं०, १९५८, वि०प्र०पु०, वाराणसी, पृ० १९६
४. सेठ गोविन्ददास : "प्रकाश" प्र. सं., १९३५ ई., म.स.मं. गो. जबलपुर

ही यथार्थ मानव रूप दिखाई पड़ने लगा । बौद्धिकता के साथ साथ स्वाभाविक पात्र-योजना के प्रति विशेष सतर्कता दिखाई पड़ी । पौराणिक पात्रों को भी मानव-भाव भूमि पर उतार कर लाया गया । नाटक के पात्रों से प्रेक्षक का तादात्म्य दिखाना आवश्यक समझा गया । चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व को महत्वपूर्ण स्थान मिला । चरित्रों को मनोवैज्ञानिक गहराई में उतर कर देखने का प्रयत्न हुआ फलस्वरूप असत् चरित्र भी सहानुभूति के पात्र बने । किन परिस्थितियों में कौन पात्र क्यों असत् बन सका, इसका मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया गया । सुदामा अब दीन, भिक्षावृत्ति पर निर्भर नहीं रहे । उनके हाथों में द्वापर की राज्यक्रान्ति करा देने की शक्ति दिखाई दी । स्त्रियों में अपना स्वत्व पहचानने की बुद्धि जगी । अब वे पुरुष के हाथों का खिलौना मात्र नहीं रह गई । अब नायकतथा नायिका केवल उच्च वर्ग के ही नहीं रह गए । मध्यम वर्ग के लोग विशेष रूप से प्रमुख पात्र के रूप में आने लगे । पारसी नाटकों में विदूषक अवश्य रहते थे किन्तु साहित्यिक नाटकों में इनका बहिष्कार करने का प्रयत्न हुआ । तृतीय युग में तो विदूषक बिल्कुल ही समाप्त हो गए । गम्भीर नाटकों में विशृंखलता न आने देने के लिए इन्हें अनुपयोगी सिद्ध किया गया । प्रतिनायकों के प्रति शास्त्रीय नियमावलि की रुचि नहीं दिखाई गई । दूसरे चरित्र वाले पात्र भी कम नहीं रहे । प्रारम्भ में शेक्सपियर तथा कालिदास आदि का प्रभाव पात्रों के चरित्र चित्रण पर प्रतीत होता है किन्तु परवर्ती नाटककारों शा और इब्सन से अधिक प्रभावित रहे फिर भी अपने स्वतंत्र चिंतन से अधिक कार्य किया ।

अध्याय — ११

रस

अध्याय — ११

रस

भारतीय नाट्य-रचना-पद्धति में रस दृश्यकाव्य का सर्वाधिक महत्व-पूर्ण तत्त्व है। अग्निपुराण में मुख्य रस चार माने गए हैं — शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। इन चारों के आधार से शेष रसों की उत्पत्ति होती है। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुणा, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक का आविर्भाव हुआ।[१] अर्थात् मुख्य चार रस स्वाधीन हैं तथा स्वाभाविक हैं और शेष परतन्त्र हैं। अग्निपुराण भी शान्त रस की स्थिति को स्वीकार करते हुए नौ रस मानता है किन्तु शान्त का उल्लेख मात्र ही पाया जाता है। अग्निपुराण कहता है कि जिस प्रकार बिना दान के लक्ष्मी सुशोभित नहीं होती उसी प्रकार काव्य भी रसों के बिना शोभित नहीं होता।[२]

रस निष्पत्ति सम्बन्धी विवाद—

आचार्य भरत का प्रसिद्ध श्लोक है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[३] इसी सिद्धान्त को लेकर

---

१. शृंगाराज्जायते हास्यो रौद्रात् करुणोरस:
   वीराच्चाद्भुतनिष्पत्ति: स्याद् बीभत्साद्भयानक: ।।७।।
   — अग्निपुराण, तृतीय अध्याय, श्लोक ७

२. अग्निपुराण, तृतीय अध्याय, सूत्र ४, ६

३. "विभावानुभाव संयोगाद्रसनिष्पत्ति:"
   — भरत का "नाट्यशास्त्र", षष्ठ : अध्याय:, श्लोक ३२

अभिनव गुप्त , भट्ट लोल्लट, शंकुक आदि के द्वारा अनेक विवाद तथा आलोचनाएं उठ खड़ी हुईं जिनको लेकर भट्ट लोल्लट ने उत्पत्तिवाद, शंकुक ने अनुमिति वाद, भट्ट-नायक ने भुक्तिवाद और अभिनव गुप्त ने अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की । फल-स्वरूप कई सिद्धान्त चल पड़े । भरत के इस कथन को लेकर भट्ट लोल्लट ने व्याख्या कि कि रस वस्तुतः नायक आदि पात्रों में उत्पन्न होता है । नट, वेशभूषा, वाणी, क्रिया आदि से उनका अनुकरण करता है जिससे उनमें भी रस की प्रतीति होती है और प्रेक्षक चमत्कृत होकर आनंदित हो जाते हैं पर उनके हृदय में वस्तुतः रस नहीं होता । इसने "निष्पत्ति" शब्द पर विशेष रूप से भरत का अर्थ अनुमित माना है।(शंकुक ने निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति माना) क्योंकि प्रेक्षक अभिनेता को नायक समझता है और नायक की मनोवृत्तियों का आरोप कर स्वयं रस। आस्वादन करता है । भट्टनायक ने प्रेक्षक के हृदय में रस अव-स्थिति मानी है । और अभिनव गुप्त ने व्याख्या की है कि संयोग का अर्थ व्यक्त या व्यंजित होना है और निष्पत्ति का अर्थ आनन्द रूप में प्रकाशित होना है ।

धनिक धनंजय एवं बाद के शास्त्रकारों ने रस की स्थिति सहृदय प्रेक्षक में मानी है । विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा स्थायी भाव जब परिपुष्ट होकर आस्वाद्य बना दिया जाता है तो वही रस कहलाता है ।[१] प्राचीन नाट्याचार्यों ने रस का सर्वाधिक महत्व घोषित किया तथा रूपक को रसों से आश्रित बताया । भरत मुनि के अनुसार रसों के आधार भाव हैं । जिस प्रकार नाना भांति के पदार्थों से व्यंजनों की भावना होती है उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ मिलकर रसों की निष्पत्ति करते हैं जिस प्रकार बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष से पुष्प तथा फल होते हैं उसी प्रकार समस्त रस मौलिक हैं और उनके द्वारा भावों की व्यवस्था होती है ।[२] भाव, विभाव, आलंबन, उद्दीपन अनुभाव, संचारी, रस तथा उनके भेद आदि के विषय में भारतीय आचार्यों ने अत्यन्त विस्तार और गहराई के साथ विचार किया है ।[३] अतः उनको यहां दुहराना

---

१. धनिक धनंजय : "दशरूपकम्" , चतुर्थः प्रकाशः, कारिका १

२. भरत मुनि : नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्यायः , श्लोक ३५, ३८

३. (क) धनिक धनंजय: दशरूपकम् , चतु०प्र०, कारिका ६ से ६६ तक
(ख) भरत : "नाट्यशास्त्र" सातवाँ अध्याय :, श्लोक १६-३८ तक
(ग) मम्मट : "काव्य प्रकाश", चतुर्थ उल्लास (पूरा) आदि

निरर्थक है । यहाँ तो इतना ही कहना है कि जब पाठकों या दर्शकों के हृदय में रति आदि स्थायी भाव स्वाद के योग्य बन जाते हैं तो उन्हें रस की संज्ञा दी जाती है । चेतनशील प्राणी के लिए नाटक का यह स्वाद अनुपम आनन्ददायक होता है । इस लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति रसिक सामाजिकों को होती है । आलंबन , उद्दीपन विभाव भ्रू विक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव , रोमांच स्वेदादि सात्विक भावों एवं ग्लानिश्रम ,शंका, असूयादि व्यभिचारी भावों के द्वारा नाटक का प्रदर्शन देखकर परिपुष्टावस्था को प्राप्त किया हुआ स्थायीभाव रसदशा को प्राप्त करता है ।

संवेग—

भारतीय नाट्याचार्यों ने नाटक में रस की स्थिति का गहरा अव-लोकन किया है तथा उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों एवं उपभेदों का विवेचन किया है किन्तु पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों, ने इसका वर्णन संवेग, जिसे अंग्रेजी में 'इमोशन' कहते हैं, नाम देकर किया है । भारतीय काव्य शास्त्र में नाटक के संकलित एवं समन्वित प्रभाव को अंगीरस का पोषक कहा गया है तथा अन्य रस अंग रूप में इस प्रधान रस का पोषण करते हैं । अरस्तू ने भी अपने काव्यशास्त्र में कारुणिक व्यापार के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं कि ट्रैजेडी को करुणा एवं त्रास जगाने वाले व्यापारों का अनुकरण करना चाहिए क्योंकि यही ट्रैजेडी के अनुकरण का व्यावर्तक धर्म है । इन भावों को जाग्रत करने में उन्होंने नाटककारों को राय दी है कि भाग्य परिवर्तन के प्रदर्शन में किसी सत्पात्र का सम्पत्ति से विपत्ति में पतन न दिखाया जाये क्योंकि इससे करुणा और त्रास की उद्बुद्धि तो नहीं होगी —आघात अवश्य पहुँचेगा । तथा दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष से बढ़कर ट्रैजेडी की आत्मा के प्रतिकूल कोई स्थिति नहीं हो सकती । अत्यन्त खल पात्र के पतन से भी नैतिक भावों की सन्तोष तो अवश्य होगा किन्तु करुणा अथवा त्रास का उद्बोध नहीं होगा क्योंकि करुणा निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से जाग्रत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से ।[1]

---

१. डॉ० नगेन्द्र —अरस्तू का काव्यशास्त्र , सं० २०१४, प्र०सं०, पृ०३२—३३, अनुवाद देख है ।

अरस्तु का उपरोक्त सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि पाश्चात्य यूरोपीय नाटककारों में भी दर्शकों के संवेगों को जागृत करने की प्रवृत्ति पाई जाती है । संवेगों के उद्बोध के लिए अरस्तु ने अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों का विश्लेषण किया है जिससे ट्रैजेडी का रागात्मक प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । हमारे यहां तो "विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्ति :" का सिद्धान्त कार्य रूप में लाया जाता है जबकि अरस्तु ने मोटे रूप में यह कह दिया है कि त्रासदी से एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है जो अनुकरण के माध्यम से करुणा और त्रास जगाकर निष्पन्न होता है ।[1] डॉ० नगेन्द्र ने ट्रैजेडी के रागात्मक प्रभाव के सम्बन्ध में अरस्तु के सिद्धान्तों के आधार पर लिखा है —

१. अन्ततः आस्वाद रूप होता है ।
२. मानव दुर्बलता की करुणा-विवश चेतना से उद्भूत त्रास और करुणा की उद्बुद्धि पर आश्रित रहता है ।
३. नैतिक क्षोभ और वितृष्णा से मुक्त होता है ।
४. आश्चर्य समन्वित होता है ।
५. प्रत्यक्ष तथा ऐन्द्रिक अनुभूति न होकर "भावित" अनुभूति रूप होता है ।
६. कवि कौशल के प्रति प्रशंसा भाव से युक्त होता है ।[2]

विरेचन सिद्धान्त—

विरेचन सिद्धान्त के द्वारा अरस्तु ने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार मानव करुणा भाव की अनुभूति आस्वाद रूप होती है । अतः प्राच्य और पाश्चात्य दोनों सिद्धान्तों का रागात्मक प्रभाव एक ही समान है । दोनों ही नाटक को

---

१. डॉ० नगेन्द्र : 'अरस्तु का काव्यशास्त्र', प्र०सं०, सं० २०१४, वि०पृ०, ३६
२. वही, पृ० ८६ (भूमिका से)

आस्वाद बताते हैं किन्तु अन्तर यह है कि एक नाटक में रस की स्थिति अनिवार्य बताता है तथा रस को प्रमुख तत्त्व मानता है तो दूसरा उसे सामान्य रूप में ग्रहण करता है। परन्तु यह कहना हमारी भूल प्रतीत होती है कि रस जैसी दशा का वर्णन यूरोपीय नाट्यशास्त्र में नहीं पाया जाता है। आखिर अरस्तु ने विरेचन सिद्धान्त की व्याख्या नाटक के लिए क्यों की है? भावुक पात्रों की संवेदनशीलता को स्पंदित करके उन्हें एक विशिष्ट प्रकार का आनन्द प्रदान करने के लिए ही ऐसी योजना यूरोपीय नाट्यसाहित्य में रखी गई है। "त्रासदी किसी गंभीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"[1] डॉ० नगेन्द्र ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि अरस्तु स्वयं वैद्य के पुत्र थे अतः विरेचन शब्द निश्चय ही उन्होंने चिकित्सा शास्त्र से लिया था, जहाँ उसका अर्थ था रेचक औषधि द्वारा अशुद्ध तथा अस्वस्थ पदार्थ का बहिष्कार कर शरीर व्यवस्था को शुद्ध स्वस्थ करना। अरस्तु के परवर्ती व्याख्याकारों ने इसके प्रायः तीन अर्थ किये हैं -- (१) धर्मपरक (२) नीति परक (३) कला परक। प्रो० गिल्बर्ट मरे का कथन है कि यूनान में दि ओन्युसस नामक देवता से सम्बन्ध उत्सव अपने आप में एक प्रकार की शुद्धि का प्रतीक था --विगत वर्ष के कलुष और विष तथा पाप और मृत्यु से दुःखमुक्ति शुद्धि का प्रतीक। थोड़े में धर्मपरक अर्थ का तात्पर्य है कि बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शांति।[2]

२. मानव मन अनेक मनोविकारों का आगार है जिनमें करुणा(शोक) और भय --ये दो मनोवेग--दुःखद हैं। ट्रेजेडी रंगमंच पर इन्हें अतिरंजित रूप में प्रस्तुत कर कृत्रिम अतः निर्दोष उपायों से प्रेक्षक के मन में स्थित इन मनोविकारों

---

१. डॉ० नगेन्द्र -- 'अरस्तु का काव्यशास्त्र,' प्र०सं०, सं० २०१४, वि० पृ० १६
 - अनुवाद मेरा है
२. वही, पृ० [illegible]

के दंश का निराकरण और फलस्वरूप मानसिक सामंजस्य का स्थापन करती है अत- एव विरेचन का नीति परक अर्थ हुआ विकारों की उत्तेजना द्वारा सम्पन्न अन्त- र्वृत्तियों का सामंजस्य अथवा मन की शांति एवं परिष्कृति--मनोविकारों के उत्तेजन के उपरान्त उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता। यूरोप में शताब्दियों तक नीति परक अर्थ का प्राधान्य रहा। कार्नेई, रेसीन आदि ने अपने अपने ढंग से इसी को प्रतिपादित किया है।[१]

३. कलापरक अर्थ का तात्पर्य है कलात्मक परितोष।[२] परन्तु इसमें विरेचन सिद्धान्त का आस्वाद रूप कहाँ तक आता है, संशयात्मक है।

विरेचन सिद्धान्त और आनन्द--

विरेचन सिद्धान्त ट्रैजेडी के आस्वाद की समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। त्रास और करुणा (शोक) दुःखद अनुभूति के दो भेद हैं। त्रास में किसी आसन्न, घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति रहती है और करुणा में किसी निर्दोष व्यक्ति के घातक अनिष्ट के साक्षात्कार से और दोनों में अनिष्ट-भावना प्रच्छन्न रूप में रहती है।[३] मानसिक विरेचन द्वारा कटु उत्तेजना एवं मनोविकारों का शमन किया जाता है। इससे मन की विशदता का आभास होने लगता है। मनःस्थिति कटु विकारों से मुक्त होने के कारण निश्चय ही आनन्ददायिनी होती है। प्रो० बुचर[४] ने इस सम्बन्ध में कहा है कि त्रास और करुणा प्रत्यक्ष जीवन में दुःखद अनुभूतियां हैं, परन्तु ट्रैजेडी में वैयक्तिक कटुता से

---

१. डॉ० नगेन्द्र : 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', प्र०सं०, सं० २०१४ वि०, पृ० ८८
२. वही, पृ० ८९
३. डॉ० नगेन्द्र द्वारा अरस्तू के भाषाशास्त्र से उद्धृत " अरस्तू का काव्यशास्त्र" से, प्रथम संस्करण, २०१४ वि०, पृ० ९१
४. वही, पृ० ९१

मुक्त, साधारणीकृत रूप में उपस्थित होती है । 'स्व ' की जड़ता से मुक्त होकर विस्तार एवं उन्नयन एक उदात्त और सुखद अनुभूति प्रदान करता है । दूसरा कारण यह है कि अव्यवस्था में व्यवस्था की स्थापना ही अरूप को रूप देना है । यही कलात्मक सृजन है जिसमें त्रास और करुणा का दंश नष्ट हो जाता है, दुःख सुख की अनुभूति प्रदान करता है ।

विरेचन और मनोविज्ञान —

विरेचन सिद्धान्त पूर्णतः मनोविज्ञान पर आधारित है । मनोविज्ञान अतृप्ति या दमन को मानसिक रोगों की जड़ मानता आया है तथा वह इनका उपचार अतृप्ति को तृप्ति में परिवर्तित करके और दमन की उचित अभिव्यक्ति और परितोष करके करता है । सभी भाव हमारे अवचेतन मन में स्थित रहते हैं । मन के स्वस्थ रहने से शरीर भी स्वस्थ रह सकता है अतः अवचेतन मन में स्थित भावों को चेतन स्तर पर लाकर उनको तृप्त करने से अनेक रोग एवं ग्रंथियाँ दूर की जा सकती हैं । चेतन अनुभव का विषय बन जाते हैं पर घुटन समाप्त हो जाती है, मन की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा चित्त का विस्तार होता है । विरेचन मनोविज्ञान का विषय है ।

विरेचन सिद्धान्त और करुण रस —

अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त और भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित करुण रस में पर्याप्त समता पाई जाती है । ट्रैजेडी में करुणा और भय आदि मनोवेग विशेष रूप से उद्बुद्ध होते हैं तथा भारतीय काव्यशास्त्र के करुण रस में, जिसका स्थायी भाव शोक है, भी करुणा का ही प्राधान्य है । करुणा के साथ त्रास का अस्तित्व दोनों ही स्वीकार करते हैं । विपत्ति के साक्षात्कार से हमारे मन में करुणा का प्रादुर्भाव होता है । यह करुणा आशंका को जन्म देती है । विपत्ति की आशंका ही त्रास है । दोनों के दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर यह है कि अरस्तू नायक की करुणा[illegible] अन्त को ट्रैजेडी के अनुकूल नहीं मानते हैं और भारतीय काव्यशास्त्र में मृत्यु ही वर्जित है किन्तु यह तात्कालिक भी हो सकता है । जैसे

सीता के दुर्भाग्य से उत्पन्न करुणा में त्रास का समावेश नहीं है किन्तु करुणा इससे अधिक कहीं और नहीं। करुणा रस की अनुभूति दु:खात्मक होते हुए भी रसात्मक कही गई है। अरस्तू तथा प्राचीन भारतीय आचार्यों ने करुणा भाव को विशेष महत्व प्रदान किया है। करुणा प्रसंग को लेकर चलने वाला काव्य उच्च कोटि का माना गया है। डॉ० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि " अपनी इष्ट हानि या अनिष्ट प्राप्ति से जो 'शोक' नामक वास्तविक दु:ख होता है, वह तो रसकोटि में नहीं आता, दूसरों की पीड़ा, वेदना देख जो 'करुणा' जगती है, उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा सकती है। शोक अपनी निज की इष्ट हानि पर होता है और 'करुणा' दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है। करुणा ही एक ऐसा व्यापक भाव है जिसकी प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति सब रूपों में और सब दशाओं में रसात्मक होती है।"[1]

रस का परिपाक ऐसी अवस्था में होता है जब सहृदय का चित्त रजोगुण, तमोगुण का दमन करके सतोगुण से परिव्याप्त हो जाता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों की भाँति अरस्तू ने भी विरेचन सिद्धान्त के द्वारा कटु भावों का रेचन और उससे उत्पन्न मन: शान्ति अर्थात् रजोगुण तमोगुण के तिरोभाव के उपरान्त सतोगुण का शेष रह जाना ही तो माना है। अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त और भारत के रस सिद्धान्त में मूलत: अन्तर होते हुए भी बहुत भिन्न नहीं है। रसास्वाद आनन्द स्वरूप कहा गया है चाहे वह करुणा रस हो चाहे शृंगार रस या इत्यादि। रस दशा में प्रेक्षक का मन विकारजन्य मलिनता से मुक्त हो जाता है।

बी०बी० मेयर ने अपनी पुस्तक में कहा है कि किसी अच्छे नाटक की प्रणाली के अन्तर्गत संवेगों को जागृत करने के लिए कार्यव्यापार को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। वह कहते हैं कि नाटककार के लिए दर्शकों में संवेगों को जागृत कर करने के लिए अभिप्राय कार्यव्यापार का तत्पर मार्ग है।[2] इसके आगे वह कहते

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल : " चिन्तामणि, प्रथम भाग, १९५८, इंडियन प्रेस, प्रा०लि०, प्रयाग, पृ० १४२

२. बी०बी० मेयर : ड्रैमेटिक टेक्नीक, १९४७, पृ० २१

है कि कार्य व्यापारों की शक्ति शब्दों से अधिक होती है ।[1] कार्यव्यापारों के द्वारा चरित्रों पर प्रकाश पड़ता है और पात्रों के प्रति हमारी सहानुभूति बढ़ती है । यह सहानुभूति रुचि की तीव्रता के साथ दर्शकों में संवेग का रूप ले लेता है ।

रस--

हिन्दी नाटक साहित्य में केवल रसोत्पत्ति के लिए लिखे गए नाटकों का सर्वथा अभाव दिखाई पड़ता है किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता है कि हिन्दी नाटकों में रसों की सृष्टि ही नहीं हुई है । हिन्दी नाटक का प्रादुर्भाव संस्कृत नाट्य साहित्य तथा पाश्चात्य नाट्य साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप हुआ । अतः यदि पाश्चात्य के अनुकरण पर युगीन समस्याओं के समाधान हेतु हिन्दी नाटकों में नाना प्रकार के उद्देश्यों की छटा परिलक्षित होती है तो प्राच्य संस्कृत नाटकों के प्रभावस्वरूप कुछ नाटकों में रस की सृष्टि भी 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रसनिष्पत्तिः' के आधार पर हुई है किन्तु अपने नाटक के निर्माण में नाटककार उद्देश्य पक्ष को रस की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह स्पष्ट कर पाया है । प्राचीन नाट्याचार्यों के अनुसार रस नाटक का प्रधान तत्त्व है क्योंकि अलौकिक आनन्द की प्राप्ति ही नाट्य रचना का उद्देश्य होता था और अर्वाचीन हिन्दी नाटकों का प्रमुख उद्देश्य यथार्थ के चित्रण द्वारा समाज सुधार, राष्ट्रप्रेम आदि रहे गए हैं और गौण रूप में मनोरंजन को लिया गया है ।

शृंगार रस--

शृंगार रस प्रधान नाटकों में 'चन्द्रावली'[2], उषा अनिरुद्ध नाटिका'[3]

"Actions speaks louder than words"

1. वीरवीर कैसर : ड्रैमैटिक टैक्नीक, १६७० ई०, पृ० २१

2. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र:--चन्द्रावली नाटिका, संवत् १६३३

3. शिवनन्दन त्रिपाठी : 'उषाअनिरुद्ध नाटिका' , १६०० ई०, प्रथम बार,

महाराज नाटक,[1] विद्याविनोद नाटक,[2] आदि है। 'चन्द्रावली' में कृष्ण आलंबन और चन्द्रावली आश्रय है। सखियों का शृंगारपूर्ण वार्तालाप, वर्षावर्णन, हिंडोला, वर्णन आदि उद्दीपन का कार्य करते हैं। चन्द्रावली का आंसू बहाना, उन्माद, पीला हो जाना आदि अनुभाव हैं। चन्द्रावली और कृष्ण के परस्पर प्रेमभाव के कारण उत्पन्न रति स्थायी भाव है। स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले संचारी भी प्राप्त होते हैं। चन्द्रावली के कथन--' मच्छे लाखै भनूठे निलज्ज हो....... ' में उग्रता संचारी[3] ' देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि....... में स्मृति संचारी',[4] तू केहि बिलपति चकित मृगी सी......[5] में धृति संचारी मन की कासों पीर सुनाई,[6] ... में उन्माद संचारी के दर्शन होते हैं। इस नाटिका में वियोग शृंगार की प्रधानता है। चतुर्थ अंक के अंत में थोड़ी देर के लिए संयोग शृंगार का अवसर आया है। इसमें विरह की सभी दशाएं परिलक्षित होती हैं। अभिलाषा, चिंता, स्मरण, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण, मूर्च्छा, के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। 'चन्द्रावली नाटिका' में रस निष्पत्ति पूरी तरह हो पाई है किन्तु नाटक कार का उद्देश्य प्रेमसिद्धान्त का निरूपण करना है। इसका संकेत भारतेन्दु ने नाटिका के आरम्भ में 'समर्पण' में ही कर दिया है कि इसमें अलौकिक प्रेम का वर्णन किया गया है।

उपरोक्त अन्य नाटकों में भी 'उद्धवशीठि नाटिका' में वियोग-शृंगार की प्रधानता है। कृष्ण आलम्बन है तथा राधिका आश्रय। वियोगशृंगार की लगभग सभी अवस्थाएं दिखाई गई हैं। राधिका कृष्ण की तस्वीर में गला समझकर हाथ डालने के प्रयत्न में निराश होकर जड़ता को प्राप्त होती है।[7] कहीं

---

१. लालकमलबहादुर मल्ल--'महाराज नाटक', [illegible], सा०पु०लि०का०भा०
२. श्रीकृष्णानन्द त्रिवेदी--'विद्याविनोद नाटक', १८६४, भा०मि०प०
३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'चन्द्रावली', संवत् १९३३, पृ० ११६ (ब्रजरत्नदास की भारतेन्दु नाटकावली से)
४. वही, पृ० ४०३
५. वही, पृ० ४१५-१६
६. वही, पृ० ४१६-४६
७. [illegible] त्रिपाठी : 'उद्धवशीठिनाटिका', [illegible] ई०, पुष्पहार, पृ० २४

अभिलाषा, चिन्तन, स्मृति, गुण कथन, उन्माद आदि दशाएं चित्रित हैं। चिन्ता अभिलाषा आदि से उत्पन्न स्वेद, अश्रु, रोमांच आदि अनुभाव जड़ता दैन्य, स्मृति मोह, उन्माद ,विषाद , उत्सुकता आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति की योजना रखी गई है। अंग रूप में हास्य आदि रसों की योजना भी की गई है।

नाम के अनुसार महारास नाटक में शृंगार रस की प्रधानता है। संयोग पक्ष तब है जब कृष्ण महारास में सम्मिलित रहते हैं तथा वियोग पक्ष में कृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। कृष्ण आलंबन तथा गोपियाँ आश्रय हैं। वृन्दावन का मनोहर कुंज तथा सुखद यमुना तट और पूर्णिमा की धवलचांदनी उद्दीपन का कार्य करती हैं। भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव, हर्ष, ग्लानि, गर्व, उन्माद, उत्सुकता, चपलता, आतुरता , दैन्य, चिन्ता (जब कृष्ण गायब हो जाते हैं) आदि संचारी भावों ने मिलकर रस की पुष्टि की है। 'विद्याविनोद नाटक' में अंगीरस शृंगार है। आलंबन नायक नायिका तथा उद्दीपन मंदिर में पूजा के समय की परिस्थितियाँ हैं।

शृंगार रस तीन प्रकार के माने गए हैं - अयोग,विप्रयोग, संयोग। प्रवास से विप्रयोग दो प्रकार का होता है —एक में कार्यवश प्रवास होता है और दूसरे में भ्रम अथवा शाप के कारण। दूसरा अयानक होता है। 'प्रभासमिलन नाटक' राधा का कृष्ण से वियोग शाप के कारण हुआ है। ज्यों ही शाप की अवधि पूरी होती है, कृष्ण राधा, नन्द-यशोदा तथा अन्य ब्रजवासियों से मिलते हैं। जहाँ कृष्ण राधा से मिलते हैं वहाँ रति समझी जायगी। वस्तुतः इसमें भक्ति रस प्रधान रति है किन्तु शृंगार, वात्सल्य, करुणा आदि के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं।

<u>वीर रस</u> —

भारतेन्दु युग (१८५०– १९००) में वीररस पूर्ण अनेक नाटक प्राप्त होते हैं। बाद के युगों में भी ऐसे नाटक लिखे गए जिनमें वीर रस का अनुभव होता है किन्तु उनका उद्देश्य रस की पुष्टि करना कदापि नहीं है वरन् देशप्रेम, राष्ट्रीयता

का भाव ओज गुण के द्वारा जाग्रत करने की मूल प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु युग के नाटकों में भी वीररस की सृष्टि अवश्य हुई है किन्तु इनका उद्देश्य भी गुलाम भारत के आलसी लोगों में ऐतिहासिक नाटकों के वीरता पूर्ण कृत्यों के द्वारा ओज भाव जाग्रत करके राष्ट्र को पराधीनता से मुक्त कराने में सहयोग देना है।

वामनाचार्यगिरि,[१] राधाचरण गोस्वामी,[२] माड़ूणीलाल,[३] जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द,[४] लोकनाथ सिलाकारी,[५] द्वारिकाप्रसाद मौर्य,[६] कृष्णलाल वर्मा,[७] यमुनाप्रसाद त्रिपाठी,[८] गोकुलदास 'वैश्य',[९] भंवरलाल सोनी,[१०] ब्रजेश मिश्र[११] का नाटक वीर रस का उद्रेक करने में पूर्णतया सफल है। इनमें वीर रस अंगी है और अंग रूप में करुणा, भयानक रौद्र, वीभत्स रसों का समावेश हुआ है। वीर रस के नाटकों में हास्य, शृंगार और शान्त रसों की घुसपैठ नहीं होनी चाहिए, इस नियम का सर्वत्र पालन हुआ है। इसके अतिरिक्त गोपाल राम

१: वामनाचार्य गिरि-:'वारिदनाद वध व्यायोग,' १९०४ ई०, सं० १

२: राधाचरण गोस्वामी:-'अमरसिंह राठौर,' प्रथम संस्करण, १८९५ ई०

३. माड़ूणीलाल :-'वीर राजपूत,' प्रथम बार, केशी०म०स्टा०प्रे०पु०दी०, पृ०
· एवं मु०

४: जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द :'प्रताप प्रतिज्ञा,' प्र०सं०, १९२९ ई०, कि०भ०प्रा०

५: पं० लोकनाथ सिलाकारी:- 'वीर ज्योति', सन् १९२५ ई०, श्री स०का०प्रा०

६. श्री द्वारिकाप्रसाद मौर्य :'हैदरअली', प्रथम संस्करण, १९३४ ई०, बी०एल०प्र०,
· बनारस सिटी।

७: कृष्णलाल वर्मा :'बन्दीर सिंह,' प्रथम संस्करण, म०औ०र०

८. यमुनाप्रसाद त्रिपाठी :'स्वाधीनता या मौत', प्रथम संस्करण, १९३६ ई०,
· श्री भा०बा०भा०, लखनऊ

९: गोकुलदास वैश्य-:'भारत विजय', प्रथम बार, १९२२ ई०, ने०पु०नि०लि०

१०: भंवरलाल सोनी :'वीरकुमार छत्रसाल, प्र०सं०, १९२१, सा०नि०का० ०(म०प्रा०)

११. ब्रजेश मिश्र ए' फूल की बोली,' त्रि०सं०, १९२५, कृ०प०का०रा०

गहमरी,[1] अमरनाथ कपूर,[2] जिनेश्वरप्रसाद मायल,[3] परमेश्वर मिश्र[4] श्रीनिवास दास[5], दशरथ ओझा,[6] सेठ गोविन्ददास,[7] उदयशंकर भट्ट[8] आदि नाटककारों के नाटकों में वीररस का उद्रेक पाया जाता है। प्रसाद के लगभग सभी नाटकों में कामना के अतिरिक्त वीररस की प्रधानता कहा जा सकती है।

वस्तुत: वीररस के उद्रेक में अतीत तथा वर्तमान के चित्रण द्वारा राष्ट्रीय जागरण पैदा करके लोगों में उत्साह का भाव भरना है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' में वीररस की निष्पत्ति पूर्णरूप से हुई है। 'ध्रुवस्वामिनी' तथा 'अजातशत्रु' एवं 'जनमेजय का नागयज्ञ' में यह रस पाया जाता है किन्तु अंगरूप में शृंगार, हास्य तथा शांत रस का भी यथास्थान प्रयोग हुआ है। प्रसाद ने भी अपने नाटकों की रचना रसनिष्पत्ति को ध्यान में रख कर नहीं की है वरन् समाज सुधार, देशप्रेम राष्ट्रीयता का भाव भरने के उद्देश्य से लिखा है रस निष्पत्ति तो स्वयमेव हो जाएगी यदि नाटक सफल है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में रस की खोज अर्थहीन है क्योंकि इनके लगभग सभी नाटक सामाजिक समस्याओं को लेकर चले हैं तथा बुद्धिवाद का सहारा ही इन नाटकों का गुण है। हरिकृष्ण प्रेमी के मध्यकालीन ऐतिहासिक नाटकों[9] में साहसपूर्ण कृत्यों, आक्रमणों में वीररस की उत्पत्ति होती है किन्तु

---

१. गोपालराम गहमरी : 'बनवीर', पुष्पसार, १९१२ ई०

२. अमरनाथ कपूर : 'गोविन्दसिंह', प्र०सं०, सन् १९२२, भा०रा०पु०का०मा०प०, प्रयाग।

३. जिनेश्वरप्रसाद मायल : 'भारत गौरव', प्र०सं०, १९२२, भा०पु०ए०, कलकत्ता

४. परमेश्वर मिश्र : 'रूपवती नाटक', प्रा०सं०, १९०६ ई०,

५. श्रीनिवासदास : 'संयोगिता स्वयंवर', सं० १९४२, सदानन्द मिश्र द्वारा प्रका०

६. दशरथ ओझा : 'चित्तौड़ की देवी', सन् १९३४, द्वि०सं०, साहित्य प्रका०मं०, दिल्ली।

७. सेठ गोविन्ददास : 'कुलीनता', द्वि०सं०, १९४८, हि०गं०र०का०, बम्बई,४

८. उदयशंकर भट्ट : 'दाहर', द्वि०सं०, सन् १९३६, पंजाब संस्कृत, पुस्तकालय, लाहौर

९. हरिकृष्ण प्रेमी : 'शिवासाधना', प्र०सं०, १९३७

रस की अपेक्षा उद्देश्य कहलाती है। उद्देश्य के अन्तर्गत इसकी विस्तृत विवेचना हुई है। राष्ट्रीय एकता साम्प्रदायिकता की एकता के द्वारा ही सम्भव है। इसका प्रयत्न प्रेमी जी ने लगभग सभी नाटकों में किया है। आगे रस की खोज व्यर्थ है।

हास्य रस—

हिन्दी नाटकों में हास्य रस के उद्रेक के लिए प्रहसनों की रचना की गई है तथा गौण रस के रूप में भी उनका उपयोग पाया जाता है। संस्कृत नाट्य साहित्य में विदूषक की योजना हास्य रस के उद्रेक के लिए ही की गई है। संस्कृत के हास्योत्पादक पात्र विदूषक का प्रवेश हिन्दी के गिने चुने नाटकों में दिखाई पड़ता है किन्तु अधिकांशत: पाश्चात्य के अनुकरण पर शिष्ट हास्य के उद्रेक का प्रयत्न नाटककारों का उद्देश्य प्रतीत होता है। सामाजिक कुरीतियों एवं समाज सुधार की ओर उनकी प्रवृत्ति झुकती जान पड़ती है, केवल पेटूपन, उपालम्भ तथा अश्लीलता ही हास्य के आलंबन नहीं रहे। परन्तु पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन भी नि:संदेह सत्य ही है कि "........... शिष्ट और परिष्कृत हास्य का जैसा सुन्दर विकास पाश्चात्य साहित्य में हुआ है वैसा अपने यहां कभी नहीं दिखाई दे रहा है।"[१]

भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार स्वयं या दूसरे के आकार, वाणी तथा वेष में विकार देखकर हास की उत्पत्ति होती है। इस हास का स्थायी भाव का परिपोष हास्यरस कहलाता है। निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि तथा मूर्च्छा व्यभिचारी भाव है तथा हास स्थायी भाव के सहचर है। रस वाले अध्याय में इसका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है अत: दोहराना निरर्थक है। अंग्रेजी साहित्य में

---

१. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', संशोधित संस्क०, सं० २००२, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ५०७

हास्य की उत्पत्ति के लिए लोभ, गर्व, मदभाव, प्रतिहिंसा से सम्बन्धित विषय चयन करके श्रेष्ठ प्रहसनों की रचना की गई है।

हास्यरस रस प्रधान होकर हिन्दी के प्रहसनों में अवतरित हुआ है। हिन्दी प्रहसन के सर्वप्रथम रचयिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। " वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" में हास्य तथा व्यंग्य के समन्वय से मौलिक हास परिहास का पूर्ण रूप से उद्रेक पाया जाता है। वक्रोक्ति और वाक्छल, जिसे अंग्रेजी में "आइरनी" तथा "विट" नाम दिया गया है, का सुन्दर प्रयोग तीखा व्यंग्य उपस्थित करने के लिए किया गया है।

" जिसका काम "जैसा" जैसा काम वैसा परिणाम " प्रहसन में नाटककार का उद्देश्य हास्योत्पादन करना स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है। इसका विषय मदिरापान के विनाशकारी प्रभाव से संबंधित है। समाज की विषम परिस्थिति को चित्रित करके व्यंग्य उपस्थित किया गया है जिस पर हम हँसें। पाश्चात्य सैटायर के अनुरूप वस्तुस्थिति को विकृत करके उससे हास्य उत्पन्न हुआ है। नायन तथा मालती ने मिलकर इस हास्य के उत्पन्न करने में सहयोग किया है तथा मोहिनी और राधावल्लभ ने रसिकको कभी धोती, कभी पानी, कभी पेड़ा मंगवाकर अत्यधिक मूर्ख बनाया है जिसमें राधावल्लभ ने स्वयं मोहिनी की धोती पहनकर स्त्री रूप धारण कर लिया है। यह दृश्य हास्य के उद्रेक के लिए पूर्णतया अनुकूल है। नायन ने नकली मूंछ लगाकर पुरुष वेष धारण किया है। नायन आलंबन का कार्य कर रही है तथा उस समय की परिस्थितियाँ जिसमें रसिक का खिड़की से झांकना तथा अनेक प्रकार के क्रोध दिखाना, मुंह बनाना आदि उद्दीपन का कार्य करते हैं। इसमें स्थायीभाव हास है। शंका संचारी में नायन कहती है —" इसका मरद की नाई चल सकत ?" दूसरे स्थान पर यह कहती है —" हमका मड़ी भय लागत बाय और देही छूटत बाय।"[1] इसमें शंका और हर्ष संचारी है तथा रसिक के कमरे में प्रवेश करने पर कोने में जा छिपना क्रीड़ा, संचारी के अंतर्गत आता है। हर्ष संचारी का

---

1. बालकृष्ण भट्ट :- "जिसका काम या जैसा काम वैसा परिणाम," सं० १९८५, हिन्दी संस्करण।

हास्यपूर्ण उक्तियां भरी पड़ी हैं। कठोर व्यंग्य (सैटायर) के द्वारा सामान्य राज्य व्यवस्था से विषमता दिखाकर हास्य की सृष्टि की गई है। इसमें भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार हास्योद्रेक न होकर पाश्चात्य व्यंग्य और वाक्छल के आधार पर हुआ है। कलिकौतुक रूपक[1] में वाक्छल एवं व्यंग्य तथा ग्रामीण बोली द्वारा हास्य उत्पन्न किया गया है। 'बूढ़े मुंह मुंहासे'[2] में भी व्यंग्य और वाक्छल का प्रयोग अच्छी तरह हुआ है। 'तन मन धन गुसाईं जी के अर्पन'[3] में गुसाईं लोगों का पाखण्ड, उनकी चरित्रहीनता तथा उनके ढोंग की धज्जियां उड़ाना इसका उद्देश्य है तथा इन्हीं को प्रकाशित कर हास्य उत्पादन के दुष्परिणामों को दिखाकर श्लिष्ट शब्दों अथवा बेढंगे नामों द्वारा हास्योद्रेक किया गया है। बद्रीनाथ भट्ट का विवाह विज्ञापन नामक प्रहसन में एक सेठ का विज्ञापन निकाल कर एक पुरुष से विवाह करा दिया जाता है जब यह बात प्रकाशित होती है तो हास्य की स्थिति उत्पन्न होती है। उपरोक्त नाटकों में हास्य रस की सृष्टि नहीं हुई बल्कि व्यंग्य तथा वक्रोक्ति एवं वाक्छल आदि के द्वारा हास्य का उद्रेक हुआ है। भाषा के द्वारा हास्य की उत्पत्ति नाटककारों का उल्लेखनीय साधन है। रस की सृष्टि के लिए 'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगात् रस निष्पत्तिः' का सिद्धान्त पालन आवश्यक है।

बी०पी० श्रीवास्तव के 'उलटफेर' में वकीलों, मुकदमे बाजों, दलालों को आलंबन बनाया गया है तथा कथोपकथन के द्वारा हास्य की उत्पत्ति की गई है। इनके 'साहित्य का सपूत' में साहित्यिक पति तथा यथार्थ के दुनियादारी धरातल पर रहने वाली पत्नी की असंगति हास्य का विषय बना है। 'पत्र पत्रिका सम्मेलन' (१९२७ ई०) में साहित्यिक कुरीतियों का प्रदर्शन कर भाषा शैली, वादविवाद तथा प्रतीक पात्रों के माध्यम से हास्योत्पादक बनाया गया है।

---

१. प्रतापनारायण मिश्र : 'कलिकौतुक रूपक', प्र०सं०, १८८६ ई०
२. राधाचरण गोस्वामी : 'बूढ़े मुंह मुंहासे', प्र०सं०, १८८७ ई०
३. राधाचरण गोस्वामी : 'तनमनधन गोसाईं जी के अर्पन', प्र० सं०, १८९०

प्रसाद के `स्कन्दगुप्त` में मुद्गल विदूषक बना है तथा हास्य उत्पन्न करने का कार्य करता है। लड्डू, पेट पर ही उसका ध्यान अधिक है किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि नाटककारों का उद्देश्य रस निष्पत्ति कराना है अथवा नहीं ? इसका उत्तर नकारात्मक ही हो सकता है। शिष्ट हास्य एवं व्यंग्य का सृजन प्रसाद ने `विशाख` के `महापिंगल` अजातशत्रु के `वासंतक` ने भी किया है। मुद्गल, महापिंगल, वासन्तक ने शिष्ट हास्य की उत्पत्ति की है। इनमें संयत व्यंग्य जीवक तथा वासंतक के वार्तालाप में देखसकते है —

वासंतक— महाराज ने एक दरिद्र कन्या से विवाह कर लिया।
जीवक — तुम्हारे ऐसे चाटुकार और भाट लगा देंगे, दो चार और जुटा देंगे।
वासंतक— श्वसुर ने दो ब्याह किये तो दामाद ने तीन।[1]

`स्कंदगुप्त` का मुद्गल केवल हास्य जनक बातें ही नहीं करता है वरन् राजनीति संबंधी बातों में स्कंदगुप्त का सहायक है। उसको केवल विदूषक रूप में ही न देखकर बुद्धिमानीपूर्ण विदूषक पन से युक्त देखते हैं। व्यंग्ययुक्त मुद्गल की वाणी सुनिए —" मुद्गल — और मनुष्य पशु नहीं है, क्योंकि उसे बातें बनाना आता है — अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढ़ाना आता है। और आत्मवाद की फाँस उसके पास है। अपनी और आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा विज्ञ मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।[2]

करुण रस—

आलोच्य हिन्दी नाटकों में `सत्यहरिश्चन्द्र` करुण रस की अनुभूति कराता है। प्रथम अंक में ही राजा, रानी के स्वप्न से अवसाद का वातावरण छा जाता है और अंत तक उसका प्रभाव बना रहता है। रौद्र तथा वीभत्स रसों का उद्रेक भी हुआ है। विश्वामित्र की क्रोधपूर्ण मुद्रा भयोत्पादक है। श्मशान

---

१. जयशंकर प्रसाद : "अजातशत्रु", पृ० [illegible]
२. जयशंकर प्रसाद : "स्कंदगुप्त" बारहवाँ संस्करण, सं० २०१३ वि०, भारती भंडार, इलाहाबाद, पृ० [illegible]

भूमि पर पिशाच तथा वैतालों का नृत्य और वहां का वातावरण वीभत्स दृश्य दिखाते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' देखकर वास्तव में सामाजिकों को खूब रोना पड़ा है किन्तु नाटककार ने उसी सीमा तक करुण रस का संचार आवश्यक समझा है जिस सीमा तक वह दर्शकों में क्षोभ उत्पन्न करे किंचित शोक उत्पन्न कर सके । फिर भी इतना तो कहना अनिवार्य सा हो जाता है कि शैव्या से नाटककार ने बहुत विलाप कराया है तथा सामाजिकों को रोने का अवसर प्रदान किया है।

राधाचरण गोस्वामी के अमर सिंह राठौर (१८६५ ई०) में अंशरूप में करुण रस आया है। 'वीर ज्योति'[1] अंगी रसवीर है किन्तु सभी वीर रस के नाटकों में करुण रस अंग रूप में प्रयुक्त हुआ है। गोपाल राम गहमरी का 'बनवीर'[2] नाटक करुण रस का उत्पादक है। नाटक के आरम्भ में ही बनवीर नन्हे मुन्ने उदय को तलवार लिए काट डालने को आती है किन्तु पन्ना धाय के अपने उसी अवस्था के बच्चे चंदन को उदय के स्थान पर सुलाकर उदय की रक्षा करती है किन्तु नन्हें निर्दोष चंदन की हत्या से बढ़कर करुणोत्पादक दृश्य अन्य तो नहीं हो सकता है। उधर उदय के बड़े भाई विक्रम को भी बनवीर मार डालता है। चन्दन की मृत्यु से सामाजिकों के मन में शोक स्थायी भाव आ जाता है जो पन्ना अपने बच्चे की बलि देकर अपने स्वामी के बच्चे की रक्षा करती है उसके मनोभावों की कल्पना करके किसको करुणा नहीं जगेगी। पन्ना प्रलाप नहीं करती है किन्तु उच्छ्वास यहां अनुभाव है। दैन्य, थोड़ी देर के लिए जड़ता, विषाद आदि व्यभिचारी भाव पाये जाते हैं। इस प्रकार यहां करुण रस की पुष्टि होती है।

शान्त रस—

'प्रबुद्ध यामुन'[3] में वैराग्यपूर्ण उक्तियां भरी हैं। सामाजिक संबंधों अर्थात् मां, बाप, पति पत्नी सम्बन्ध से वैराग्य की ओर यामुन को उन्मुख दिखाया

---

१. लोकनाथ सिलाकारी : 'वीर ज्योति,' सन् १९२५, श्री उ०का०सा०
२. गोपालराम गहमरी : 'बनवीर नाटक', प्रथमबार, १९१३,
३. वियोगी हरि : 'प्रबुद्ध यामुन', प्रथमावृत्ति, सं० १९८६, गं०पु०मा०, का०ल०

गया है । सुख, दु:ख, राग, द्वेष, सुख, चिन्ता सभी से परे है किन्तु अन्य ऐसे नाटक नहीं दिखाई पड़े जिसमें इस रस की पूर्णत: निष्पत्ति हुई है क्योंकि आज नाटक उद्देश्य परक ही होते हैं जो दर्शकों के मर्म को भकभोर कर उद्बुद्ध करते हैं ।

निष्कर्ष —

वस्तुत: अभिनय देखने से दर्शकों में तन्मयता, एकाग्रता के आधार पर ही रस का आविर्भाव मानना चाहिए । रसों की योजना में भारतेन्दु युग (१८५० – १९००) के नाटकों में वीर, शृंगार, करुणा, हास्य रसों का आस्वादन विशेष रूप से किया गया है । रस आस्वाद होता ही है किन्तु इस युग के नाटकों में समाज सुधार, स्वदेश प्रेम, हिन्दी सेवा तथा जन जागरण का उद्देश्य प्रमुख जान पड़ता है । प्रभावान्विति के लिए लिखे गए नाटकों में तदनुरूप भाव का परिपुष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है तथा ऐसी स्थिति में रसोद्रेक भी आश्चर्य का कारण नहीं है रस की दृष्टि से देखें तो रसोद्रेक दिखाई देता है किन्तु उद्देश्य की दृष्टि से देखें तो प्रभावान्विति अधिक शक्तिशाली दिखाई पड़ता है ।

प्रसाद युग के नाटकों में मुख्यत: एक ही नाटक में भिन्न भिन्न रसों का उद्रेक हुआ है । 'स्कन्दगुप्त' , 'चन्द्रगुप्त' आदि उनके ऐसे ही नाटक हैं किन्तु इनका भी उद्देश्य पक्ष प्रबल है क्योंकि शृंगार , हास्य , वीर, करुणा आदि कई रसों का एक साथ मिश्रण हो गया है । इस विभिन्नता के कारण रस पक्ष दुर्बल और उद्देश्य पक्ष एकता के कारण अत्यधिक मार्मिक रूप से दर्शक को स्पर्श करने , भकभोरने में सफल हुआ है । उद्देश्य प्रधान है और रस गौण ।

हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में प्राय: वीररस की प्रधानता है किन्तु उनका भी उद्देश्य पक्ष अधिक प्रबल है । प्रेमी जी ने अपने नाटकों की भूमिकाओं में नाटक रचना का उद्देश्य उल्लिखित किया है हिन्दू-मुस्लिम एकता का पाठ पढ़ाना उनका मूल उद्देश्य है । अंग्रेजों के अधीन रहते हुए भारत माता छटपटा रही थी । हिन्दू-मुस्लिम को एक सूत्र में बाँध कर उनसे विरुद्ध सम्मिलित संघर्ष करना था । प्रेमी जी ने अपने नाटक साहित्य द्वारा राष्ट्र को प्रेरणा देने का कार्य किया ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में रस की खोज कोई अर्थहीन नहीं रखता है क्योंकि आपके नाटक स्वच्छन्दतावादी धारा के समस्या नाटक हैं। समस्या नाटकों में रस उनकी जटिलता, उलझनों में ही लय हो जाता है। सेठ गोविन्ददास के नाटक भी सामाजिक, राष्ट्रीयसमस्याओं को लेकर ही लिखे गए हैं। गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, तथा अन्य आधुनिक हिन्दी नाट्यकारों के नाटकों में भी समाज, सुधार , राष्ट्रीय जागरण का मूल भाव ही प्रधान दिखाई पड़ता है।

अध्याय – १२

कार्यपालन

अध्याय – १२

कथोपकथन

भारतीय नाट्यशास्त्र में वस्तु के अन्तर्गत ही तीन भेद — श्राव्य, अश्राव्य, नियतश्राव्य नाम देकर किया गया है। इसे प्राचीन आचार्यों ने कथोपकथन या दृश्य वस्तु दोनों ही कहा है। नाटक के तीन तत्व वस्तु, नेता और रस ही माने गए हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है कि हमारे आचार्यों ने संवाद को विस्मृत के गर्त में डाल दिया हो। लगता तो ऐसा है कि लगभग सभी आचार्यों ने इसकी पूर्ण व्याख्या की है परन्तु वस्तु तत्त्व के अन्तर्गत ही। नाटक में कुछ अंश ऐसा होता है जो सबके सुनने लायक होता है जिसे श्राव्य कहा गया है परन्तु कुछ अंश ऐसा भी होता है जो किसी किसी को या सबको सुनाने के योग्य नहीं होता कुछ परिमित व्यक्ति ही सुन सकते हैं इसे नियत श्राव्य की श्रेणी में रखा गया है और कुछ अंश किसी भी पात्र के सुनने लायक नहीं होता इसे अश्राव्य कहा गया है। सर्वश्राव्य कथोपकथन को प्रकाश कहा गया है और अश्राव्य को स्वगत कथन।[1]

शैक्सपियर के नाटक इसके अच्छे उदाहरण हैं । इन नाटकों में संवाद आलंकारिक तथा लम्बे पाये जाते हैं । धीरे धीरे शा, इब्सन आदि ने गद्य की स्वाभाविक शैली अप-नाई ।

प्राचीन पाश्चात्य नाट्यशास्त्री अरस्तू ने ट्रेजेडी के छः अंग बताये हैं कथानक, चरित्र चित्रण, पद रचना, विचार तत्त्व , दृश्य विधान और गीत । इनमें कथोपकथन का कहीं नाम नहीं आया है । विचार तत्त्व के सम्बन्ध में अरस्तू ने कहा है कि इसके अन्तर्गत ऐसा प्रत्येक प्रभाव आ जाता है जो वाणी द्वारा उत्पन्न होता हो । इसके उपविभाग हैं — प्रमाण और प्रतिवाद , करुणा, त्रास, क्रोध आदि भावों की उद्बुद्धि , अतिमूल्यन और अवमूल्यन[1] । संभवत: कथोपकथन को इसी विचार तत्त्व के अन्तर्गत समाहित करने वाला कार्य अरस्तू ने किया है । यहाँ अरस्तू का अभिप्राय पात्रों के विचारों से है । जिस प्रकार प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र में संवाद का अलग विवेचन नहीं हुआ है, वस्तु तत्त्व के अन्तर्गत ही इसको रख लिया गया है । पाश्चात्य प्राचीन नाट्यशास्त्र में भी विचार तत्त्व के अन्तर्गत ही कथोपकथन को समाविष्ट कर लिया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि जितना महत्त्व आधुनिक युग में संवाद को दिया गया है उसका न्यूनतम अंश में संवाद को दिया गया है फिर भी दोनों ने इसे अनिवार्य तो माना ही है ।

अर्वाचीन पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में नाटक के छः तत्त्व विद्वानों ने माने हैं — कथावस्तु, चरित्रचित्रण कथोपकथन, शैली, देशकाल और उद्देश्य आज-कल कथोपकथन को नाटक का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है क्योंकि कथावस्तु का विकास , पात्रों के चरित्र का परिचय, वाद प्रतिवाद आदि के लिए इसी का सहारा लेना पड़ता है । कथोपकथन के अभाव में नाटक के अधिकांश कार्य सम्भव नहीं हो सकते । रोनाल्ड पीकाक ने अपनी पुस्तक में कहा है कि 'कथन या भाषण कार्य व्यापार कथावस्तु, घटनाओं का इंजन है । कथन पात्रों के सम्बन्धियों और उनकी भावनाओं के विकास एवं परिवर्तनशीलता की लगातार गति को प्रकट करने की

---

१. डॉ० नगेन्द्र : 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', भारती भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्क०, सं० २०१४, पृ० ११, अनुवाद अंश है ।

सक्रिय भाषा है । बाह्य कार्य व्यापार तथा उद्देश्य दोनों को भाषा या कथन स्पष्ट बनाता है ।[१] श्री बेकर महोदय की इस सम्बन्ध में धारणा है कि `यद्यपि यह पूर्णतः आवश्यक है कि कथोपकथन जो घटनाएं घटित होती हैं या पात्र कौन हैं, उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है आदि का वास्तविक चित्रण उपस्थित करता है, परन्तु यह अधिक अच्छा कथोपकथन होगा जब इनके साथ ही यह अनुभव हो कि मात्र चरित्र-चित्रण के साथ ही यह व्यस्त है ।`[२]

कथोपकथन और चरित्र-चित्रण—

मि० बेकर का उपरोक्त कथन इस बात का सूचक है कि वह अच्छे नाटकों में केवल चरित्र-चित्रण के लिए ही कथोपकथन का विस्तार करने के पक्ष में हैं । हरमन माउल्ड भी कथोपकथन को चरित्र की अभिव्यक्ति का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन स्वीकार करते हैं तथा इस बात पर बल देते हैं कि एक दूसरे का स्वतंत्र प्रयोग हास्यास्पद है ।[३] कभी कभी ऐसा पाया जाता है कि नाटककार

---

१. रोनाल्ड पीकाक :`दि आर्ट आफ ड्रामा` पुनर्मु०, १९५७ , रूटलेज एण्ड केगन-पाल, लन्दन, पृ० १६८

Though it is absolutely necessary that dialogue give the facts as to what happens, who the people are, their relations to one another etc. it is better dialogue if, while doing all this, it seems to be busied only with characterization.

२. जी०पी०बेकर, :`ड्रैमेटिक टैक्नीक`, १९१९ , पृ० ३३८

" Dialogue being by far the most important factor in the expression of character, it would be absurd to treat one independently of the other."

३. हरमन माउल्ड : `दि आर्ट आफ दि प्ले`, १९३८, पृ० ७५

अपनी भावनाओं को प्रकट करने में बहुत लीन हो जाता है और चरित्र चित्रण को विस्मृत कर देता है । उपरोक्त नाटककारों ने इस सम्बन्ध में सावधानी बरतने की राय दी है।नाटकीय संवाद रंगमंच की अवस्था को ध्यान में रखते हुए कुशलता-पूर्ण सम्पादित मानव कथन ही तो है जिसमें पात्रों के द्वारा सामान्य परिस्थितियों की अपेक्षा घटनाएं शीघ्रता से प्रस्तुत की जाती है और संभवत: स्वयं में आनन्द-दायक सार्थक वाक्यांशों के द्वारा की जाती है । [१] यहां बेकर महोदय का यह तात्पर्य है कि हम लोग अपने प्रतिदिन के सम्भाषणा में अथवा बोलने में अपनी बातों को बराबर बड़े मनोरंजक रीति से, विशिष्ट ढंग से या संक्षिप्त रूप में ही नहीं बोलते हैं किन्तु कम समय में कई घटनाएं एवं पात्रों के चरित्र का विकास आदि नाटक में दिखाना पड़ता है और इसके लिए संवाद का सहयोग अत्यधिक है अत: कथोपकथन में रंगमंच के अनुसार कम समय में अधिक बातों का कथन दर्शकों को रुचिकर बनाने के लिए मनोरंजक ढंग से सार्थक वाक्यांशों के द्वारा कथावस्तु, चरित्र आदि पर प्रकाश डालने का कार्य किया जाता है । यद्यपि आजकल कथो-पकथन की स्थिति की अपेक्षा स्वाभाविकता पर विशेष ध्यान रखा जा रहा है । फिर भी नाटकीय कथोपकथन सामान्य की अपेक्षा नि:संदेह विशिष्ट अवश्य होगा । इसके लिए नाटककार को कथोपकथन का चुनाव करना पड़ता है । ऐसा नहीं है कि सामान्य जीवन की सामान्य बातों को कथोपकथन के अन्तर्गत रखकर सफलता प्राप्त की जा सकती है । रोनाल्ड पीकाक महोदय ने कहा है कि नाटक के विशेष पात्र का निर्धारण कथन के प्रकार से किया जाता है, कार्य व्यापार या कथावस्तु तो सदैव ही होता है किन्तु प्रमुख रूप से इसको कथोपकथन द्वारा

---

१. "Dramatic dialogue is human speech so wisely edited for use under the conditions of the stage that far more quickly than under ordinary circumstances the events are presented, in character, and perhaps in phrasing delightful of itself."